वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली

★

क्रम संख्या ६७५
काल नं० २४ विजय
खण्ड

[illegible]

[illegible]

[illegible]

SHRI YASHOVIJAYJI
JAIN GRANTHMALA OFFICE
HARRIS ROAD,
BHAVNAGAR

भोपालनिवासी

धर्मरत्न, शासनप्रेमी स्वर्गीय

श्रीमान् सेठ गोबीदासजी कासटिया

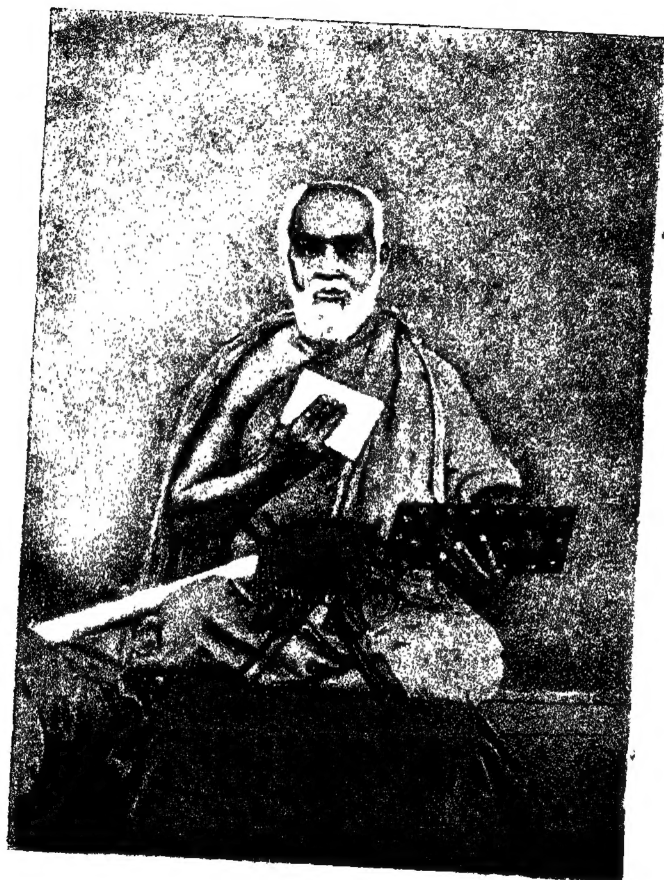
के स्मरणार्थ,

उनके पुत्ररत्न

श्रीमान् सेठ अमीचंदजी कासटिया

की तरफसे भेट.

बड़ोदा
श्री लुहाणामित्र स्टिम प्रिन्टिंग प्रेस में
ठक्कर अंबालाल विठ्ठलभाईने प्रकाशक के
लिए छापा. ता. १५-४-३०.



जगत्पूज्य, शास्त्रविशारद-जैनाचार्य
स्व० श्रीविजयधर्मसूरि.

ग्रंथकार और ग्रंथ का परिचय।

जैन जाति के उद्धार के लिये जिन्होंने आजीवन अविश्रान्त श्रम किया, काशी जैसे क्षेत्रमें एक बड़ी पाठशाला स्थापन कर अनेक संस्कृत–प्राकृत के विद्वान् तय्यार किये, मगध और बंगाल जैसे मांसाहार प्रधान देशों में पैदल भ्रमण कर हजारों मांसाहारियों को शुद्धाहारी बनाये, पाश्चात्य विद्वानों को सैकडों अलभ्य पुस्तकें दे कर, एवं उनके प्रश्नों के समाधान कर, यूरप अमरिका में भी जैनसाहित्य का प्रचार किया, काशीनरेश, दरभंगानरेश, उदयपुर महाराणा और ऐसे अन्यान्य राजा–महाराजाओं से मिल कर, उनको जैनधर्म की श्रेष्ठता और जैनधर्म के सिद्धान्त समझाये, आबू के जैनमंदिरों में अंगरेज लोग बूट पहन कर जाते थे, उस भयंकर आशातना को बन्द करवाया, गुजरात, काठियावाड, मारवाड, मेवाड, मालवा आदि प्रान्तों में पैदल भ्रमण कर जैनों में से अज्ञानजन्य रूढियों दूर कराई, जिन्हों ने एनेक पाठशालाएं, बोर्डिंग, बालाश्रम, पुस्तकालय, स्वयंसेवक मंडल आदि लोकोपकारी संस्थाएं स्थापन कराई, कलकत्ता युनिवर्सिटी के कलकत्ता संस्कृत एसोसीएशन की प्रथमा, मध्यमा और तीर्थ तक की परीक्षाओं में जैनन्याय और

व्याकरण के ग्रंथ दाखल कराये; जिनको कलकत्ता की एसियाटिक सोसाइटी ऑफ बेंगालने एशुसीएट मेम्बर, जर्मनी की ओरियन्टल सोसाइटीने ओनररी मेम्बर, एवं इटाली की एशीयाटिक सोसाइटीने ओनररी मेम्बर का सम्मानपद दिया था, जिन्होंने सच्चरित्रवाले, त्याग की भावनावाले स्वदेशप्रेमी समाजसेवक विद्वान् तय्यार करने के लिये श्रीवीरतत्त्व प्रकाशक मंडल नामक बड़ी भारी संस्था खोली, (जो आज यह संस्था शिवपुरी–ग्वालियर में पूर्व और पश्चिम के विद्वानों के लिये भी एक विद्या का धाम बन गई है) और जिनका महत्त्व पूर्ण चरित्र गुजराती, हिन्दी, मराठी, बंगाली, संस्कृत आदि भारतीय भाषाओं के उपरान्त अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, इटालीयन आदि पाश्चात्य भाषाओं में भी तत तत् देश के विद्वानोंने लिख कर प्रकाशित कराये हैं, एसे स्वनाम धन्य स्वर्गस्थ शास्त्रविशारद–जैनाचार्य श्रीविजयधर्मसूरिजी इस ग्रंथ के निर्माता हैं।

सामाजिक, धार्मिक एवं देशोद्धारक कार्यों में रातदिन लगे रहने पर भी आपने करीब दो डझन पुस्तकें महत्त्वपूर्ण लिखीं हैं। जो कि हमारी ही ग्रंथमाला की तरफ से प्रकाशित हुई हैं। ग्रंथकार महात्माश्री की पुस्तको में कितना महत्त्व है, वे जनता के लिये कितनी उपयोगी हैं, इसका अनुमान तो इस पर से ही हो सकता है कि–उन पुस्तकों की दो दो–चार चार–पांच आवृत्तियाँ अभी तक निकल चुकी हैं।

उन ग्रन्थरत्नों में एक यह भी (धर्मदेशना) ग्रंथ है। यह ग्रंथ मूल गुजराती में लिखा गया था। गुजराती में इसकी चार आवृत्तियाँ निकल चुकी हैं, हिन्दी में इसका अनुवाद अभी तक नहीं हुआ था। आज हम यह हिन्दी अनुवाद हमारे हिन्दी भाषाभाषी भाइयों के करकमल में रखने के लिये सद्भागी होते हैं। इसका हिन्दी अनुवाद हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक कृष्णलालजी वर्माने किया है। एतदर्थ हम उनके आभारी हैं।

इस ग्रंथ के कर्त्ता स्वर्गस्थ महात्माजी के उपदेश में एक खास विशेषता थी। वह यह कि–यद्यपि श्रीविजयधर्मसूरीश्वरजी महाराज जैनाचार्य थे, परन्तु उनका उपदेश इस प्रकार सर्व साधारण के लिये ऐसा रोचक और उपयोगी होता था, कि–जिससे ब्राह्मण, जैन, क्षत्रिय, मुसलमान, पारसी, युरोपीयन, याहूदी–यावत् समस्त लोग मुग्ध होते थे। उसी उपदेश का इस पुस्तक में संग्रह है। ऐसा कह सकते हैं। सूरीश्वरजी जगत् के मनुष्यों को उपदेश देने में, जैसे वार्त्तमाणिक स्थिति का संपूर्ण ख्याल रखते थे, उसी प्रकार इस पुस्तक की रचना में भी रक्खा है।

इस ग्रंथ की हम क्या प्रशंसा करें ?। हाथ कंगन को आयने की जरूरत नहीं रहती। ग्रंथ स्वयं ही सामने उपस्थित है। ग्रंथकारने श्रुति, युक्ति, और अनुभूतिपूर्ण प्रत्येक बात

लिखि है। नीति और सदाचार क्या चीज है? इसका उत्तम प्रकार से स्पष्टीकरण किया है। ग्रंथ की उपयोगिता में और भी वृद्धि इसलिये हुई है कि-ग्रंथकर्त्ताने प्रत्येक विषय के अनुकूल उस उस विषय को पुष्ट करनेवाले सुभाषित और रसिक दृष्टान्त भी दिये हैं। इसलिये सामान्य वर्ग के लिये जैसे यह ग्रंथ उपयोगी है, वैसे ही उपदेशकों के लिये भी अत्यन्त उपयोगी है।

संक्षेप से कहा जाय तो, यह ग्रंथ मनुष्य मात्र के लिये, फिर वह किसी भी धर्म का, किसी भी समाज का किंवा किसी भी पंथ का अनुयायी क्यों न हो, सभी को उपयोगी है। इसलिये हमारी इस श्रद्धा-मन्तव्य के अनुसार सब लोग इसका लाभ उठावें, और आत्मा को उच्च स्थिति में लानेवाले गुणों को प्राप्त करें, यही अन्तिम अभिलाषा है।

इस ग्रंथ की एक हजार नकलें छपवाने में भाई भंवरमलजी लोढा (विद्यार्थी, श्रीवीरतत्त्व प्रकाशक मंडल—शिवपुरी) की प्रेरणा से भोपाल निवासी श्रीमान् सेठ अमीचंदजी कासटियाजीने जो सहायता की है, इसके लिये हम प्रेरक व सहायक का इस स्थान पर आभार मानते हैं।

श्रीयशोविजय जैन ग्रंथमाला
भावनगर.
फाल्गुन शु. १९, २४५६, धर्म सं. ८ } प्रकाशक.

अनुक्रमणिका ।

प्रकरण पहला ।

(१ से १६६)

विषय	पृष्ठ
१ उपक्रम	१
१ नय का स्वरूप	७
२ निक्षेप का स्वरूप	९
३ प्रमाण का स्वरूप	१०
४ सप्तभंगी का स्वरूप	१५
५ स्याद्वाद का स्वरूप	१७
६ देशना के भेद	२१
७ तीर्थंकरों का संक्षिप्त चरित्र	२३
२ देशना का स्वरूप	२६
१ प्रभु की देशना	४७
२ क्रोध का स्वरूप	४९
३ क्रोध के जीतने के साधन	५७
४ मान का स्वरूप	६८
५ मानका जय करने का उपाय	७१
६ बाहुबली का दृष्टान्त	८६
७ माया का स्वरूप	९९
८ मायाको जीतनेके उपाय	१२२
९ लोभ का स्वरूप	१३३
१० कपिल केवलीका दृष्टान्त	१४८
११ लोभ का जय करने का उपाय	१५९

प्रकरण दूसरा ।

(१६७ से ३५६)

विषय	पृष्ठ
१ उपक्रम	१६७
२ विविध बोध	१७१
१ वैराग्य	१७१
२ कर्मका प्राधान्य	१७५

३ सम्यग्ज्ञानकी आवश्यकता १८१
४ तप-विधान १८८
५ नंदनऋषि का दृष्टान्त १९१
६ अनुकूल उपसर्ग १९८
७ धर्म में दृढ़ता २०५
८ पंडित कौन होता है? २११
९ मुनियों की महिमा २१६
१० मदादि का त्याग २२०
११ सच्चा धर्मात्मा कौन हो सकता है ? २२९
१२ खास साधुओंकोउपदेश २३४
१ मूर्च्छा का त्याग २३४
२ एकाकी रहना २३८
३ जिनकल्पी साधुओं का आचार २४२
४ स्त्री आदिके संसर्ग का त्याग २४४
५ वचनशुद्धि २६१
६ अज्ञानजन्यप्रवृत्ति २६४
१३ विशुद्ध मार्ग सेवन २७२
१ विषयत्याग २७२
२ निष्कपटभाव २७९
३ अगोचर स्त्री चरित्र २८९
४ क्रिया की जरुरत ३००
५ विषय-इच्छा का त्याग ३०३
६ नास्तिक के वचन ३०९
७ नास्तिक के वचनों का निराकरण ३१४
८ जीव, कर्म अकेला ही भोगता है। ३२८
१४ दशावतार का वर्णन ३४४
१ प्रथम अवतार ३४४
२ दूसरा और तीसरा अवतार ३४५
३ चौथा अवतार ३४५
४ पांचवाँ अवतार ३४६
५ छठा अवतार ३४७
६ सातवाँ अवतार ३४८
७ आठवाँ और नवाँ अवतार ३४८
८ दशवाँ अवतार ३४८

प्रकरण तीसरा।

(३५७ से ४९४)

१ उपक्रम	३५७
२ मोह प्रपञ्च	३५९
१ मोह के भिन्नभिन्न स्वरूप	३५९
३ वैराग्य वृद्धि के कारण	३६५
१ मानसिक बलादि	३६५
२ कषाय का त्याग	३६९
३ मोहादि का त्याग	३७३
४ शरीर की दुर्जनता	३८३
५ संसार की स्वार्थपरता	३८७
४ मानवजन्म की दुर्लभता	४०३
१ दश दृष्टान्त	४०५
२ शरीर की सार्थकता	४१५
३ अस्थिरता	४१९
४ अपवित्रता	४२५
५ एकत्व भावना	४३१
५ दुःखमय संसार	४३५
१ नरकगति के दुःख	४३७
२ तिर्यंचगति के दुःख	४४३
३ मनुष्यगति के दुःख	४५२
४ देवगति के दुःख	४६१
६ आस्रव विचार	४६४
१ बंध-हेतु	४६५
६ व्रत की श्रेष्ठता	४८६

चतुर्थ प्रकरण

(४९५ से ५५०)

१ मार्गानुसारी के गुण	४९५
१ प्रथमगुण	४९७
२ दूसरा गुण	५०६
३ तीसरा गुण	५०७
४ चौथा गुण	५१०
५ पांचवाँ गुण	५११

६	छठा गुण	१११
७	सातवाँ गुण	११२
८	आठवाँ गुण	११३
९	नवाँ गुण	११७
१०	दशवाँ गुण	११७
११	ग्यारहवाँ गुण	११८
१२	बारहवाँ गुण	११८
१३	तेरहवां गुण	१२०
१४	चौदहवाँ गुण	१२१
१५	पन्द्रहवाँ गुण	१२३
१६	सोलहवाँ गुण	१२४
१७	सत्रहवाँ गुण	१२७
१८	अठारहवाँ गुण	१२९
१९	उन्नीसवाँ गुण	१३४
२०	बीसवाँ गुण	१३६
२१	इक्कीसवाँ गुण	१३७
२२	बाइसवाँ गुण	१३७
२३	तेइसवाँ गुण	१४०
२४	चौबीसवाँ गुण	१४०
२५	पचीसवाँ गुण	१४१
२६	छब्बीसवाँ गुण	१४१
२७	सत्ताइसवाँ गुण	१४२
२८	अठ्ठाइसवाँ गुण	१४३
२९	उन्तीसवाँ गुण	१४४
३०	तीसवाँ गुण	१४४
३१	इकत्तीसवाँ गुण	१४५
३२	बत्तीसवाँ गुण	१४६
३३	तेतीसवाँ गुण	१४६
३४	चौतीसवाँ गुण	१४७
३५	पैंतीसवाँ गुण	१४८



॥ अर्हं ॥

श्रीमान् शेठ गोड़ीदासजी।

जिनकी पुण्यस्मृति में यह अपूर्व ग्रंथ प्रकाशित किया जाता है, वे गृहस्थ होते हुए साधुवृत्तिवाले थे। व्यवहारकुशल होते हुए निश्चय में खूब श्रद्धालु थे। सांसारिक कार्यों को करते हुए भी उदासीनवृत्तिवाले थे। कालेज- हाईस्कूल वगैरह की आधुनिक अंग्रेजी के विद्वान् नहीं होते हुए भी बड़े बड़े ग्रेज्यूएटों को भी ज्ञानचर्चा में परास्त करनेवाले थे। सेठ गोड़ीदासजी क्रियाकांड में खूब माननेवाले—आचरण करनेवाले होते हुए भी ज्ञान के सच्चे उपासक, उपासक ही नहीं, प्रचारक भी थे। स्थिति के गर्भ-श्रीमंत—सुख की आधुनिक सामग्रियों से सम्पन्न रहते हुए भी त्याग और वैराग्य से वे ओतप्रोत रहते थे। संक्षेपसे कहा जाय तो, सेठ गोड़ीदासजी, याने धर्म की मूर्त्ति; सेठ गोड़ीदासजी, याने एक परोपकारी गृहस्थ; सेठ गोड़ीदासजी, याने जैन समाज का एक रत्न; और सेठ गोड़ीदासजी, याने गृहस्थों का एक सच्चा आदर्श।

आज भोपाल का नाक, सेठ गोड़ीदासजी, इस संसार में नहीं हैं, परन्तु उनकी धर्मशीलता, उनकी परोपकारिता, उनके

जीवन की खास खास विशेषताएं जगत् के सामने विद्यमान है। उनका जीवन, न केवल किसी एक अवस्था के मनुष्यों के लिये परन्तु स्थितिचुस्त किंवा सुधारक, व्यवहारिक किंवा धार्मिक–सभी प्रकार के मनुष्यों के लिये उपयोगी है, इसलिये मैं यहाँ उनके जीवन का 'संक्षिप्त परिचय' कराता हुं।

जन्म परिचय।

सेठ गोडीदासजी का जन्म भोपाल में सं. १९११ मार्गशीर्ष कृष्णा २ को हुआ था। आपके पिताका नाम सेठ ऋषभदासजी था। सेठ ऋषभदासजी असल मेडता (मारवाड) के रहनेवाले थे। मेडता में आज भी इनका विशाल भवन विद्यमान है। आप ओसवाल ज्ञातीय कांसटिया गोत्रके थे।

माता–पिता के संस्कार और शिक्षा।

सेठ गोडीदासजी आजीवन पर्यन्त नीति और धर्म में बराबर दृढ रहे, और जैसा कि पूर्व परिचय में कहा गया है, आप धर्ममूर्त्ति रहे, इसका सर्वाधिक श्रेय यदि किसीको है, तो उनकी माताको है। इनकी बाल्यावस्था में ही पिताजी का तो स्वर्गवास हो गया था। परन्तु, चूंकि माता धर्ममूर्त्ति थी, देवी थी, इसलिये उसने अपने प्यारे बच्चे को देव, सद्गुणी, सुसंस्कारी बनाने में कोई उठा नहीं रक्खी। देव-गुरु-धर्म परकी पूर्ण श्रद्धा, धार्मिक क्रियाओं की तरफ अभि-

रुचि, एवं विनय, विवेक, गंभीरता एवं व्यवहार कुशलता का सच्चा ज्ञान आपको मातासे ही प्राप्त हुआ। इसके उपरान्त श्रीमान् मुनिराजश्री रत्नविजयजी तथा आष्टानिवासी यतिजी श्री धनविजयजी से आपने धार्मिक अभ्यास भी किया था। न केवल रट करके ही आपने धार्मिक अभ्यास बढाया, बल्कि–बड़े बड़े मुनिराजों के व्याख्यान श्रवण एवं धर्मचर्चाएं करके भी आपने अपने ज्ञान को बढ़ाया।

सेठ गोडीदासजी के एक साथी और थे, जिनका नाम था सेठ रतनलालजी तातेड। सेठ रतनलालजी भी आप ही की तरह ज्ञान–क्रिया की अभिरुचिवाले और सच्चरित्रवान् उच्च कोटी के गृहस्थ थे। दोनों की धर्मचर्चाए खूब होती थीं, और इन दोनों के ही डाले हुए धार्मिक संस्कार भोपाल के जैनों में आज भी किसी अंश में पाये जाते हैं।

आप के साथी।

आज कल बहुत से लोग कहा करते हैं कि क्या करें, व्यापार रोजगार, घर सम्हालना, बालबच्चों की रक्षा करना, इनमें से हमें फुर्सद ही नहीं मिलती कि–जिससे धर्म क्रियाएं करें। केवल अपनी निर्बलता को छुपाने के लिये ऐसा झूंठा बचाव करनेवालों को सेठ गोडीदासजी की दिनचर्या मूंहतोड जवाब देती है। सेठ गोडीदासजी की दिनचर्या इस प्रकार की थी:

दिनचर्या।

प्रातःकाल ४–४॥ बजे उठना, शौचादि से निवृत्त हो कर सामायिक व प्रतिक्रमण करना। पश्चात् जैन बालक–बालिकाओं को धार्मिक अभ्यास कराना। पंच प्रतिक्रमण ही नहीं, जीवविचार, नवतत्त्व, दंडक, संग्रहणी तक का भी आप अभ्यास कराते थे। (एक गर्भ श्रीमंत होते हुए खुद शिक्षक हो करके बैठना, और बिरादरी के बच्चों को अपने छोटे भाई किंवा पुत्र समझ कर अध्ययन कराना, यह कितनी महत्त्व की बात है) पश्चात् मंदिर में जाकर एक अथवा दो सामायिक करना और स्वाध्याय करना। साधु मुनिराजों का जोग हो तो व्याख्यान श्रवण करना। अन्यथा, जो भाई नित्य सामायिक करने को आते, उनको शास्त्रीय बातें सुनाते। पश्चात् विधिपूर्वक स्नान करके प्रभु पूजा करते। द्रव्य–भाव से पूजा करने में आपको करीब १॥ घंटा लगता। करीब १ बजे भोजन करके आप दुकान पर जाते। और नीतिपूर्वक व्यापार करते। दुपहरके समय में कुछ समय आप वर्त्तमान पत्र भी पढ़ते। वर्त्तमान पत्रों को पढ कर सामाजिक वर्त्तमान परिस्थितियों के अभ्यास करने का भी आप को पूरा शौक था। प्रायः कोई ऐसा जैनपत्र नहीं होगा, जो आप न मंगवाते हों। ५ बजे भोजन करने के पश्चात् आप नित्यप्रति देवसी प्रतिक्रमण करते। फिर मंदिर में जाकर प्रभु–भक्ति में–भजनों को गाने में तल्लीन हो जाते। पश्चात् जो स्नेही आपके पास बैठने को आते उनके साथ ज्ञानचर्चा करते। फिर शयन करते।

आप प्रतिदिन १४ नियम चितारते। रात्रि को चौविहार करते। प्रातःकाल कमसे कम पोरसी, साढ पोरसी का पचक्खाण करते। प्रभुपूजा किये विना भोजन नहीं करते। बारह तिथियों को कमसे कम एकाशन-बियाशन, एवं अष्टमी चतुर्दशी को आयंबिल-उपवासादि की तपस्या करते। चातुर्मास में गरम जल पीते और विशेष प्रकार से तपस्यादि धर्मक्रियाएं करते।

प्रतिदिन इस प्रकार की धार्मिक क्रियाएं और धार्मिक वृत्तियों के साथ व्यवहार का पालन करते हुए सेठ गोडीदासजीने लाखों पैदा किये, और हजारों धर्मकार्योंमें खर्चे। सच्ची बात यह है कि-जो मनुष्य सच्ची श्रद्धापूर्वक, धार्मिक जीवन रखते हुए व्यवहार को सम्हालता है, उस को मिलता ही है। सुख का सच्चा कारण तो संतोष है। न कि दुनियाभर की हाय हाय – लोभवृत्ति!

सेठ गोडीदासजी को खास एक नियम था, वह यह कि–
प्रतिवर्ष एक तीर्थयात्रा अवश्य करना।

तीर्थयात्राएं।

इस नियम को आप बराबर पालन करते रहे। और इसी नियमसे आपने सम्मेतशिखर, बड़ी पंचतीर्थी, सिद्धाचल, विठुरा में गोडी पार्श्वनाथ की यात्रा, काठियावाड की पंचतीर्थी, सिद्धाचलजी की नवाणु यात्रा, केशरियाजी, अंतरीक्ष पार्श्वनाथ, मांडवतीर्थ, मक्सीजी वगैरह

तीर्थों की यात्राएं की थीं। सिद्धाचलजी, सम्मेतशिखरजी, पावा-पुरी, राजगृही, आदि कई तीर्थों की यात्राएं तो आपने कई दफे कीं। आप जिस किसी भी तीर्थमें जाते थे, बराबर विधिपूर्वक और शान्ति के साथ यात्रा करते थे।

सेठ गोडीदासजीने अपने जीवन में और भी अनेक शुभ कार्य किये। उदाहरणार्थ—सं. १९५८ में आपने बड़ी धूमधाम के साथ **पंचमी तप का उद्यापन** किया था; और अच्छा द्रव्य व्यय कर के जैनधर्म की प्रभावना की थी। इस उद्यापन में एक बात की खास विशेषता थी, और वह यह कि—इस शुभ प्रसंग पर आपने जो स्वामिवात्सल्य-प्रीति भोजन किया था, उस में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रखते हुए श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों को निमंत्रित किया था। आप की उदारता, आप के ऐक्य-प्रेम का यह खासा उदाहरण है।

शुभकार्य।

सं० १९७५ में आपने चतुर्थ व्रत (ब्रह्मचर्य व्रत) अङ्गी-कार किया था, जिस की खुशीमें अपनी सारी बिरादरी में प्रतिघर एक एक रुपया और एक एक श्रीफल बांटा था।

सं० १९७९ में मुनिराज श्री विवेकसागरजी के उपदेशसे, एक उपाश्रय, जो कि—मंदिरजी की लागतसे बना था, उस की लागत के २२०१) रु. देकर श्रीसंघ को अर्पण किया।

सं० १९८० में बारह व्रत स्वीकार किये, तथा मुनि श्री दुर्लभविजयजी के उपदेश से अठाई महोत्सव, शांति स्नात्र, व स्वामीवात्सल्य किया।

सं० १९८१ के माघ शुदि १ के दिन आप की धर्मपत्नी, श्रीमती मिश्रीबाई का, जो कि—बडी ही धर्मात्मा, और आप के धर्मकार्य में हमेशा सहयोग देती थी, स्वर्गवास हुआ। उनके निमित्त आपने ५०००) रुपये शुभकार्य में लगाने के निश्चित किये। इस रकम को आपने इस प्रकार शासन प्रभावना में लगाया:

साध्वीजी महाराज श्री विमलश्रीजी आदि १० ठानों का भोपाल पधारना हुआ। उस समय उज्जैननिवासी पारख फतेचंदजी की पुत्री बाई पानकुंवरने भोपाल में दीक्षा ली। इस दीक्षा के निमित्त आपने इस प्रकार कार्य किये:

१ अठाई महोत्सव, मंदिर में रोशनी वगैरह.

२ बाहरगांवसे आनेवाले महमानों का एवं गांव के स्वामिभाईयों का स्वामिवात्सल्य।

३ तीर्थक्षेत्रों व जीवदया वगैरह फण्ड में सहायता दी।

४ भोपाल के मंदिर में २४५ रु. की लागत का एक त्रिगड़ा बनवा कर भेट दिया।

९ २९१) रु. साधारण खाते में देकर उपाश्रय के पास एक बरामदा करवा दिया ।

इस प्रकार उपर्युक्त रकम की व्यवस्था कर दी । इस के उपरान्त भोपाल के मंदिर में ७००) रु. की लागत का चांदी का कल्पवृक्ष, बंदरवाल, आदि अर्पण किये । तथा मंदिर की वर्षगांठ के दिन पूजा–आंगी के निमित्त ३०१) रु. भंडार में जमा कराये । इसी प्रकार १०१) रुपये महावीर जयन्ति के दिन प्रतिवर्ष पूजा–आंगी होती रहे, इस के लिये दिये ।

इस प्रकार आपने अपने जीवन में छोटे बडे अनेकों शुभ कार्य किये, जिन सब का उल्लेख, इस संक्षिप्त जीवन परिचय में, कराना अशक्य सा है ।

जाहिरजीवन ।

सेठ गोडीदासजी, यद्यपि धार्मिकतासे ओतप्रोत थे, तथापि आप जाहिर जीवन में भी कुछ कमभाग नहीं लेते थे । बिरादरी के बालकों को प्रतिदिन पढ़ाना, संघ के कार्यों में तन–मन–धनसे अग्रगण्य रहना, नात–जात के कार्यों में एक सुयोग्य नेता के कार्य को करना, इतना ही नहीं, परन्तु आप की धार्मिकता, न्यायशीलता एवं प्रामाणिकता के कारण भोपाल की समस्त आम जनता में इतने प्रतिष्ठित माने जाते थे कि–किसी भी सम्प्रदाय किंवा धर्मवाले आप की सलाह लिया करते थे,

और आप के फैसले को सर्वथा न्याययुक्त समझते थे। आप श्री मक्सी तीर्थक्षेत्र कमिटी के समासद थे, और भोपाल की जैन श्वेताम्बर पाठशाला की प्रबंधकारिणी कमिटि के प्रेसीडेंट थे। प्रेसिडेंट क्या थे, पाठशाला के सर्वस्व थे। आप वयोवृद्ध, ज्ञान–क्रिया में कुशल और अपनी धार्मिक प्रवृत्तियों में रातदिन प्रवृत्त रहते हुए, एक जुवान की तरह हरएक कार्य में स्फूर्ति रखते थे और आजकल की पद्धति के अनुसार होनेवाली समा सुसाइटीयों में भी अक्सर भाग लिया करते थे और अपने विचारों को जाहिर करते थे।

नियमपर दृढता ।

किसी विद्वान् का कथन है कि नियमों की कसौटी कष्ट में होती है। व्रत–नियमों का यों तो सब कोई पालन कर सकते हैं, परन्तु कष्टों के समय–आपत्ति के समय उन नियमों में दृढ रहना, यही सच्चा पुरुषार्थ है। यही सच्ची श्रद्धा का नाप है। आप अपने नियमों पर–व्रतों पर–धार्मिक क्रियाओं पर कितनी श्रद्धा और दृढता रखते थे, यह उस समय विशेष रूपसे मालूम होता था, जब कि–आप कभी कभी रोगग्रस्त होते थे। आप के बायें हाथ व पैर में राशे की बीमारी करीब तीन वर्षसे हो गई थी, जिस के कारण आप के शरीर में पूर्ण तकलीफ थी, हाथ हर समय धूजता ही रहता था। इतनी वेदना होते हुए भी आप अपनी रोज की क्रिया को, व्रत नियमादि-

को पूर्ण दृढता के साथ करते ही रहते थे। आप करीब तीन सालसे बीसस्थानक तपकी ओली एकासने से करते थे। बारहवीं ओली चलती थी। ऐसी बीमारी में भी यह तपस्या बराबर करते ही रहे थे।

अन्त समय की दृढता।

आपकी श्रद्धा और मन की दृढता का सच्चा परिचय तो आपकी अन्तिम अवस्था में हुआ। सं. १९८६ के वैशाख वदि अमावास्या ०)) की रात्रि को कुछ बदहजमी की तकलीफ मालुम हुई। उस तकलीफ को एक मामूली तकलीफ समझकर इसकी कोई विशेष रूपसे चिकित्सा नहीं की। वैशाख सुदि ३ को आपकी तरफसे जो सालाना बड़ी पूजा होती थी उस पूजा में भी पधारे, पधारे ही नहीं, परन्तु इतनी तकलीफ में भी सुंदर राग-रागिनीयों से खुदने पूजा पढाई। और अन्त में अक्षयतृतीया का स्तवन भी गायन मंडली के बालकों के साथ भक्तिपूर्वक गाया। रात्रि को भावना में भी पधारे, करीब दस बजे मंदिर से घर पर गये, और १२ बजे दस्त की तकलीफ हुई। यह तकलीफ पंचमी तक बराबर रही, परन्तु मन की दृढता के साथ आप अपने नित्य कर्मों को बराबर करते रहे। शुक्ल पंचमी का एकासणा आप वर्षों से करते आये थे। आजकी पंचमी आपके जीवन की अंतिम पंचमी थी। शारीरिक वेदना असाधारण थी। डाक्टर और हकीम लोग तपस्या नहीं करनेका

और दवाई देने का आग्रह कर रहे थे, परन्तु आप एकके दो न हुए। आपने कहा:

" भाई, मरण यह तो प्रकृति है। जन्म लिया है जबसे मरनेका तो निर्माण हो चुका है। और मुझे एक दफे मरना है। उस अवश्यंभावी मृत्यु के लिये मैं क्यों अपना व्रतभंग करूं? और व्रतभंग करने से मैं बचही जाऊंगा, यह भी निश्चय रूपसे कौन कह सकता है?। इसलिये मैं तो अपने नियम में दृढ रहूंगा।"

साथ ही साथ आपने यह भी हिदायत दी कि–" यदि मैं असावधानी में आजाऊं, तो भी मुझे कुछ देना नहीं।"

व्रत पालन की दृढता इससे अधिक क्या हो सकती है? अन्तिम श्वास की धोंकनी चलते हुए भी सेठ गोडीदासजीने अपना व्रत भंग न हो इसके लिये कितनी सावधानी रक्खी। धन्य है ऐसे महानुभावों को, जो इस जड़वाद के जमाने में भी आखिर समय पर्यन्त ' धर्म ' ही मेरा जन्मसिद्ध हक और ' जीवनमंत्र ' है, ऐसा मानते और आचरते हैं।

तारा खिरा!

वही पंचमी की रात्रि थी। ऐसी बीमारी में भी सायंकाल का प्रतिक्रमण सावधानी के साथ किया। पश्चात् लगे पंचपरमेष्ठि का ध्यान करने। रात्रि के बारह बजे थे। पंचमी का चंद्र अस्त हो चुका था। रात्रि कालरात्रि सी दिख रही थी। सबको

कहते हैः " आप लोग सब आराम कीजिये—सो जाइये।" बस, इतना कहकर आप प्रभु के ध्यान में मग्न हो गये। तीन बजने के समय विधिपूर्वक आपने संथारा किया। और एकाग्रचित्त से प्रभु के ध्यान में लग गये। बस साढ़ेतीन बजते बजते जैनसमाज का एक धर्मी पुरुष, भोपाल का अग्रगण्य नायक—संसार के पदार्थों परसे निर्मोही होकर, ७० वर्ष की आयु पूर्ण कर इस संसार से चल बसा। तारा खिर पड़ा। जाते जाते भी अपने पुत्ररत्न सेठ अमीचंदजी एवं अन्यान्य सम्बन्धियों को कहते हैं: " ध्यान रखना, मेरी अविद्यमानता में बालकों का धार्मिक अभ्यास बंद न हो जाय। धार्मिक अभ्यास का सिलसिला कायम रखना। "

दश हजार का दान.

' पिता वै जायते पुत्रः ' इस प्राचीन उक्ति को, सेठ गोडीदासजी के पुत्ररत्न श्रीमान् सेठ अमीचंदजी साहब बराबर चरितार्थ कर रहे हैं। सेठ गोड़ीदासजी की बीमारी जिस वख्त बढ़ी, उसी समय सेठ अमीचंदजीने पिताजी की अनुमति लेली कि—" मैं १०००० रुपये शुभ कार्य में व्यय करुंगा। " सेठ गोड़ीदासजीने प्रसन्नता पूर्वक इस शुभ संकल्प का अनुमोदन किया। धन्य है ऐसे पिता को और धन्य है ऐसे पुत्र को।

सेठ गोडीदासजी जैसे धर्मात्मा, व्यवहार कुशल, दानवीर एवं सद्गुणी महानुभाव के जीवन संबंध में

उपसंहार.

जितना लिखा जाय, उतना कम है। परन्तु इस संक्षिप्त परिचय में कितना लिखा जा सकता है। इस संक्षिप्त परिचय में भी पाठक समझ सकते हैं कि इस पंचम काल में, जड़वाद के जमाने में, बीसवी शताब्दि के जहरीले वातावरण में भी, एक गर्भ श्रीमंत–मौज–शोख और सांसारिक प्रलोभनों की संपूर्ण सामग्रियों के रहते हुए भी, अपने जीवन को धार्मिक भावनाओं और धार्मिक क्रियाकांडों से ओतप्रोत बनाने और रखनेवाले महानुभाव होते हैं।

सच्ची बात है भी यह कि–मनुष्य को अपना जीवन ऐसा बनाना चाहिये जिससे दूसरों को आदर्श रूप हो। ऐसा पवित्र जीवन रखनेवाले मनुष्यने ही इस संसार में आ करके कुछ कमाया है। और ऐसा पवित्र जीवन बनाने के लिये ऐसे पवित्र पुरुषों के जीवनों को पढ़ना और अपना आदर्श बनाना चाहिए। इसके लिये किसी कवि की निम्नलिखित पंक्तियों पर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर, सेठ गोडीदासजी के संक्षिप्त जीवन परिचय को यहाँ ही समाप्त करता हूं:

जीवनचरित्र महापुरुषों के,
हमें नसीहत करते हैं:

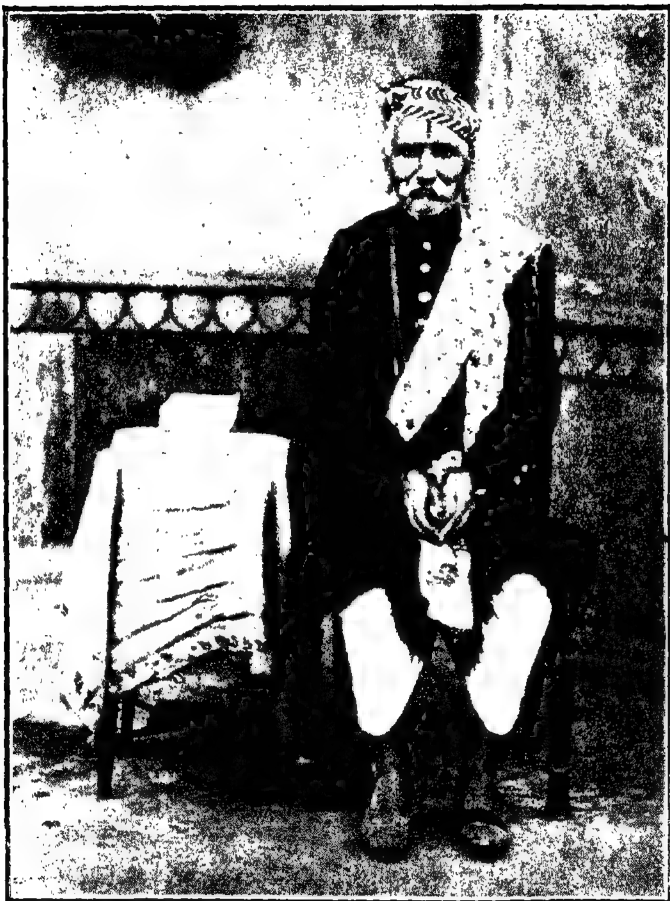
"हम भी अपना अपना जीवन
स्वच्छ—रम्य कर सकते हैं ॥

हमें चाहिए—हम भी अपने
बना जाँय पद—चिह्न—ललाम
इस जमीन की रेती पर, जो
वक्त पड़े आवें कुछ काम ॥

देख देख जिनको उत्साहित
हों, पुनि वे मानव प्रति घर,
जिनकी नष्ट हुई हो नौका,
चट्टानों से टकरा कर ॥

लाख लाख संकट सह कर भी,
फिर भी हिम्मत बांधे वे,
जा कर मार्ग मार्ग पर यारो,
अपना कारज साधें वे ॥"

भोपाल,
ता. ९-३-३०
—जाफरमल लोढा.



धर्मप्रेमी स्व० शेठ गोडीदासजी कासटीया

भोपाल.

उत्सर्ग ।



पूजनीय पिताजी,

" ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः " इस सिद्धान्त को मद्देनजर रख कर, आपने सारे जीवन में इन दोनों की आराधना की और जीवन को हीन केवल पवित्र बनाया, किन्तु हम जैसे अज्ञानियों एवं क्रियाकांड में अकुशल जीवों को धार्मिक संस्कार वालेभी बनाये। आपकी इस असाधारण उपकारिता का ऋण हम किस प्रकार चुका सकते हैं ! । तथापि, स्वर्गीय जगत्पूज्य शास्त्रविशारद-जैनाचार्य श्रीविजयधर्मसुरि महाराज का बनाया हुआ यह अत्युपकारी ग्रंथ, आपही की स्मृति में छपवाकर, आपकी स्वर्गीय आत्मा के सम्मुख पुष्परूप उत्सर्ग करता हूं । स्वीकारिये, और कृतार्थ कीजिये ।

आपका,
आपके वियोग से दुःखी
अमीचंद.



ॐ

धर्म-देशना ।



प्रातःकाल का समय समस्त जीवों के लिए सुखदायी होता है। चाहे वे योगी हों या भोगी; रोगी हों या नीरोगी।

जिस प्रातःकाल में समस्त वनस्पतियाँ जल बिन्दुओं से तृप्त हो जाती हैं; जिस में मंद मंद पवन की शीतल लहरें चलती हैं; भक्तजनों का—देवपूजा को मंदिर जाने के लिए, या गुरुवंदना को जानेके लिए होता हुआ कोलाहल सुनाई देता है; जिसमें पक्षीगण मधुर स्वर में आनंदगीत गाते हैं; जिसमें विद्यार्थीगण सरस्वती महादेवी की आराधना में लगते हैं; जिसमें महामुनिजन आत्मकल्याण के लिए शुभ क्रियाओं की श्रेणीरूप वेणी में गुँथ जाते हैं; जिसमें सूर्य की मंद किरणें पृथ्वी पर पड कर, उसको कबूतरों के पद्‌राग तुल्य—पैरों के रंगसी—बना देती हैं; जिसमें अन्धकार दिशा विदिशाओं का परित्याग कर, भाग जाता है; जिसमें चोर, जार और राक्षस आदि निशाचरों का विचरण बंद हो जाता है; जिसमें व्यापारी लोग बेचने खरीदने वाले की

प्रतीक्षा करने लगते हैं; जिस में माल से भरे हुए घोड़े, गाड़ियाँ, ऊँट, बैल आदि मंडी की ओर जाने लगते हैं; जिसमें राजा, महाराजा आदि समृद्धिवान मनुष्यों के सामने सुखोत्पादक—सुखदायक—गीतों का गाना होने लगता है; जिसमें पंडित लोग शीघ्रता के साथ संस्कृत पाठशालाओं की ओर जाने लगते हैं; जिसमें वन, शहर और उद्यान—सर्वत्र शान्ति छा जाती है; जिसमें नदी, सरोवर आदि का जल स्वच्छ होता है; और जिसमें पथिक—मुसाफिर अपने घर की ओर जाने की तैयारी करते हैं। उसी प्रातःकाल के समय में तीर्थंकर भगवान—श्री अर्हंतदेव, देव-रचित समवसरण में अशोक वृक्ष के नीचे बैठ कर, देशना—धर्मोपदेश—देते हैं। वह देशना सामान्यतया एक पहर तक दी जाती है। यह देशना सात नय, चार निक्षेप, दो प्रमाण, सप्तभंगी और स्याद्वाद शैलीयुक्त होती है। बुद्धि के आठ गुण पूर्वक गणधर उस देशना को ग्रहण करते हैं। फिर वे ग्रहीत—ग्रहण किये हुए—अर्थ के अनुसार द्वादशांगीकी रचना करते हैं।

यह द्वादशांगी अर्थ की अपेक्षा से '**नित्य**' है। क्योंकि समस्त तीर्थंकर महाराज—यद्यपि देशनाएँ भिन्न भिन्न देते हैं, तथापि उन सब का अर्थ समान ही होता है। और शब्द रचना की अपेक्षा से यह '**अनित्य**' है।

चौवीसों तीर्थंकर महाराज के गणधर—

" उपज्जेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा " ।

(उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य) इस त्रिपदी को प्राप्त करके द्वादशांगी की रचना करते हैं । तो भी उस में यह खास खूबी होती है कि भिन्न २ गणधरों की बनाई हुई द्वादशांगी का अर्थ समान ही होता है । यदि चाहें तो मोटे रूप से द्वादशांगी के अंदर आये हुए शब्दों को स्वयंभूरमण समुद्र की उपमा दे सकते हैं; परन्तु समुद्र परिमित है और उनका अर्थ अनंत है । इस लिए उपमा ठीक ठीक नहीं होती । इसी लिए वे अनुपमेय हैं । अर्थात् उनको किसी की उपमा नहीं दी जा सकती है । कहा है कि—

" एगस्स सुत्तस्स अणंतो अत्थो " ।

(एक सूत्र के अनंत अर्थ होते हैं ।) ऐसे संख्या बंध सूत्र हैं । इसलिए उनके अर्थों को अनंत कहने में कोई बाधा नहीं दिखती।

पूर्वोक्त वाक्य के लिए एक अल्पबुद्धि मनुष्य ने उपहास करते हुए समयसुंदर उपाध्यायजी से कहा:—" साहिब ! ठंडी साया में बैठकर खूब गप्प लगाई है " ।

इसी बात को लेकर कुशाग्रबुद्धि उपाध्यायजी महाराज ने एक वाक्य के आठ लाख अर्थ करके बताये थे । वह ग्रंथ, जिसमें वे अर्थ संकलित किये गये हैं—अब भी विद्यमान है ।

उसका नाम है 'अष्टलक्षी'। संवत १७४९ में लाहोर में उन्होंने यह ग्रंथ बनाया था।

आठ लाख अर्थ सुनकर, उपहास करने वाला पुरुष उपाध्याय महाराज के चरणकमल में जा गिरा, और अपने अपराध की क्षमा माँग, बोला:—"सर्वज्ञों का ज्ञान, अल्पज्ञ पामरों के हृदयों में आश्चर्य उत्पन्न करता है; परन्तु तत्त्वज्ञों के हृदयों में कुछ भी आश्चर्य पैदा नहीं करता"।

कविवर श्रीमानसागर ने भी शतार्थी बनाई है। इसी भाँति श्रीउदयधर्मगणिने वि. सं. १६०६ में शतार्थी बनाई है। जिसमें उपदेशमाला की केवल एक गाथा के सौ अर्थ किये गये हैं। जब ऐसे अनेक दृष्टान्त और ग्रंथ छद्मस्थ व्यक्तियों के देखे जाते हैं तब सर्वज्ञों के—तीर्थंकरों के—वाक्यों के यदि अनंत अर्थ होते हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? काल के प्रभाव से प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता और साथ ही ज्ञान भी कम होता जा रहा है। इसलिए—आज यह भी कल्पना नहीं की जा सकती कि, इस प्रकार अवशेष ज्ञान को ग्रहण करने का किसी में सामर्थ्य है।

जिस समय तीर्थंकर महाराज ने देशना दी, उस समय उस देशना को ग्रहण करने वाले खास गणधर महाराज मौजूद थे। मगर वे भी उसका अनंतगुणहीन धारण कर सके थे। जब

गणधरों की भी यह बात है, तब मेरे समान अत्यंत पामर जीवों का देशना का स्वरूप लिखने की हिम्मत करना—एक प्रकार के साहस के विना और क्या कहा जा सकता है ?

ऐसा होने पर भी मनोत्साह के आधीन होकर—हार्दिक प्रेरणा के वश में होकर—स्थूलरीत्या देशना का स्वरूप लिखने में प्रवृत्त होता हूँ। इसके अंदर प्रमाद से, मतिभ्रम से, या अज्ञान के प्रभाव से, यदि कोई दोष रह जायगा तो उसे सज्जन वाचक शुद्ध करके पढेंगे। उसके लिए यदि मुझे मित्र भाव से सूचना भी देंगे तो मैं उस भूल को सानंद सुधार लूँगा।

कहना आवश्यक है कि, यद्यपि परोपकारी, निष्कारण बंधु, जगद्गुरु श्रीजिनराज भगवान की देशना समस्त जीवों के लिए हितकर्ता है। तथापि उसके लिए पात्रापात्र का विचार करना भी आवश्यक है।

उदाहरण के तौर पर हम रसायण पदार्थ को उपस्थित करेंगे। रसायण पदार्थों में मनुष्य को पुष्ट बनाने का गुण होता है। तो भी रसायण उसी मनुष्य को खिलाई जाती है कि, जिसका कोठा साफ होता है। यदि किसी अन्य को खिलादी जाती है, तो वही रसायण पदार्थ हानिकर हो जाता है।

इसी भाँति भगवान की देशना भी उसी व्यक्ति को लाभ पहुँचाती है; वही मनुष्य उससे लाभ उठाता है; जो समान भाव

रखने वाला है; जिसके मन में किसी प्रकार का आग्रह नहीं है; और जिसकी बुद्धि वस्तु के वास्तविक धर्म की पहिचान करने के लिए लालायित रहती है ।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि–भगवानकी देशना जब मात्र गुणी या पात्र को ही लाभ पहुंचाती है–हितकर होती है; निर्गुणी या अपात्र को नहीं। तब हम क्यों न कहें कि, उस में इतनी न्यूनता है । क्यों कि योग्य पर उपकार करने में कुछ विशेषता नहीं है; विशेषता उसी समय हो सकती है जब वह अयोग्य पर भी उपकार करे और उसी समय हम उसको पूर्ण भी कह सकते हैं ।

उत्तर सीधा है। सूर्य की किरणों का स्वभाव सारे जगत को प्रकाशित करता है; परन्तु उन से उल्लू–घू घू–को प्रकाश नहीं मिलता; उल्टे वह तो सूर्य की किरणों से अंधा बन जाता है। मगर इसमें सूर्य का क्या दोष है ! दुग्ध के समान जल से भरे हुए क्षीर समुद्र में फूटा घड़ा डालने से वह नहीं भरता है, तो इस में समुद्र का क्या दोष है? वसंत ऋतु में सारी वनस्पतियों में नवीन फूल पत्ते आते हैं; परन्तु करीर वृक्ष में पत्ते नहीं आते हैं; और जवासा सूख जाता है; तो इस में वसंत ऋतु का क्या दोष है ? कुछ नहीं। दोष है उन पदार्थों के दुर्भाग्य का। इसी प्रकार भगवान की देशना सब तरह से सामर्थ्य वाली है; मगर भव्येतर

जीवों का स्वभाव कठोर होने से उन्हें कुछ लाभ नहीं होता है तो इस से देशना में कुछ न्यूनता नहीं कही जा सकती ।

और उदाहरण लो। शक्कर का स्वभाव श्रेष्ठ गुण करना है; परन्तु गधे को उस से लाभ नहीं होता । गन्ना-ईख मीठा होता है; परन्तु ऊँट के लिए वह विष तुल्य होता है । घृत आयुवर्द्धक होता है; परन्तु ज्वर वाले मनुष्य के लिए वह घातक होता है । इसी भाँति तीर्थंकर महाराज की देशना मिथ्यात्व-वासित मनुष्य को नहीं रुचती है । इससे देशना दूषित नहीं हो सकती । दूषित है स्वयं सुनने वाला ।

इतना उपक्रम करने के पश्चात् अब हम अपने प्रतिज्ञात-प्रकृत विषय की मीमांसा की ओर झुकेंगे ।

प्रारंभ में यह कह चुका हूँ कि यह देशना, नय, निक्षेप, प्रमाण, सप्तभंगी और स्याद्वाद से परिपूर्ण है । इस लिए पहिले उनका समझाना आवश्यकीय समझ, संक्षेप में नयादि का स्वरूप बताया जाता है ।

नय का स्वरूप ।

जिसके द्वारा, श्रुतनामा प्रमाण से विषयीभूत बने हुए अर्थ (पदार्थ) के एक अंश (धर्म) का-अन्य अंशों का निषेध किये विना-ज्ञान होता है, उसको-वक्ता के उस अभिप्राय विशेष को ' नय ' कहते हैं ।

इस के दो भेद हैं। (१) **द्रव्यार्थिक नय;** और (२) **पर्यायार्थिक नय** ।

१ द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं। (१) **नैगम नय;** (२) **संग्रह नय** (३) और **व्यवहार नय**।

२ पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं। (१) **ऋजुसूत्र नय** (२) **शब्द नय** (३) **समभिरूढ नय** और (४) **एवंभूत नय**। इन सातों नयों का स्वरूप यहां न देकर मेरे '**जैन तत्त्व दिग्दर्शन**' में से देख लेने की सूचना करता हूँ।

नयचक्र में सात नयों के सात सौ भेद बताये गये हैं। **सम्मतितर्क** में लिखा है कि,–**जितने वचन–पथ हैं इतनेही नय हैं इसी तरह जितने वचन मार्ग हैं, दुनिया में, उतने ही मत प्रचलित हैं**। मगर इतना ध्यान में रखना चाहिए कि–केवल एक नय का कथन मिथ्या है, और सातों नयों का सम्मिलित कथन सत्य है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि–एक नय का कथन जब मिथ्या है, तब सातों नयों के सम्मिलित कथन में सम्यक्त्व–सच्चापन कैसे आ सकता है? जैसे कि बालु रेत के एक कण में तैल नहीं है, तो उस के समुदाय में भी तैल नहीं हो सकता है।

प्रश्न ठीक है; परन्तु यह हरेक जानता है, कि एक मोती-माला नहीं; मगर मोतियों का समुदाय माला है–मोतियों के

सम्मेलन से माला हो जाती है। इसी भाँति एक नय में सम्यक्त्व नहीं है; परन्तु नयों के समुदाय में है। एक मोती को कोई माला नहीं कह सकता है; यदि कोई कहे तो वह मृषावादी-झूठा समझा जाता है। इसी तरह एक नय में सम्यक्त्व नहीं है; यदि कोई धृष्ट हो कर, एक नय में सम्यक्त्व बतावे, तो वह झूठा है। इस लिए यह सिद्धान्त बना लेना कि, एक वस्तु में जो गुण नहीं होता है वह उस के समुदाय में भी नहीं होता है, भूल भरा है। पदार्थों के धर्मोंकी शक्तियाँ तो अचिन्त्य हैं।

निक्षेप का स्वरूप।

" निक्षिप्यते–स्थाप्यते वस्तुतत्त्वमनेनेति निक्षेपः "

भावार्थ—जिस के द्वारा वस्तु–तत्त्व स्थापन किया जाता है, उस को ' निक्षेप ' कहते हैं।

इस के–निक्षेप के–सामान्यतया चार भेद हैं। क्षयोपशम के प्रमाण से इस के छ, आठ, दस, बीस, जितने चाहें उतने भेद हो सकते हैं। यहाँ हम केवल चार का ही वर्णन करेंगे। चार ये हैं–(१) नाम (२) स्थापना (३) द्रव्य और (४) भाव।

एक ' जीव ' पदार्थ को छोड़कर अन्य सब पदार्थों पर ये चारों भेद घटित किये जा सकते हैं। कई आचार्य तो इनको कथंचित् जीव में भी घटित करके बता देते हैं।

हम एक घट—घड़े पर इन चारों निक्षेपों को घटित करेंगे। **नाम घट, स्थापना घट, द्रव्य घट और भाव घट।**

जड़ या चेतन किसी का घट नाम हो उस को **नाम घट** कहते हैं।

पुस्तकों पर, महलों में, मन्दिरों में या अन्यत्र किसी भी स्थान में घट की आकृति लिखी हुई हो, उस आकृति को **स्थापना घट** कहते हैं।

जिस मिट्टी से घट—घड़ा बनने वाला है उस मिट्टी को **द्रव्य घट** कहते हैं।

जल ले जाना, लाना, धारण करना आदि घट का कार्य करते समय घट का जो स्वरूप है उस को **भाव घट** कहते हैं।

इन चारों भेदों में **देश घट** और **काल घट** भी शामिल कर दें तो निक्षेप के छः भेद हो जायँ। अमुक देश में बना हुआ घड़ा, सो अमुक **देश घट** और अमुक काल में बना हुआ घड़ा सो अमुक **काल घट**।

इसी भाँति एक पदार्थ पर ये छः भेद या इनसे भी विशेष भेद कर के घटित किये जा सकते हैं।

प्रमाण का स्वरूप।

प्रमाण दो माने गये हैं। **प्रत्यक्ष** और **परोक्ष**।

प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार का है (१) **सांव्यवहारिक** प्रत्यक्ष, और (२) **पारमार्थिक** प्रत्यक्ष।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष फिर दो प्रकार का होता है। (१) **इन्द्रिय-निबंधन**, और (२) **अनिन्द्रिय-निबंधन**। इन दोनों के फिर चार चार भेद हैं।

वे ये हैं-

(१) अवग्रह (२) ईहा (३) अपाय और (४) धारणा।

१-व्यंजनावग्रह के बाद **अर्थावग्रह** होता है। जैसे-किसी भी वस्तु का यानी शब्दादि का मन और चक्षु को छोड कर अन्य-किसी भी इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष संबंध होता है, उस ज्ञान को **व्यंजनावग्रह** कहते हैं और उसके बाद अर्थावग्रह होता है। नैयायिक लोग इस ज्ञान को **निर्विकल्प ज्ञान** मानते हैं।

२-ऐसा निर्विकल्प ज्ञान होने के बाद, 'यह शब्द किसका है? कहाँसे आया है?' आदि विचार का नाम '**ईहा**' है।

३-इसके बाद यह निर्णय होता है कि यह मनुष्य का शब्द है; अमुक मनुष्य का शब्द है। ऐसे निश्चित ज्ञान को '**अपाय**' कहते हैं।

४—इस प्रकार से निश्चित ज्ञान को अमुक समय तक याद रखना उसको '**धारणा**' कहते हैं।

इस प्रकार दो तरह के सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का वर्णन करने के बाद अब पारमार्थिक प्रत्यक्ष के भेदों का वर्णन किया जायगा।

इन्द्रिय और मन की अपेक्षा विना केवल आत्माद्वारा ही जो ज्ञान होता है उसको **पारमार्थिक** प्रत्यक्ष कहते हैं।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है (१) **सकल** और (२) **विकल**।

विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—(१) **अवधि** और (२) **मनःपर्यय**।

सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष का एक ही भेद है। वह है— **केवलज्ञान**।

इस तरह उक्त दोनों तरह के प्रत्यक्ष प्रमाण के—परोक्ष की भाँति ही—दो भेद हैं—(१) **स्वार्थ** और (२) **परार्थ**।

१—आभूषणों सहित श्रीतीर्थंकर भगवान की मूर्त्ति के हमको दर्शन होते हैं यह है '**स्वार्थप्रत्यक्ष**'।

२—दूसरे को कहना कि—आभूषणों से अलंकृत यह श्री जिनराज की प्रतिमा है। और हमारे कहने से दूसरा उसका प्रत्यक्ष करता है। यह है '**परार्थप्रत्यक्ष**'।

परोक्ष प्रमाण के पांच भेद हैं—(१) स्मरण (२) प्रत्यभिज्ञान (३) तर्क (४) अनुमान और (५) आगम।

१—संस्कारों के जागृत होने से अनुभूत पदार्थ का जो ज्ञान होता है, उसको 'स्मरण' कहते हैं। जैसे यह भगवान की वही प्रतिमा है जिसको मैंने अमुक स्थल में अमुक समय देखी थी।

२—अनुभव और स्मृति रूप हेतुओं द्वारा तिर्यग्–ऊर्द्धता सामान्यादि विषयों की, प्रत्यक्ष परोक्ष मिश्रित संकलना स्वरूप जो ज्ञान होता है उसको 'प्रत्यभिज्ञान' कहते हैं। जैसे—(१) यह गो पिंड (गाय रूप पदार्थ) उसी प्रकार का है। गवय–रोझ–गाय के जैसा होता है। (२) यह वही जिनदत्त है।

३—अन्वय–व्यतिरेक से उत्पन्न होने वाला तथा तीनों काल सहित साध्य साधन का जो संबंध, वही संबंध जिस में आलंबन रूप हो ऐसा, तथा अमुक वस्तु के अस्तित्व में अमुक वस्तु हो और अमुक वस्तु के न होने पर अमुक वस्तु न हो, इस प्रकार का जो संवेदन उस को, 'ऊह' या 'तर्क' कहते हैं। जैसे जहाँ धूआँ होता है वहाँ आग अवश्यमेव होती है। आग के नहीं होने से धूआँ भी नहीं होता है। इस प्रकार के ज्ञान को 'तर्क' कहते हैं।

४—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन

अवयवों से जो ज्ञान प्रमाता–पुरुष को होता है उस को '**अनुमान**' कहते हैं।

अनुमान दो तरह का होता है–(१) **स्वार्थानुमान** और (२) **परार्थानुमान**।

(१) किसी पुरुष ने, रसोई–घर में या ऐसे ही किसी अग्नि जलने वाले स्थान में देखा है कि–जहाँ धूआँ होता है वहाँ अग्नि भी अवश्यमेव होती है। एक बार वह पुरुष कारण वश किसी पर्वत के निकट गया। उसने दूर से उस पर्वत पर धूआँ उठते देखा। उस समय उस को, रसोई–घर में धूम्र और अग्नि के साहचर्य का जो अनुभव हुआ था वह याद आ गया। इस से उस को निश्चय हुआ कि जहाँ धूम्र होता है वहाँ अग्नि अवश्यमेव होती है। क्योंकि धूम्र, अग्नि का व्याप्य है; इस लिए इस पर्वत पर अवश्य ही अग्नि है। तर्क–रसिक लोग ऐसे ज्ञान को '**स्वार्थानुमिति**' ज्ञान कहते हैं। इस स्वार्थानुमिति का जो कारण होता है उसको '**स्वार्थानुमान**' कहते हैं।

(२) परार्थानुमिति के कारण को '**परार्थानुमान**' कहते हैं। परार्थानुमिति में ऊपर बताये हुए पाँच अवयवों की अपेक्षा रहती है। क्योंकि अव्युत्पन्न–मति वाला उक्त पाँच अवयवों की सहायता के विना अनुमान नहीं कर सकता है।

कई वार तो उस को—अव्युत्पन्न—मति वाले को—दस अवयवों की भी आवश्यकता हो जाती है। और व्युत्पन्नमति तो दो अवयवों से भी अनुमान कर सकता है।

९—कहने योग्य पदार्थ को जो यथार्थ रीत्या जानते हैं, और जानते हैं उसी तरह कहते हैं, वे 'आप्त पुरुष' कहलाते हैं। ये आप्त दो प्रकार के होते हैं—(१) **लौकिक आप्त** और (२) **अलौकिक आप्त**।

(१) पितादि **लौकिक आप्त** हैं।

(२) तीर्थंकरादि **अलौकिक**—लोकोत्तर आप्त हैं।

इन दोनों में से लोकोत्तर आप्त पुरुषों के वचनों से उद्भवित जो अर्थ—ज्ञान है, उस को '**आगम**' कहते हैं। उपचार से आप्त पुरुषों के वचनों को भी हम **आगम** कह सकते हैं।

'**आगम**' का कार्य है—सप्तभंगी के वास्तविक स्वरूप को समझाना। सप्तभंगी के द्वारा **स्याद्वाद** अथवा **अनेकान्तवाद** का रहस्य समझ में आता है। इस लिए यहाँ हम पहिले सप्तभंगी का विचार करेंगे। प्रत्येक पदार्थ पर सप्तभंगी घटित हो सकता है।

सप्तभंगी का स्वरूप।

इस **सप्तभंगी** का पूर्वोक्त 'नय' और 'प्रमाण' के

साथ संबंध है । क्योंकि सप्तभंगी नय और प्रमाण रूप है ।

इतना जानने के बाद अब ' घट ' पदार्थ पर सामान्यतया सप्तभंगी का उस के अर्थ सहित विचार किया जायगा ।

१ स्यादस्त्येव घटः—कथंचित् घट है ।

२ स्यान्नास्त्येव घटः—कथंचित् घट नहीं है ।

३ स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव घटः—कथंचित् घट है, कथंचित् घट नहीं है ।

४ स्यादवक्तव्य एव घटः—कथंचित् घट अवक्तव्य है ।

५ स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्य एव घटः—कथंचित् घट है और अवक्तव्य है ।

६ स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य एव घटः—कथंचित् घट नहीं है; और अवक्तव्य है ।

७ स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य एव घटः—कथंचित् घट है, कथंचित् घट नहीं है उस रूप अवक्तव्य है ।

उक्त सात प्रकारों के सिवा कोई भी आठवाँ प्रकार नहीं हो सकता है; क्यों कि—प्रश्न केवल सात ही प्रकार के है । यद्यपि पदार्थ के धर्म अनंत हैं, इस लिए उन के आश्रय से भंग भी अनंत हैं; तथापि प्रत्येक धर्म पर तो ये सात भंग ही घट सकते हैं ।

सप्तभंगी का संपूर्ण स्वरूप तत्त्वज्ञानी जान सकते हैं । इसका विशेष स्वरूप जानने की जिन्हें इच्छा हो, उन्हें चाहिए

कि वे **रत्नाकरावतारिका** का चतुर्थ परिच्छेद; **स्याद्वादमंजरी** के तेईसवें श्लोक की व्याख्या और **सप्तभंगीतरंगिणी** नामा ग्रंथ देखें।

स्याद्वाद का स्वरूप।

प्रत्यक्ष, परोक्ष और आगम प्रमाण से जो पदार्थ सिद्ध हो चुका है, उस में परस्पर विरुद्ध धर्मों का भी सापेक्ष रीत्या समावेश है। ऐसा बोध कराने वाले सिद्धान्त को '**स्याद्वाद**' कहते हैं।

जैसे—एक ही पुरुष में अस्तित्व, नास्तित्व, पुत्रत्व, पितृत्व, स्वामित्व, सेवकत्व, भागिनेयत्व, मातुलत्व, जीवत्व, मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्व, वाच्यत्व और प्रमेयत्व आदि अनेक धर्मों का समावेश होता है।

यह बात स्वानुभव सिद्ध है। तो भी दुःख की बात है कि लोग आग्रह वश पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का इन्कार करने में कुछ भी आगा पीछा नहीं करते हैं।

यहाँ कोई वादी शंका करे कि—तुम्हारी मानी हुई स्याद्वाद प्रक्रिया में संकर, व्यतिकर, और विरोध आदि दोष स्पष्टतया दिखाई देते हैं।

इस के उत्तर में हम वादी से पूछेंगे कि—पंचावयव वाक्य में पहिले अवयव और प्रतिज्ञा होती है। उस के बाद हमेशा

हेतु की आवश्यक्ता पड़ती है; क्यों कि विना हेतु के साध्य सिद्ध नहीं होता है । मगर जो हेतु होता है वह हमेशा साध्य का साधक और साध्याभाव का बाधक होता है । इस तरह विचारने से ज्ञात होता है कि–हेतु के अंदर साधकत्व और बाधकत्व दोनों धर्म मौजूद हैं । इस भाँति एक ही हेतु में साधक और बाधक दोनों धर्मों का अनायास ही समावेश हो गया है; इस लिए तुम्हारे कथनानुसार ही तुम्हारा हेतु संकर, व्यतिकर और विरोधादि दूषणों से दूषित ठहरता है । इस प्रकार का दूषित हेतु क्या कभी साध्य का साधक होता है ?

यदि कहोगे कि–हम हेतु के अन्दर साधकत्व और बाधकत्व जो धर्म मानते हैं वे अपेक्षित हैं; तो फिर तुमने ही तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दे दिया है । जैन भी निरपेक्षित धर्म कहाँ मानते हैं ? । एक वस्तु के अन्दर सापेक्षरीत्या परस्पर विरुद्ध उभय धर्मों का मानना 'स्याद्वाद' है ।

चाहे किसी मार्ग से रवाना हों; मगर जब तक हम सत्य मार्ग को ग्रहण नहीं करते हैं–वास्तविक मार्ग पर नहीं चलते हैं तब तक हम अपने इच्छित नगर में नहीं पहुँच सकते हैं । मैं ज़ोर देकर कहूँगा कि प्रत्येक दर्शन वालों ने, प्रकारान्तर से **स्याद्वाद** सिद्धान्त को ही स्वीकार किया है । यदि उन में से कुछ का यहाँ उल्लेख किया जायगा तो वह अयोग्य नहीं होगा ।

प्रथम सांख्य मत की प्रक्रिया का विचार किया जायगा। वे सत्व, रज और तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था को प्रधान—मूल—प्रकृति मानते हैं। तो भी उस मत में प्रसाद, लाघव, उपष्टम्भ, चलन और आवरणादि भिन्न २ स्वभाव वाले अनेक धर्मों का एक ही धर्मी के अन्दर होना स्वीकार किया गया है; तब विचारना यह है कि—इस का नाम अनेकान्तवाद—स्याद्वाद नहीं है तो और क्या है ?

इसी तरह नित्यत्व, अनित्यत्व जैसे परस्पर विरोधी धर्मों का पृथ्वी में होना नैयायिकों ने स्वीकार किया है। यह भी 'स्याद्वाद' के सिवा और क्या है ?

पंचवर्णी रत्न का नाम 'मेचक' है। बौद्ध लोग अनेकाकार मेचक के ऐसे ज्ञान को एकाकार में मानते हैं। वह भी 'स्याद्वाद' ही है।

उत्तरमीमांसक लोग, 'घटमहं जानामि' (मैं घट को जानता हूँ) इस प्रकार के अनुभव से और उनके मत में ज्ञान स्वप्रकाशक होने से, एक ही ज्ञान में प्रमाता, प्रमिति तथा प्रमेय रूप विषयता को स्वीकार करते हैं। इस का नाम भी 'स्याद्वाद' के सिवा और कुछ नहीं है।

वास्तव में तो प्रत्येक मतवालोंने 'अंधभुजंग' न्यायद्वारा मूल मार्ग ही का स्वीकार किया है। अर्थात् अंधा सर्प फिर-

फिरा के अपने ही बिल पर आता है, तो भी वह समझता है कि—मैं बहुत दूर निकल गया हूँ। इसी भाँति जैनेतर मतानुयायी लोग भी स्याद्वाद की सीधी सड़क पर चलते हुए भी, अपने को एकान्त पक्ष का समझ, अनेकान्त पक्ष को बुरी दृष्टि से देखते हैं। इसका कारण यदि खोजेंगे तो मिथ्यादृष्टि के सिवा और कुछ नहीं मालूम होगा।

वादिदेवसूरि के शब्दों में कहें तो प्रत्येक स्थान में स्याद्वादशार्दूल—स्याद्वादसिंह ही विजयी बनता है। यथा—

प्रत्यक्षद्वयदीप्तनेत्रयुगलस्तर्कस्फुरत्केसरः,
शाब्दव्यात्तकरालवक्त्रकुहरः सद्धेतुगुञ्जारवः।
प्रक्रीडन्नयकानने स्मृतिनखश्रेणीशिखाभीषणः,
संज्ञावालधिबन्धुरो विजयते स्याद्वादपञ्चाननः ॥१॥

[स्याद्वादरत्नाकर—प्रथमपरिच्छेदः]

भावार्थ—सांव्यवहारिक और पारमार्थिक इन दो प्रत्यक्ष प्रमाण रूप दीप्त—तेजस्वी नेत्रों वाला; स्फुरायमान तर्क प्रमाण रूपी केशर वाला; शाब्द—आगम—प्रमाण रूप फैलाये हुए मुख वाला; श्रेष्ठ हेतु रूप गर्जना वाला; संज्ञा रूप पूँछ वाला; और स्मृति रूप नखश्रेणी के अग्रभागसे भयंकर बना हुवा स्याद्वाद रूपी सिंह 'नय' रूपी वन के अंदर क्रीडा करता हुआ विजयी बनता है।

जिसने पूर्वोक्त स्याद्वादपंचानन देख लिया है उस को

असत्पदार्थ रूपी उन्मत्त हाथी उपद्रवित नहीं कर सकते हैं। एकान्तवाद में जैसे एक ही पदार्थ में, नित्य, अनित्य; सत्, असत्; अभिलाप्य, अनभिलाप्य; और सामान्य, विशेष; ये चार धर्म, सिद्ध नहीं होते हैं; इसी प्रकार उपक्रम, अनुगम, नय और निक्षेप भी सिद्ध नहीं होते हैं। कहा है कि–

एकान्तवादो न च कान्तवादो–
ऽप्यसम्भवो यत्र चतुष्टयस्य।
उपक्रमो वाऽनुगमो नयश्च;
निक्षेप एते प्रभवन्ति तद्वत् ॥ ४३ ॥

[जैनस्याद्वादमुक्तावली–प्रथमस्तबकः।]

इस प्रकार प्रसंगोपात्त 'नय' 'निक्षेप' 'प्रमाण' आदि का विवेचन कर के अब हम देशना के विषय पर आयँगे।

देशना के भेद।

देशना का अर्थ है उपदेश। उपदेश दुनिया में दो प्रकार का देखा जाता है। (१) स्वार्थोपदेश और (२) परमार्थोपदेश।

(१) रागी–मोहमायाऽऽसक्त–व्यक्तियों के उपदेश को **स्वार्थोपदेश** कहते हैं।

(२) वीतराग–मोहमाया रहित–व्यक्तियों के उपदेश को **परमार्थ** उपदेश कहते हैं।

धन, कीर्त्ति और पुण्य के लोभ से जो उपदेश होता है; वह स्वार्थोपदेश गिना जाता है। धनादि की अपेक्षा विना जो उपदेश होता है वह परमार्थोपदेश होता है। पिछला उपदेश तीर्थंकर प्रभृति द्वारा दिया जाता है; क्योंकि श्री तीर्थंकरों को धन, यश या पुण्य की कुछ भी परवाह नहीं होती है। दीक्षा के पहिले एक वर्ष पर्यन्त तीर्थंकर वार्षिक दान देते हैं। उस की संख्या तीन अरब, अठ्यासी करोड़, अस्सी लाख स्वर्ण मोहरें होती है। इतना दान देनेवाला दानवीर क्या कभी धन की आशा रख सकता है ? कदापि नहीं। जन्म से लेकर निर्वाण पर्यन्त चौसठ इन्द्र जिन का यश गाते हैं, वे तीर्थंकर महाराज क्या लौकिक यश की वांछा कर सकते हैं ? और जिन्होंने अतुल पुण्य के प्रभाव से तीर्थंकर नामकर्म बांधा है उस को नष्ट करने ही के लिए जो आहार, विहार धर्मोपदेशादि कार्य करने में प्रवृत्त होते हैं, ऐसे पुरुषों के लिए क्या यह संभव होसकता है कि वे पुण्य की आकांक्षा करेंगे ?

प्रायः देखा जाता है कि— संसार में कई सरागी पुरुष धन के लिए उपदेश देते हैं; कई अपना यश फैलाने के लिए उपदेश-पटु बनते हैं और व्याख्यान वाचस्पति आदि कीर्त्ति-सम्मान-प्रसारिणी पदवियाँ प्राप्त कर अपने को कृतकृत्य मानते हैं और कई निस्पृही, त्यागी, वैरागी मुनि पुण्य की अभिलाषा से उपदेश करते हैं। यद्यपि मुनि भव्य जीवों के कल्याणार्थ उपदेश

देते हैं; तथापि वे उस उपदेश से जो शुभ पुण्य होता है, उस को मोक्ष का कारण समझते हैं; इसी लिए कहा गया है कि वे पुण्य की अभिलाषा से उपदेश देते हैं। और इसी लिए हम उक्त प्रकार के उपदेशकों के उपदेश को **स्वार्थोपदेश** मानते हैं।

यह कहा जा चुका है कि वीतराग भगवान का जो उपदेश है वह **परमार्थोपदेश** है। इस मान्यता के साथ ही हमें—

" पुरुषविश्वासे वचनविश्वासः "।

जिस पुरुष पर हमें विश्वास होता है; उस पुरुष के वचनों पर भी विश्वास होता है। इस न्याय को सामने रखना होगा। और इसी लिए पहिले ऐसे उपदेशकों के चरित्रों का और लक्षणों का विचार कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा।

तीर्थंकरों का संक्षिप्त चरित्र।

जो जीव भविष्य में तीर्थंकर होनेवाला होता है वह स्वभावतः ही सब स्थानों पर उच्च कोटि में रहता है। उदाहरणार्थ—वह जीव शायद पृथ्वीकाय में उत्पन्न हो जाय तो भी वह खारी मिट्टी में उत्पन्न होकर स्फटिक रत्न आदि उच्च कोटि के पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होता है। इसी प्रकार यदि वह जीव जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय के अंदर उत्पन्न होता है तो उन उन में भी जो उत्तम चीज समझी जाती है उसी में उत्पन्न होता है।

इस भाँति एकेन्द्रिय में भवभ्रमण करने के बाद, वह जीव अनुक्रम से द्वीन्द्रियादि योनियों को पार कर के अन्त में देव, मनुष्य आदि का **पर्याय** पाता है। फिर मनुष्यभव के अंदर वैराग्यवासित अन्तःकरणवाला होकर, तीर्थंकर होनेवाला वह जीव बीस स्थानक के तप की या उसी में के एक आध स्थानक के तप की आराधना करता है; और उस का परिणाम यह होता है कि वह **'तीर्थंकर नामकर्म'** बाँधने का सद्भाग्य प्राप्त करता है। मनुष्य भव से, आयु पूर्ण कर, वह प्रायः देव गति में जाता है। कदाचित् वह नरक गति में जाता है; तो भी दोनों गतियों के अंदर उस को मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधि-ज्ञान रहता है, इस से वह अपना च्यवन समय जान लेता है। वह यह भी जान लेता है कि मैं अमुक स्थल में उत्पन्न होऊँगा। उसके बाद वह देव या नरक गति में आयुष्य की जितनी स्थिति भोगनी हो उतनी भोग कर, माता की कूख में आ जाता है; जैसे कि मानसरोवर में हंस आ जाते हैं।

सामान्य मनुष्य की भाँति भावी तीर्थंकर भी नौ महीने तक गर्भ में रहते हैं; परन्तु जितनी वेदना अन्य जीव भोगते हैं उतनी वे नहीं भोगते। ऐसा नियम नहीं है कि सारे तीर्थंकर महाराजाओं के जीव महावीर स्वामी की भाँति नौ महीने और साढ़ेसात दिन तक गर्भ में रहें। कई तीर्थंकर विशेष समय तक रहते हैं और कई कम समय तक।

जब श्री तीर्थंकर महाराज का जन्म होता है, तब उसी समय 'सौधर्म' नामा इन्द्र का आसन कम्पित होता है। उस समय उपयोग देकर अवधिज्ञान द्वारा इन्द्र जानता है कि— तीर्थंकर महाराज का जन्म हुआ है। तत्काल ही वह सिंहासन से उतर कर जिस दिशा में श्री तीर्थंकर देव का जन्म हुवा होता है उस ही दिशा में सात आठ कदम चलता है; फिर नमस्कार करके श्री भगवान की स्तुति करता है।

श्री प्रभु का जन्मोत्सव करने के लिए जैसे सौधर्मेन्द्र सपरिवार आता है वैसे ही अनुक्रम से दूसरे इन्द्र भी प्रभु के जन्मोत्सव का लाभ लेनेके लिये आते हैं—जन्मोत्सव में आ कर फ़ायदा उठाते हैं।

वह सौधर्मेन्द्र प्रभु को मेरु के शिखर पर ले जाता है। वहाँ पांडुक बन में पांडुकशिला नामा शिला पर सिंहासन रचा हुवा है। सौधर्मेन्द्र प्रभु को गोद में लेकर उस में बैठता है। उसके बाद शाश्वत और लौकिक तीर्थों के जल से और पुष्पादि के सुगंध मिश्रित जल से प्रभु का अभिषेक होता है। तत्पश्चात् अनेक प्रकार के भक्ति—भावों सहित प्रभु उनकी माता के पास पहुँचा दिये जाते हैं।

वहाँ से चौसठों इन्द्र नंदीश्वर द्वीप में—जो जंबु—द्वीप से आठवाँ द्वीप है—आकर, शाश्वत जिन मन्दिरों के अन्दर अठाई महोत्सव करते हैं। उस के पूर्ण हो जाने पर अपने आप को धन्य मानते हुए अपने २ स्थानों को चले जाते हैं।

इधर प्रभु भी प्रतिदिन द्वितीया के चंद्रमा की भाँति बढ़ते जाते हैं। उनकी आकृति-उनका स्वरूप-बहुत ही सुंदर होता है।

कहा है कि—

द्विजराजमुखो गजराजगति—
रुणोष्ठपुटः सितदन्तततिः।
शितिकेशभरोऽम्बुजमञ्जुकरः;
सुरभिश्वसितः प्रभयोल्लसितः ॥ १ ॥
मतिमान् श्रुतिमान् प्रथितावधियुक्;
पृथुपूर्वभवस्मरणो गतरुक्।
मति-कान्ति-धृतिप्रभृतिस्वगुणै—
र्जगतोऽप्यधिको जगतीतिलकः ॥ २ ॥

भावार्थ—जिन का मुख चंद्रमा के समान है; जिन की गति-चाल-गजराज के समान है; जिन के ओष्ठ संपुट लाल है; जिन की दंत-श्रेणी सफेद है; जिन का केशसमूह काला है; जिन के हाथ कमल के समान कोमल हैं; जिन का श्वास सुगंधित है; कान्ति से जो देदीप्यमान हो रहे हैं; मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के साथ जिन का अवधिज्ञान भी सुविस्तृत है; पूर्व भव की स्मृति भी जिन्हें बहुत ज्यादा होती है; जिन का शरीर रोग रहित है और मति, कान्ति और धीरज आदि गुण जिन में

समस्त संसार से ज्यादा है; ऐसे श्री प्रभु पृथ्वी के तिलक समान हैं।

प्रभु जब यौवनावस्था में आते हैं, तब माता पिता उनका विवाह करने के लिए आग्रह करते हैं। उस समय अवधि-ज्ञान द्वारा प्रभु इस बात का विचार करते हैं कि उन के भोग्य-कर्म बाकी है या नहीं। यदि उन को ज्ञात होता है कि भोग्यकर्म बाकी है, तो वे यह सोच कर ब्याह कर लेते हैं कि अपने सिर पर जो कर्ज देना रहा है, वह अवश्यमेव चुकना ही पड़ेगा। और यदि उन्हें मालुम होता है कि भोग्यकर्म बाकी नहीं है तो वे ब्याह नहीं करते हैं; जैसे कि नेमिनाथ, मल्लिनाथ आदिने ब्याह नहीं किया था। विवाहित तीर्थंकरों के सन्तति भी होती है।

भोग्य—कर्म का जब अन्त होता है तब लोकान्तिक देव श्री प्रभु के पास आ कर प्रार्थना करते हैं कि—" हे भगवन्! कर्म रूपी कीचड़ में डूबे हुए इस संसार का उद्धार करो और तीर्थ की प्ररूपणा करो "।

यद्यपि प्रभु स्वयमेव अवधिज्ञान द्वारा दीक्षा के समय को जानते हैं; तथापि लोकान्तिक देवों का अनादि काल से ऐसा ही आचार चला आ रहा है इसलिए वे प्रभु से उक्त प्रार्थना करते हैं। उसी समय से प्रत्येक तीर्थंकर अपने मातापिता से

या अपने ज्येष्ठ भ्राता आदि से सम्मति लेकर वार्षिक दान देना प्रारंभ करते हैं। एक पहर तक प्रभु याचकों को उन की इच्छानुसार दान देते हैं।

उसके बाद वे हमेशा एक करोड और आठ लाख सोना-महोरें दान में देते हैं। सब मिला कर एक वर्ष में जितनी सोनामहोरें प्रभु दान में देते हैं उनकी संख्या यह है—

वत्सरेण हिरण्यस्य ददौ कोटीशतत्रयम्।
अष्टाशीतिं च कोटीनां लक्षाशीतिं च नाभिभूः॥

भावार्थ—भगवान एक बरस में ३८८ करोड और ८० लाख सोनामहोरों का दान देते हैं।

अपना राज्य भी पुत्रादि को बाँट देते हैं; ताकि पीछे से कोई क्लेश उत्पन्न न हो। इस प्रकार समस्त प्रकार की मूर्च्छा त्याग कर, बड़े महोत्सव के साथ शिविका में—पालकी में—बैठ कर, शहर के बाहिर अशोकवृक्ष के नीचे जाकर शिविका में से उतरते हैं। वहाँ, जैसे मयूर अपने पींछों का त्याग करते हैं; उसी प्रकार भगवान अपने सारे आभूषण उतार कर, स्वयमेव पंचमुष्टि लोच करते हैं। उस समय इन्द्र महाराज आ कर प्रभु को देवदुष्य (दिव्य वस्त्र) अर्पण करते हैं। उसी समय भगवान को चतुर्थ ज्ञान—मनःपर्यय ज्ञान—भी उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् भगवान, सारे पाप—व्यापार का त्याग कर, अनगार—

साधु—पद धार कर, जहाँ दीक्षा लेते हैं उस स्थान से विहार करके ग्रामानुग्राम विचरण करते हैं।

विचरते हैं, परन्तु जब तक उन्हें केवलज्ञान नहीं होता है, तब तक वे मौन रहते हैं; अर्थात् किसी को उपदेश नहीं देते हैं। क्योंकि सूक्ष्म, व्यवहित पदार्थ—और अतिदूरवर्ती पदार्थों का ज्ञान हुए बिना उपदेश देनें से वचनों में परिवर्तन हो जाने की—कही हुई बात में मिथ्यांश मिल जाने की आशंका रहती है। इसी लिए भगवान केवलज्ञान प्राप्त हुए बिना उपदेश नहीं देते हैं।

केवलज्ञान उत्पन्न हो जाने के बाद, चार निकाय के देव—व्यंतर, ज्योतिष्क, भुवनपति और वैमानिक देव—समवसरण की रचना करते हैं। भगवान उस समवसरण में बैठकर, द्वादश परिषद् के सामने धर्मोपदेश देना प्रारंभ करते हैं। उसी धर्मोपदेश का नाम देशना है। पाठकों को उस देशना के स्वाद का कुछ अनुभव आगे चलकर कराया जायगा।

जब तक तीर्थंकरों को केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, तब तक वे देव, मनुष्य और तिर्यंच कृत घोर उपसर्ग और परीसह सहते हैं। जैसे—

पन्नगे च सुरेंद्रे च कौशिके पादसंस्पृशि।
निर्विशेषमनस्काय श्रीवीरस्वामिने नमः॥

एक वार भक्तिपूर्वक इन्द्र महाराज ने वीरप्रभु के जिन चरणकमलों का स्पर्श किया था, उन्हीं चरणकमलों का स्पर्श, द्वेषबुद्धि से चंडकौशिक सर्पने किया था। चंडकौशिकने विचारा था कि—' अहो ! मेरे स्थान में यह कौन आकर खड़ा है ! मैं शीघ्र ही दंश मारकर, तत्काल ही जमीन पर गिराऊँगा—यमराज के घर पहुँचाऊँगा '।

इस भाँति दोनों कौशिकोंने—एक कौशिक इन्द्र और दूसरा कौशिक सर्पने—भगवान का चरणस्पर्श किया था। और दोनों के भाव सर्वथा एक दूसरे के प्रतिकूल थे। एक का स्पर्श करना भक्तिपूर्वक था और दूसरे का द्वेष सहित। तो भी भगवान महावीर की दृष्टि तो दोनों के लिए समान ही रही। ऐसे राग-द्वेष रहित परमात्मा को मेरा नमस्कार होवे। अहा ! भगवान कितने करुणानिधि थे ! फिर भी—

कृतापराधेऽपि जने कृपामन्थरतारयोः ।
ईषद्बाष्पार्द्रयोर्भद्रं श्रीवीरजिननेत्रयोः ॥

अर्थात्—संगमदेवने एक रात के अंदर श्रीवीर प्रभु पर अति कठोर बीस उपसर्ग किये थे। वे उपसर्ग ऐसे थे कि, यदि उनमें का एक भी उपसर्ग किसी दृढ शरीर वाले लौकिक पुरुष पर हुआ होता तो, क्षण मात्र ही में उस का शरीर नष्ट हो गया होता; मगर भगवान् ने समान भावों से ऐसे बीस

उपसर्ग सहे। इतना नहीं, अपराध करनेवाले उस संगम नामा देव के ऊपर कृपा करने की लहर भगवान की आत्मा में उत्पन्न हुई थी। उन की आँखों में यह सोच कर जल भर आया था कि बिचारा मेरे निमित्त से दुर्गति में ले जानेवाले कर्मों का बंधन कर रहा है। प्रभु के जिन नेत्रों में करुणावश जल भर आया उन नेत्रों का कल्याण हो।

इस प्रकार श्रीमद् हेमचंद्राचार्य के समान धुरंधर विद्वान् कलिकालसर्वज्ञ आचार्य भी मुक्त कंठ से प्रभु की स्तुति करते हैं।

इस भाँति प्रत्येक तीर्थंकर उपसर्गों के समय समानभाव रखते थे। एक बार श्रीपार्श्वनाथ प्रभु तापस आश्रम के पीछे वड के नीचे स्थित होकर, ध्यान में आरूढ हुए थे। उस समय कमठनामा एक असुर ने भगवान पर अत्यंत उपसर्ग किये थे। धरणेन्द्र-कुमार ने उस देवकृत उपसर्ग का निवारण कर, प्रभु के प्रति अपनी जो भक्ति थी, वह प्रकट की थी। मगर भगवान की मनोवृत्ति तो दोनों के उपर समान ही रही थी।

कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचितं कर्म कुर्वति ।
प्रभुस्तुल्यमनोवृत्तिः पार्श्वनाथः श्रियेऽस्तु वः ॥

इस भाँति सत्य कवियों ने जिन की स्तुति की है; ऐसे श्री भगवान् क्लिष्ट कर्म के क्षयार्थ; द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव

से अप्रतिबद्ध हो अपने शत्रु और मित्र को समान दृष्टि से देखते हुए, भूमि पर विचरण करते हैं। विचरण इस प्रकार होता है—

प्रभु प्रथम तो ' निर्मम '—ममत्व—मेरापन का त्याग—हो कर विचरते हैं। दूसरे अकिंचन—द्रव्यादि परिग्रह रहित हो कर विचरण करते हैं। फिर काँसी के पात्र की भाँति स्नेहरहित हो कर विचरते हैं। यानि जिस भाँति काँसी के बर्तन पानी से नहीं खरड़ाते हैं उसी भाँति भगवान् भी किसी पदार्थ से नहीं खरड़ाते हैं—लिप्त नहीं होते हैं।

भगवान् जीव के समान अप्रतिहत गति वाले, गगन के समान निराधार, शारद सलिल के समान—स्वच्छ हृदय वाले; कमल के समान निर्लेप, कछुवे के समान गुप्तेन्द्रिय; सिंह के समान निर्भीक, भारंड पक्षी के समान अप्रमादी, कुंजर—हाथी के समान शौंडीर्यवान्, वृषभ के समान बलवान्—यानि जिस भाँति वृषभ—बैल—भार वहन करने की—ढोने की शक्ति रखता है, वैसे ही भगवान् भी स्वीकृत पंच महाव्रत का भार वहन करने की शक्ति रखते हैं। मेरु के समान अडिग; सागर के समान गंभीर—जैसे समुद्र में कुछ भी गिरे परन्तु वह अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है, उसी भाँति प्रभु भी हर्ष—विषाद के कारण मिलने पर भी अविकृत स्वभाव वाले रहते हैं। फिर प्रभु चंद्र के समान शान्त,

सूर्य के समान तेजस्वी, और स्वर्ण के समान स्वच्छ स्वभाव वाले होते हैं। स्वर्ण जैसे, ताप, ताडना आदि कष्ट सह कर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है; वैसे ही भगवान कष्ट परंपरा प्राप्त होने पर भी अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करते हैं। वसुंधरा की भाँति सर्वसह–सब कुछ सहन करने वाले, आदि अनेक विशेषण विशिष्ट श्री भगवान, तपस्यादि करते हुए छद्मस्थ–अवस्था को बिताते हैं। भगवान जो तपस्या करते हैं वह सब ' निर्जल '–चउविहार होती है।

उदाहरणार्थ–श्री महावीर भगवान ने बारह बरस से भी कुछ ज्यादा समय तक घोर तपस्या की थी। उन में केवल ३४९ पारणे उन्हों ने किये थे। इसी प्रकार उक्त समय में निद्रा भी सब मिलाकर केवल एक रात्रि प्रमाण ही ली थी। भगवानने सब निम्न लिखित तपस्याएँ की थी।

१ छ मासी–छः महीने की; १ पाँच दिवस न्यून छ मासी–पाँच महीने और पचीस दिन की; ९ चौमासी–चार महीने की; २ त्रिमासी–तीन महीने की; २ ढाई मासी–ढाई महीने की; ६ द्विमासी–दो महीने की; २ डेढ मासी–डेढ महीने की; १२ मासक्षपण–एक एक महीने की; ७२ पन्द्रह उपवास की; २ दिन भद्र प्रतिमा; ४ दिन महाभद्र प्रतिमा; १० दिन सर्वतोभद्र प्रतिमा; २२९ छठ–दो दो दिन के उपवास की; १२ अठम–तीन तीन दिन के उपवास की।

इस प्रकार हिसाब लगाने से ज्ञात होता है कि, उन्होंने कुल ३४९ पारणे किये थे। पूर्वोक्त घोर तपस्या के द्वारा, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, इन चार घाति कर्मों का नाश कर के, लोकालोक का प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया था। इस प्रकार केवलज्ञान प्राप्त होने पर श्री प्रभु, उक्त समवसरण के अंदर बैठ कर, देशना देते हैं। यह देशना अर्धमागधी भाषा में होती है। समवसरण में देव, मनुष्य और तिर्यंच की सब मिला कर, बारह परिषदें होती हैं। सारे जीव परस्पर वैर भाव को छोड़ कर शान्ति के साथ प्रभु के वचनामृत का पान करते हैं।

यहाँ शंका हो सकती है कि, तिर्यंच उसको कैसे समझते होंगे? उसके उत्तर में इतना ही कहना काफी होगा कि, भगवान के वचनों में ऐसी शक्ति होती है कि, जिस से सब जीव भली प्रकार से—अपनी अपनी भाषा में—समझ सकते हैं। वर्तमान में उद्यम शील देशों में, उद्यम शील मनुष्य तिर्यंचों की भाषा भी समझने लगे हैं। तिर्यंचों को समझाने के लिए तो आजकल के भारतीय लोग भी सशक्त हैं। इस लिए यदि थोड़ा सा विचार करेंगे तो विदित हो जायगा कि—इससे श्रेष्ठ काल के अन्दर तीर्थंकरों के समान लोकोत्तर पुरुष यदि तिर्यंचों को अपना कथन समझा सकते थे तो उस में कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। इसलिए यह शंका निर्मूल है।

दूसरा प्रश्न हो सकता है कि—तिर्यंच, जाति और जन्म वैर को कैसे छोड़ देते होंगे ? इसका उत्तर मैं स्वयं न दे कर योगशास्त्रादि—योगाभ्यास के ग्रंथ—देखने की सूचना करता हूँ। योगियों का प्रभाव अवाच्य और अगम्य होता है। हम अल्पबुद्धि लोगों के ध्यान में तो उसकी रूपरेखा भी नहीं आ सकती है। सब दर्शन—धर्म वाले इस बात को स्वीकार करते हैं।

आज कल के विज्ञानशास्त्री (Scientist) भी जब वनस्पतियों में अपूर्व शक्तियाँ हैं ऐसा विज्ञान के द्वारा, सप्रमाण सिद्ध करते हैं; तब जो तप, जप, समाधि आदि गुणों के द्वारा आत्मशक्तियों को विकसित करते हैं; उन योगियों का प्रभाव अचिन्त्य हो; तो इसमें आश्चर्य की कौनसी बात है ? हाँ इतना जरूर है कि, जो कार्य सृष्टि के विरुद्ध हैं उनमें बुद्धिमान सम्मत नहीं होता है। जैसे—

अपौरुषेय वचन; क्योंकि वचन और अपौरुषेय—पुरुष का नहीं—ये दोनों बातें विरुद्ध हैं; कुंवारी कन्या के पुत्र का जन्म होना; मस्तक में से ध्वनि निकलना; पर्वत की पुत्री; समुद्र को पीना और फिर से पेशाब द्वारा उसको वापिस निकाल देना; कान से पुत्र का जन्म होना; आँख से पुत्र का जन्म होना; मछली से मनुष्य का जन्म होना; कुशा से

मनुष्य का जन्म होना; चार हाथवाला पुरुष और दश शिरवाला मनुष्य आदि बातें ऐसी हैं कि, जिन का अनुभव के साथ विचार किया जाय तो अघटित मालूम होती हैं। इस प्रकार की एक भी बात तीर्थंकर महाराज ने प्ररूपित नहीं की है। भगवान केवल जगत-जीवों के हित के लिए और अपनी भाषा वर्गणा के पुद्गलों का नाश करने के लिए अग्लान भाव से देशना देते हैं। उस देशना का स्वरूप कुछ यहाँ बताया जाता है।

देशना का स्वरूप।

"हे भव्य जीवो! इस संसार के क्लेशों से यदि तुम घबरा गये हो; जन्म, जरा और मृत्यु के दुःख से तुम्हारा मन यदि उद्विग्न हो गया हो; और इस संसार रूपी वन को छोड़ कर, मुक्ति मंदिर में जाने की तुम्हारी यदि आन्तरिक इच्छा हो; तो विषय रूपी विषवृक्ष के नीचे एक क्षण वार के लिए भी विश्राम न करना"।

विदेश जाने वाले तरुण-अनुभवहीन युवक को जैसे एक हित की बात कही जाय कि-" तू अमुक स्थान में मत जाना और यदि भूल से चला ही जाय तो सावधान रहना "। इसी

प्रकार से कल्याण की इच्छा रखने वाले पुरुषों को ज्ञानियों ने पूर्वोक्त हितशिक्षा दी है; लाभ की बात कही है।

विषयवासना रूपी विषवृक्ष की शक्ति बहुत प्रबल है। विषय की वह छाया तीनों लोक की सीमा पर्यन्त फैली हुई है। उस छाया के प्रताप से, सद्भाग्य से ही कोई पुरुष बच सकता है। उस ने नामधारी त्यागियों को भी भोगी बना दिया है, और भोगियों को तो सर्वथा नष्ट भ्रष्ट ही कर डाला है। विशेष क्या कहें? उसने देव, दानव, हरि, ब्रह्मा आदि देवों के पास से भी दासों का सा आचरण कराया है। विषय रूपी विषवृक्ष की इस छाया में से, सर्वथा अलग रहने के लिए, परंपरा से महापुरुष हितोपदेश देते आये हैं। जो लोग महापुरुषों के वचनों पर विश्वास न कर, स्वछंदी बन जाते हैं और मनःकल्पित विचारश्रेणी में घुस कर, पूर्वोक्त विषय रूपी विषवृक्ष की छाया तले विश्राम लेने के लिए आकर्षित हो जाते हैं, वे क्षणवार ही में अपनी आत्मिक सत्ता को खो बैठते हैं; मोह मदिराका पान कर मूर्च्छित हो जाते हैं; उनका कृत्याकृत्य संबंधी विवेक नष्ट हो जाता है; और वे मन में आता है वैसे ही बोलने अथवा करने लग जाते हैं।

वास्तव में देखा जाय तो विषय, विष-ज़हर-से भी ज्यादा बलवान है। क्योंकि विष तो इस भव में मृत्यु का देनेवाला होता है; परन्तु विषय--विष तो कई भवों तक मरण के अनिष्ट

फल देता है । चौरासी लाख जीवयोनियों में—जीवों के भिन्न २ उत्पत्ति स्थानों में—अनादिकाल से भ्रमण करानेवाली भी वस्तुतः यह विषयवासना ही है ।

इस बात को सब दर्शनों-धर्मों वाले स्वीकार करते हैं कि—संसार में मनुष्ययोनिपर्याय सर्वोत्तम है । कारण यह है कि, मनुष्यपर्याय के सिवा अन्य किसी पर्याय से मुक्ति नहीं मिलती है । हाँ, कई ऐसी भी योनियाँ हैं जिन से देवगति मिल सकती है । विषय सेवन की इच्छा सामान्यतया सब योनियों के जीवों को होती है । कई योनियाँ ऐसी हैं जिन में पूरी तरह से विषय सेवन होता है और कई ऐसी हैं जिन में चेष्टा मात्र ही होती है । मगर विषय होता जरूर है; इसका अभाव किसी भी योनि में नहीं होता । तो भी मनुष्ययोनि में एक बात की विशेषता है । वह यह है कि यदि मनुष्य को तत्त्वज्ञान हो जाता है, तो वह विषय वासना से रहित हो सकता है । और इसी हेतु से मनुष्ययोनि सर्वोत्कृष्ट बताई गई है । अन्यथा विषय सेवन तो मनुष्ययोनि में भी अनादि काल से चला ही आ रहा है । और इसी कारण से परमपूज्य वाचकमुख्य श्रीउमास्वातिजी महाराज कहते हैं कि:—

" भवकोटिभिरसुलभं मानुष्यकं प्राप्य कः प्रमादो मे ? ।
न च गतमायुर्भूयः प्रत्येत्यपि देवराजस्य " ॥

अर्थ—करोड़ों जन्मों से भी अत्यन्त दुर्लभ मनुष्यजन्म

को पाकर मुझे यह क्या प्रमाद हो रहा है ? क्योंकि देवराज-इन्द्र को भी गया हुआ आयुष्य फिर से मिलनेवाला नहीं है ।

तात्पर्य यह है कि, व्यावहारिक पक्ष में समर्थ ऐसे इन्द्रादि देव भी जब मृत्यु की शरण में चले जाते हैं तब फिर अपने समान पामरों की तो गति ही क्या है ? प्रमाद, भव्य जीवों का पक्का शत्रु है । यह भव्य जीवों को उठा उठाकर संसार समुद्र में फेंक देता है । ऊपर के श्लोक में ' कः प्रमादो मे ' कहा गया है । इस ' प्रमाद ' शब्द से पाँचों प्रकार के प्रमादों का ग्रहण हो सकता है; परन्तु उन पाँच में भी मुख्य तो विषय ही है । बाकी के मद्य, कषाय, निद्रा और विकथा जो हैं, वे तो उस के कार्य रूप हैं । क्योंकि विषयी पुरुष व्यसनी होते हैं । क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषाय भी विषय के निमित्त से ही होते हैं । राग, द्वेष तो उनके सहचारी ही हैं । निद्रा अव्यभिचरित रीत्या विषयी मनुष्य का सेवा करती है । और विकथाएं तो विषयी मनुष्य के सिर पर विधिलिपि के समान लिखी हुई ही होती हैं । श्रीकोट्याचार्यजी सूत्रकृतांग की टीका में लिखते हैं:—

निर्वाणादिसुखप्रदे नरभवे जैनेन्द्रधर्मान्विते;
लब्धे स्वल्पमचारुकामजसुखं नो सेवितुं युज्यते ।

वैडूर्यादिमहोपलौघनिचिते प्राप्तेऽपि रत्नाकरे;
लातुं स्वल्पप्रदीप्तिकाचशकलं किं चोचितं साम्प्रतम् ? ॥

भावार्थ—श्री जिनेन्द्र के धर्म से युक्त; निर्वाण और स्वर्गादि सुख को देनेवाले मनुष्य जन्म को पाकर, अमनोज्ञ और थोड़े विषय के सुख का सेवन करना कदापि उचित नहीं है । वैडूर्यादि रत्नो के समूह से भरे हुए रत्नाकर की प्राप्ति हो जाने पर, थोड़ी कान्ति–शोभावाले काच के टुकड़े को ग्रहण करना क्या उचित है ? कदापि नहीं ।

हे भव्य प्राणिओ ! थोड़े के लिए विशेष खोना उचित नहीं है । निगोद में से चढ़ते हुए बहुत कठिनाइ से मनुष्य-जन्म की प्राप्ति हो गई है । अब तो विषयवासना को छोड़ना ही बाकी रहा है । यदि तुम क्रूर पाप की खानि विषय की सगति नहीं छोड़ दोगे तो कल्याण तुम्हारे से सैकड़ों कोस दूर भागता रहेगा । इस बात को दृढता के साथ तुम अ-पने हृदय में जमा रखना ।

मनुष्य जन्म की दुर्लभता दिखाने के लिए शास्त्रकारों ने दस दृष्टान्त दिये हैं । उनका आगे उल्लेख किया जा-यगा । यहाँ अब यह बताया जाता है कि संसार में कौन कौन से पदार्थ उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं । यानि कौनसा पदार्थ

कठिनता से और कौनसा उससे भी विशेष कठिनतासे प्राप्त होता है । कहा है कि—

भूतेषु जङ्गमत्वं तस्मिन् पञ्चेन्द्रियत्वमुत्कृष्टम् ।
तस्मादपि मानुष्यं मानुष्येऽप्यार्यदेशश्च ॥ १ ॥

देशे कुलं प्रधानं कुले प्रधाने च जातिरुत्कृष्टा ।
जातौ रूप-समृद्धी रूपे च बलं विशिष्टतमम् ॥ २ ॥

भवति बले चायुष्कं प्रकृष्टमायुष्कतोऽपि विज्ञानम् ।
विज्ञाने सम्यक्त्वं सम्यक्त्वे शीलसंप्राप्तिः ॥ ३ ॥

एतत्पूर्वश्चायं समासतो मोक्षसाधनोपायः ।
तत्र च बहु संप्राप्तं भवद्भिरल्पं च संप्राप्यम् ॥ ४ ॥

तत्कुरुतोद्यममधुना मदुक्तमार्गे समाधिमाधाय ।
त्यक्त्वा संगमनार्यं कार्यं सद्भिः सदा श्रेयः ॥ ५ ॥

भावार्थ—एकेन्द्रिय स्थावर से त्रस होना दुर्लभ है । त्रस जीवोंमें पंचेन्द्रिय होना उत्कृष्ट है । पंचेन्द्रिय में भी मनुष्य भव पाना कठिन है । मनुष्य भव में भी आर्यदेश, आर्यदेश में भी प्रधानकुल, प्रधानकुल में भी उत्कृष्ट जाति, उत्कृष्ट जाति में भी रूप और समृद्धि, रूप और समृद्धि में भी विशिष्टतम—उत्कृष्ट प्रकार का—बल; उत्कृष्ट प्रकार के बल में भी दीर्घ आयुष्य, और दीर्घ आयुष्य में भी विज्ञान की प्राप्ति बहुत पुण्य के उदय से होती है । इसी प्रकार विज्ञान प्राप्त होने पर

भी सम्यक्त्व मिलना दुर्लभ है, और सम्यक्त्व मिलने पर भी सदाचार की प्राप्ति होना अतीव दुर्लभ है। इस भाँति संक्षेप में उत्तरोत्तर मोक्ष के साधन बताये हैं। हे भव्यो! तुम्हें बहुत कुछ मिल चुका है। अब थोड़ा ही मिलना अवशेष रहा है। इसलिए मेरे बताये हुए मार्ग में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूपी समाधि को स्वीकार करो; इन्हींमें रत होने का उद्यम करो। सत्पुरुषों के लिए अनार्य—अनुचित—संगति को छोड़ कर निज श्रेय का-अपने कल्याण का-साधन करना ही अच्छा है। उनको विषय कषायादि दुर्गुणों में कभी भी नहीं गिरना चाहिए।

बहुत बड़ी पुण्यराशि के कारण मनुष्य जन्म रूपी कल्पवृक्ष प्राप्त हुआ है। सत्य, संतोष, परोपकार, इन्द्रियजय, दान, शील, तप, भाव, समभाव, विवेक और विनयादि गुण मनुष्यजन्म रूपी कल्पवृक्ष के पुष्प हैं। इन की रक्षा करो। इन से स्वर्ग, मोक्षादि उत्तम फलों की प्राप्ति होगी।

संसार में लाखों ही नहीं बल्के करोडों पदार्थ कर्मबंधन के हेतु रूप हैं। मगर जर, जमीन और जोरु; यानी द्रव्य, भूमि और स्त्री ये तीन मुख्यतया क्लेश के घर हैं। इस बात को छोटे बड़े सब अच्छी तरह जानते हैं। इन तीन चीजों में से भी स्त्री क्लेश का सब से विशेष बलवान कारण है। क्योंकि मनुष्य को जब स्त्री मिलती है, तब उसे जमीन की भी—घरद्वार की भी

तलाश करनी पड़ती है। स्त्री और जमीन दोनों एक साथ मिल जाते हैं तब मनुष्य को जर की, पैसे की आवश्यकता होती है।

जब द्रव्य नीतिपूर्वक उपार्जन करने पर भी उस में अठारह पापस्थानक की प्राप्ति की संभावना रहती है । तब जो मनुष्य अनीति पूर्वक पैसा—धन इकट्ठा करता है, वह कितने दृढ पापकर्मों में बँधना होगा; पाठक इस का स्वयं विचार करें।

इस कथन में कुछ अत्युक्ति नहीं है कि जो पुरुष, स्त्री के संग से मुक्त है वह सब पापों से मुक्त है। यह समझना भी सर्वथा सत्य है कि जो पुरुष स्त्रीसंग में फँसा हुआ है उसने अपना सर्वस्व खो दिया है। एक विद्वानने बहुत ठीक कहा है कि—

संसार! तव निस्तारपदवी न दवीयसी ।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि रे ! मदिरेक्षणाः ॥

भावार्थ—हे संसार ! यदि तेरे बीच में वनितारूपी दुस्तर नदी न पड़ी होती तो तुझ को तैरने में कुछ भी कठिनता नहीं थी।

दुष्ट कर्म रूपी महाराजा ने जीवों को संसार रूपी महा जंगल में फँसाने के लिए कामिनी रूपी जाल बिछा रक्खी है; कि जिस में ज्ञान और अज्ञान दोनों फँस जाते हैं। कहा है:—

हय ! विहिणा संसारे महिलारूवेण मंडिज्जं पासं ।
बज्झन्ति जाणमाणा अजाणमाणा वि बज्झन्ति ॥

यदि मुझ से कोई पूछे कि—जगत में शूरवीर कौन है ? तो मैं यही उत्तर दूँगा कि—स्त्रीचरित्र से जो खंडित नहीं होता है, वही शूरवीर है ।

हे भव्यो ! स्त्री का चरित्र अति गहन है । हम शास्त्रीय कथाओं से जानते हैं कि जो महापुरुष जगत के आधार रूप समझे जाते थे, वे स्त्री चरित्र की फाँस में फँस कर लोकलज्जा को छोड़ बैठे थे और दुःख के पात्र बने थे । आजकल भी हम ऐसे कई उदाहरण देखते हैं ।

एक वार राजा मुंज भिक्षा माँगने के लिए गया था । उस समय एक स्त्री ने मंडक—रोटी के दो टुकड़े किये । उसमें से घृत के बिन्दु नीचे टपकने लगे । यह देखकर मुंजराजा के मन में कल्पना उठी—

रे ! रे ! मंडक ! मा रोदीर्यदहं खण्डितोऽनया ।
राम-रावण-मुञ्जाद्याः स्त्रीभिः के के न खण्डिताः ॥

भावार्थ—हे मंडक ! तुझ को इस स्त्री ने खंडित किया इसलिए मत रो । स्त्री ने तुझ को ही खंडित नही किया है । राम, रावण और मुंज आदि भी—यानी सारे संसार के पुरुष भी स्त्रियों से खंडित हो चुके हैं ।

यही मुंजराजा एकवार कूए के किनारे पर जाकर खड़ा था, उसी समय कुछ स्त्रियाँ पानी भरने के लिये आईं। उन्होंने पानी निकाल ने के लिए रेंट को फिराया। रेंट ऊँ ऊँ शब्द करने लगा। उस को देखकर मुंज बोलाः—

रे ! रे ! यंत्रक ! मा रोदीः कं कं न भ्रमयन्त्यमूः ।
कटाक्षाक्षेपमात्रेण कराकृष्टस्य का कथा ? ॥

भावार्थ——हे यंत्र ! हे रेंट ! मत रो। स्त्रियों ने अपनी भ्रू-भंगी से किस को नहीं भमाया है ? जब इन की भ्रूभंगी ही इतनी जबर्दस्त है तब इन के हाथों की तो बात ही क्या है ? ये तुझे दोनों हाथों से पकड़ कर फिरा रही हैं। इसमें तेरी शक्तिहीनता नहीं है।

इस विषय का अब विशेष विस्तार न कर; भव्य पुरुषों को इतनी ही सलाह देंगे कि हे भव्य पुरुषो ! यथासाध्य विषय वासना को छोड़ने का प्रयत्न करो। इस उत्तम मनुष्य देह को पाया है तो इसको सार्थक करो। शास्त्र सुनो, शुद्ध श्रद्धा रक्खो, देव-गुरु की सेवा करो, अपनी शक्ति के अनुसार नियम ग्रहण करो और उन्हें पालो, आगे बढ़ो और विषयरूपी विष-वृक्ष की छाया से हमेशा बचते रहो। "

जिस समय श्रीऋषभदेव प्रभु अष्टापद पर्वत पर समोसरे थे उस समय उनके पास उनके अठानवे पुत्र

गये थे। वे भरत राजा की आज्ञा से चिढ़, क्रोध दावानल से जल, मान भुजंग से डसे हुवे, मायाजाल में फँस और मोह महा मल्ल से पराजित होकर, गये थे। मगर जैसे ही उन्होंने भगवान के दर्शन किये, उनके सारे उक्त विशेषण नष्ट हो गये। वे शान्त हो, हाथजोड़, मानमोड़, विनय से नम्र बन, वंदना करके नीचे बैठ गये। भगवान ने केवलज्ञान से सब कुछ जान कर, एक अंगारक का उन को दृष्टान्त दिया। उस दृष्टान्त का सार यह है–"एक अंगारदाहक–कोयला बनानेवाला-अपने पीने जितना पानी लेकर वन में, जहाँ कोयला बनाने की भट्टी थी–गया। मगर गरमी का जोर था इसलिए उसने आवश्यकता से विशेष पानी पी लिया और पानी खतम कर दिया। प्यास ने उसे बहुत सताया। इसलिए वह अपने घर की ओर रवाना हुआ। ताप था, प्यास थी, इस से विशेष घबरा कर, मार्ग में एक छायादार वृक्ष के नीचे बैठ गया। थोड़ी ही देर में उसको नींद आगई। उसे स्वप्न आया। स्वप्न में वह, प्यासा था इसलिए, पानी पीने के लिए चला। नदी, सरोवर, कूए आदि का सारा पानी पी गया, मगर उसकी प्यास नहीं बुझी। फिर उसने एक वन में एक ऊजड़ कुआ देखा। वह उस पर गया। घास की पूली के द्वारा उस में से पानी निकालने लगा। और घास में थोड़े जलबिन्दु लग कर आते थे उन्हें पीने लगा।"

हे महानुभावो ! नदियों और सरोवरों का पानी पी डाला तो भी जिसकी प्यास नहीं बुझी उसकी प्यास क्या तृण के अग्र भाग से टपकने वाली बूँदों को पी कर बुझ सकती है ? कदापि नहीं । इसी भाँति इस जीव ने अनादि काल से संसार-चक्र में भ्रमते हुए, सुरों और असुरों के बहुत से भोग भोगे हैं तो भी इसको तृप्ति नहीं हुई तो अब इस मनुष्य भव के भोग भोग लेने ही से क्या यह तृप्त हो जायगा ! ?'

यह सुन कर अठानवे पुत्रों में जो सब से बड़ा पुत्र था वह बोलाः—" हे प्रभो ! आप की बात सत्य है । आपने अपने हाथों से जो राज्यलक्ष्मी दी है उसी से हम संतुष्ट हैं । हम अधिक की इच्छा नहीं करते हैं । तो भी एक बात है । भरत बार बार हमारे पास दूत भेजता है और हमारा अपमान करता है । इस से हमारे हृदय में कषाय वृत्तियाँ उत्पन्न हुई हैं । हमने सब ने भरत के साथ युद्ध करना निश्चित किया है; आप की आज्ञा चाहते हैं ।

अपने पुत्रों के ऐसे वचन सुन कर, करुणासागर प्रभु ने इस प्रकार देशना देना प्रारंभ कियाः—

प्रभु की देशना ।

दुष्प्रापं प्राप्य मानुष्यं सौम्याः ! सर्वाङ्गसुंदरम् ।
धर्मे सर्वात्मना यत्नः कार्यः स्वात्मसुखार्थिभिः ॥

भावार्थ—हे सौम्य पुरुषो ! कष्ट से पाने योग्य और सर्वांग सुंदर मनुष्य पर्याय को प्राप्त कर, स्वात्मसुख की इच्छा रखने वाले पुरुषों को चाहिए कि वे सर्व प्रकार से धर्म की आराधना करने का प्रयत्न करें ।

मनुष्य जन्म मिलने पर यह कार्य करना चाहिए ।

दुष्कर्मबन्धनोपाया अन्तरायाः सुखश्रियाम् ।
तपसामामया हेयाः कषायाः प्रथमं बुधैः ॥

भावार्थ—दुष्ट कर्म बंधन के हेतु, सुखरूपी लक्ष्मी में अन्तराय और तपस्याओं के अंदर रोग के समान कषायों का पंडित पुरुषों को सबसे पहिले त्याग करना चाहिए ।

और भी कहा है—

सकषायो नरः सत्सु गुणवानपि नार्च्यते ।
यतो न विषसंपृक्तं परमान्नमपीष्यते ॥ १ ॥

यथा प्रज्वलितोऽरण्यं दवाग्निर्दहति द्रुतम् ।
कषायवशगो जन्तुस्तथा जन्मार्जितं तपः ॥ २ ॥

धर्मश्चित्ते दुराधेयः कषायकलुषात्मनाम् ।
रङ्गो यथा कुसुम्भस्य नीलीवासितवाससि ॥ ३ ॥

यथाऽन्त्यजं स्पृशन् स्वर्णवारिणाऽपि न शुध्यति ।
सकषायस्तथा जन्तुस्तपसाऽपि न शुद्धभाक् ॥ ४ ॥

भावार्थ—कोई मनुष्य सत्पुरुषों के अंदर गुणवान गिना जाता हो परन्तु यदि कषाय वाला हो, तो वह पूछने योग्य नहीं है; जैसे कि दूधपाक भी यदि विषमिश्रित है तो वह त्याज्य होता है ॥ १ ॥

जैसे प्रज्वलित दावानल तत्काल ही वन के वृक्षों को जला कर, राख कर देता है, वैसे ही क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों के वश में जो जीव हो जाता है वह भी अपने जन्म भर के इकट्ठे किये हुए तप को नष्ट कर देता है ॥ २ ॥

जैसे नील वाले कपड़े में कसूंबे का रंग नहीं चढ़ता है, उसी तरह कषायोंद्वारा जिस मनुष्य की आत्मा कलुषित हो जाती है, उसके अन्तःकरण में धर्म बड़ी कठिनता से स्थित रह सकता है ॥ ३ ॥

चांडाल से स्पर्श करनेवाला मनुष्य जैसे स्वर्ण के—सोने के पानी से भी शुद्ध नहीं होता है वैसे ही कषाययुक्त जीव तप करने से भी शुद्ध नहीं होता है ॥ ४ ॥

इस प्रकार सामान्यतः कषायों का स्वरूप बताया गया। अब क्रमशः क्रोध, मान, माया और लोभ के स्वरूप का वर्णन किया जायगा।

क्रोध का स्वरूप।

हरत्येकदिनेनैव तेजः षाण्मासिकं ज्वरः।
क्रोधः पुनः क्षणेनाऽपि पूर्वकोट्याऽर्जितं तपः ॥

भावार्थ——एक दिन का ज्वर छः महीने के तेज को हर लेता है; परन्तु क्रोध–एक क्षण का क्रोध भी–पूर्व कोटि वर्षों में उपार्जन किये हुए तप को नष्ट कर देता है ।

सन्निपातज्वरेणेव क्रोधेन व्याकुलो नरः ।
कृत्याकृत्यविवेके हा ! विद्वानपि जडीभवेत् ॥

भावार्थ——क्रोधवाला मनुष्य–वह विद्वान हो तो भी–सन्निपातज्वर वाले मनुष्य की भाँति व्याकुल–पागलसा–हो जाता है और खेद है कि, वह कृत्य, अकृत्य के विवेक को खोकर, जड़ के समान बन जाता है ।

इसी बात का हम विशेष रूप से स्पष्टीकरण करेंगे । ज्वर आनेसे शरीर के सारे अवयव शिथिल हो जाते हैं । वही ज्वर जब सन्निपात का रूप धारण कर लेता है तब मनुष्य अनेक प्रकार की चेष्टाएँ करने लग जाता है; न जाने क्या क्या बकने लग जाता है । लोग उसके जीवन की आशंका करने लग जाते हैं । इसी भाँति क्रोधाभिभूत क्रोध के वश में पड़े हुए–मनुष्य के अवयव भी शिथिल हो जाते हैं । उसकी वचनवर्गणा अव्यवस्थित होजाती है–वह कुछ का कुछ बोलने लग जाता है । उसके शरीर की स्थिति विलक्षण होजाती है । उस समय लोगों को उसके धर्म रूपी जीवन की आशंका हो जाती है । कहा है कि——

तपोभिर्भृशमुत्कृष्टैरावर्जितसुरौ मुनी ।
करट–धरटौ कोपात् प्रयातौ नरकावनीम् ॥

भावार्थ—बहुत तप करके जिन्होंने देवताओं को वशमें किया था, वेही करट और धरट नामा मुनि कोप करके नरक में गये ।

सोचने की बात है कि, जब कोप, मुनियों के तप संयमादि धर्मकार्यों को भी नष्ट करके उन्हें नरक में ले जाता है तब दूसरे मनुष्यों की तो बात ही क्या है ?

इसी बात को पुष्ट करने के लिए और भी कहा है कि—

जीवोपतापकः क्रोधः, क्रोधो वैरस्य कारणम् ।
दुर्गतेर्वर्तनी क्रोधः, क्रोधः शमसुखार्गला ॥ १ ॥

उत्पद्यमानः प्रथमं दहत्येव स्वमाश्रयम् ।
क्रोधः कृशानुवत् पश्चादन्यं दहति वा नवा ॥२॥

अर्जितं पूर्वकोट्या यद्वर्षैरष्टभिरूनया ।
तपस्तत् तत्क्षणादेव दहति क्रोधपावकः ॥ ३ ॥

शमरूपं पयः प्राज्यपुण्यसंभारसंश्रितम् ।
अमर्षविषसंपर्कादसेव्यं तत्क्षणाद् भवेत् ॥ ४ ॥

चारित्रचित्ररचनां विचित्रगुणधारिणीम् ।
समुत्सर्पन् क्रोधधूमो श्यामली कुरुतेतराम् ॥ ५ ॥

भावार्थ ।

१—क्रोध जीवों को संताप—दुःख देने वाला है; क्रोध वैर का कारण है; क्रोध दुर्गति का मार्ग है; और शान्ति रूपी सुख के कपाट बंध करने के लिए अर्गला भी क्रोध ही है ।

२—अग्नि की भाँति क्रोध भी उत्पन्न होकर पहिले अपने ही को भस्म करता है। पश्चात् दूसरों को जलावे भी और न भी जलावे। (अभिप्राय यह है कि, अग्नि की भाँति क्रोध से भी सदैव भव्य पुरुषों को बचते रहना चाहिए।)

३—आठ वर्ष कम पूर्व कोटि वर्षों द्वारा जो तप संचय किया जाता है उसी तप को क्रोध रूपी अग्नि क्षण वार में जला कर भस्म कर देती है ।

४—बहुत बड़े पुण्य के समूह से संचित किये हुए शांति रूपी दुग्ध में, जब क्रोध रूपी विष का मिश्रण हो जाता है; तब वह दुग्ध भी पीने योग्य नहीं रहता है । (अर्थात्—क्रोध के उत्पन्न होने से मनुष्य की शान्ति नष्ट हो जाती है ।)

५—बढता हुआ क्रोध रूपी धूआँ विचित्र गुण धारी चारित्र रूपी चित्र को अत्यंत कालिमा पूर्ण बना देता है (मनुष्य का जीवन यह घर है। उच्च चारित्र सुंदर चित्र है। यह चित्र घर में टँगा हुआ है। घर में, शरीर में, क्रोध रूपी आग जल कर

उसमें से धूँआ उठता है, उसी से चारित्र-चित्र दूषित हो जाता है—काला हो जाता है।)

ऐसे दुष्ट क्रोध को नष्ट करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

यो वैराग्यशमीपत्रपुटैः शमरसोऽर्जितः।
शाकपत्रपुटाभेन क्रोधेनोत्सृज्यते स किम् ? ॥

भावार्थ—वैराग्य रूपी शमीवृक्ष के पत्तों के दौनों द्वारा जो शान्ति रूपी रस एकत्रित किया गया है उस को क्या शाक के पत्तों के दौनों समान क्रोध से त्याग कर देना चाहिए ? कदापि नहीं।

शमीपत्र बहुत ही छोटे छोटे होते हैं। इसलिए उनके बने हुए दौने भी छोटे होते हैं और इसीलिए उनमें रस भी बहुत ही कम ठहरता है। अतः उनके द्वारा रस जमा करने में बहुत देर लगती है। इसी प्रकार वैराग्य के द्वारा शान्त रस को एकत्रित करते भी बहुत देर लगती है।

शाकपत्र बड़े बड़े होते हैं। इस से दौने बड़े बनते हैं और उन में बहुत ज्यादा रस भरा जा सकता है। ऐसे बड़े बड़े दौनों से छोटे छोटे दौनों द्वारा इकट्ठा किया हुआ रस बहुत ही जल्द खाली किया जा सकता है। इसी भाँति वैराग्य के द्वारा एकत्रित किया हुआ शान्ति रूपी रस भी क्रोध के द्वारा बहुत जल्द नष्ट हो जाता है। अतः बड़ी कठिनता से जो चीज एकत्रित की

गई हो उस को सरलता से नष्ट कर देना बुद्धिमत्ता नहीं है। और इसीलिए क्रोध करना बहुत ज्यादा हानि करनेवाला बताया गया है। फिर भी कहा है:—

प्रवर्धमानः क्रोधोऽयं किमकार्यं करोति न ?।
भाविनी द्वारिका द्वैपायनक्रोधानले समित् ॥

भावार्थ—बढ़ता हुआ क्रोध कौन सा अकार्य नहीं करता है ? अर्थात् सब कुछ करता है। द्वैपायन की क्रोधाग्नि में द्वारिका नगरी काष्ट रूपी होगी—काष्ट की भाँति भस्म हो जायगी।

(इस श्लोक में ' भाविनी ' शब्द से भविष्य काल का प्रयोग किया गया है। इस का कारण यह है कि—द्वैपायन ऋषि के द्वारा द्वारिका पुरी नेमिनाथ भगवान के समय में भस्म हुई थी; और देशना श्री आदीश्वर भगवान ने—ऋषभदेव भगवान ने दी थी। जो नेमिनाथ भगवान के बहुत पहिले हो चुके हैं। इसी लिए भविष्य काल का प्रयोग किया गया है।)

उक्त श्लोक में वर्णित द्वैपायन ऋषि की घटना इस तरह हुई थी कि—" यादवों ने निष्कारण द्वैपायन ऋषि को सता कर उन के क्रोध को जगा दिया। इस से—क्रोधांध हो कर—उन्हों ने नियाणा किया कि—यदि मेरे तप का कुछ फल हो तो मैं अगले भव में इस नगर को जलाने वाला होऊँ। ऋषि मर कर, तप के प्रभाव से अग्निकुमार नामा देव हुए। फिर उन्हों ने ऋषि

वाले भव में जो नियाणा--नियम--किया था--उस को पूरा किया; उन्हों ने द्वारका को जला दिया।

सारांश इस उदाहरण के देने का यह है कि--द्वैपायन के समान ऋषि ने भी जब क्रोध कर के अपने तप का फल हार दिया और संसार भ्रमण को बढा लिया तब सामान्य मनुष्यों की तो बात ही क्या है ? इस लिये बुद्धिमान मनुष्यों को सदैव क्रोध से डरते रहना चाहिए। यदि कोई मनुष्य यह समझता हो कि, क्रोध किये विना काम नहीं चल सकता है तो उन की यह समझ भूल भरी है। कहा है कि---

क्रुध्यतः कार्यसिद्धिर्या न सा क्रोधनिबन्धना।
जन्मान्तरार्जितोर्जस्विकर्मणः खलु तत्फलम् ॥

भावार्थ---क्रोध करने वाले का कार्य सिद्ध हो जाता है, तो यह नहीं समझना चाहिए कि उस की कार्य--सिद्धि का कारण क्रोध है। बल्के यह समझना चाहिए कि, उस ने जन्मान्तर में अतिशय माहात्म्य वाला कर्म किया है उसी का वह फल है।

स्वस्य लोकद्वयोच्छित्त्यै, नाशाय स्व--परार्थयोः।
धिगहो ! दधति क्रोधं शरीरेषु शरीरिणः ॥

भावार्थ---अहो ! ऐसे प्राणियों को धिक्कार है कि जो;

अपना इस भव का और परभव का उच्छेद करने के लिए और अपना व पराये का हित नाश करने के लिए क्रोध करते हैं।

सोचने की बात है कि दुनिया में कौन ऐसा मूर्ख होगा ? जो सर्वथा दुःख देने वाली और भयंकर परिणाम लाने वाली चीज को अपने पास रखेगा ?। खेद तो इस बात का है कि—लोग जानते हुए भी जड़ के समान हो कर—क्रोध का त्याग नहीं करते हैं। अहो ! वास्तव में देखा जाय तो क्रोध सारे अनर्थों का मूल है।

क्रोधान्धाः पश्य निघ्नन्ति पितरं मातरं गुरुम्।
सुहृदं सोदरं दारानात्मानमपि निर्घृणाः॥

भावार्थ—देखो ! क्रोधान्ध मनुष्य पिता, माता, गुरु, मित्र, भाई और स्त्री को भी मार देता है। इतना ही नहीं वह अपनी आत्मा को भी मार डालता है।

मनुष्य जब क्रोध के वश में हो जाता है, तब उसको विवेक ज्ञान बिल्कुल नहीं रहता है। वह परमोपकारी अपने माता पितादि को भी मारने का प्रयत्न करता है और कई बार तो उन्हें वह मार भी डालता है। कई बार ऐसे मनुष्य आत्मघात भी कर लेते हैं। मगर मनुष्य के हृदयमें से जब क्रोध चला जाता है। तब उसको पश्चात्ताप होने लगता है। आत्मघात करनेवाला भी अपने आप को मारने की क्रिया तो कर लेता है;

परन्तु जब उसको प्राणान्त समय की वेदना होती है; वेदना से जब उस को कुछ होश आता है; तब वह सोचने लगता है कि– यदि मैंने यह अकार्य नहीं किया होता तो अच्छा होता। अब मैं कैसे इस यंत्रणा से बच सकता हूँ ? ।

यह भी ध्यान में रखने की बात है कि–कायर मनुष्य ही आत्मघात करते हैं। वीर हृदयी मनुष्य विषादि प्रयोगों से कभी मरने का प्रयत्न नहीं करते हैं। वे सदा इस नीति के नियम को याद रखते हैं कि—

'जीवन्नरः शतं भद्राणि पश्यति'।

(जीवित मनुष्य सैकड़ों कल्याण देखता है।) शास्त्रकार आत्मघाती को महा पापी बताते हैं। इसका कारण यह है कि– अज्ञानता की चरमसीमा के सिवा आत्मघात के समान बहुत बड़ा अकार्य नहीं होता है। अज्ञानी मनुष्य बहुत से जन्मों तक संसार चक्र में भ्रमण किया करता है।

सारे कथनका मथितार्थ–तात्पर्य–यह है कि, सारे अनर्थों का मूल क्रोध है इसलिए इससे बचने का हमेशा प्रयत्न करते रहना चाहिए।

क्रोध को जीतने के साधन।

क्रोध के स्वरूप का वर्णन करने के बाद अब यह बताना आवश्यक है कि क्रोध कैसे जीता जा सकता है–मनुष्य क्रोधसे कैसे बच सकता है ? ।

क्रोधवह्नेस्तदह्नाय शमनाय शुभात्मभिः ।
श्रयणीया क्षमैकैव संयमारामसारणिः ॥

भावार्थ—क्रोधाग्नि को शमन करने के लिए कल्याण के अभिलाषी जीवों को संयम रूपी बागीचे को हराभरा रखने के लिए जल प्रवाह के समान—क्षमाका ही आश्रय करना चाहिए ।

यह ठीक है कि—आदमी को क्षमा का आश्रय लेना चाहिए; परन्तु अपराधियों को क्षमा करने का क्या उपाय है ? ऐसी शंका का समाधान करने के लिए शास्त्रकार कहते हैं कि——

अपकारिजने कोपो निरोद्धुं शक्यते कथम् ? ।
शक्यते सत्त्वमाहात्म्याद् यद्वा भावनयाऽनया ॥

अङ्गीकृत्यात्मनः पापं यो मां बाधितुमिच्छति ।
स्वकर्मनिहतायास्मै कः कुप्येद्बालिशोऽपि सन् ? ॥

भावार्थ——अपराधियों के ऊपर क्रोध करना कैसे रोका जा सकता है ? उत्तर— पुरुषार्थ के माहात्म्य से रोका जा सकता है—दूसरे इस भावना को भा कर भी कोप रोका जा सकता है कि—अपने आत्मा को पाप का भागी बना कर, जो मनुष्य मुझ को हानि पहुँचाने का यत्न करता है; वह बिचारा स्वयं ही निज कर्मोंद्वारा हत हो रहा है—सजा पा रहा है—फिर उस पर कौन मूर्ख होगा जो क्रोध करेगा ? ।

फिर भी कहा है:——

प्रकुप्याम्यपकारिभ्य इति चेदाशयस्तव ।
तत्किं न कुप्यसि स्वस्य कर्मणे दुःखहेतवे ? ॥

भावार्थ—तेरे कहने का आशय यदि यह हो कि, मैं अपराधी के ऊपर क्रोध करता हूँ, तो दुख के कारण वास्तविक अपराधी जो तेरे कर्म हैं उन पर क्यों नहीं कोप करता है ? ।

कहने का भाव यह है कि दूसरे अपराधियों की अपेक्षा कर्म विशेष अपराधी हैं । क्यों कि दूसरे अपराधी तो थोड़े ही समय तक, मात्र थोड़ा सा दुख देते हैं; परन्तु कर्म तो अनादि काल से अनन्त दुःख दे रहा है और आगे भी अपने अस्तित्व तक देता रहेगा । इस लिए वास्तविक अपराधी को छोड़ कर अवास्तविक अपराधी पर कोप करना सर्वथा अकर्तव्य है । संसार में लोग हमें शत्रु या मित्र ज्ञात होते हैं, यह सब प्राचीन कर्मों का प्रभाव है । यदि कर्मों का नाश हो जाय तो उस के साथ ही शत्रु और मित्र के भाव का भी नाश हो जाय। शत्रु और मित्रभाव का अभाव होने से राग-द्वेष का अभाव होता है और राग-द्वेष के अभाव से मुक्ति मिलती है ।

इसी लिए जो मूल की ओर ध्यान देने वाला होता है, वही बुद्धिमान गिना जाता है । यह भी समझने की बात है कि, जैसे क्रोध, कर्म का कारण है इसी तरह कर्म भी क्रोध का कारण है । कर्म के अभाव से क्रोध का अभाव हो जाता है और क्रोध

के न होने पर कर्म चले जाते हैं। इस प्रकार की अन्योन्य व्याप्ति दृष्टिगोचर होती है। पुरुष का परम पुरुषार्थ—सब से ज्यादा हिम्मत का काम—यही है कि, कुछ भी कर के वह क्रोध को रोके।

सोचने की बात है कि—

उपेक्ष्य लोष्टक्षेप्तारं लोष्टं दशति मण्डलः।
मृगारिः शरमुत्प्रेक्ष्य शरक्षेप्तारमृच्छति॥

भावार्थ—कुत्ते का स्वभाव है कि, वह पत्थर फैंकने वाले को नहीं; पत्थर को काटने दौड़ता है। मगर सिंह, तीर को काटने न दौड़ कर तीर चलाने वाले पर आक्रमण करता है।

मनुष्य को सिंह की वृत्ति धारण करना चाहिए, कुत्ते की नहीं। जैसे सिंह मूल कारण पर आक्रमण करता है इसी भाँति भव्य पुरुषों को भी मूल कारणभूत अपने कर्मों पर दृष्टि डालना चाहिए। दूसरे के लिए सोचना चाहिए कि यह बिचारा मेरी बुराई करने की कोशिश करता है, इस का कारण यह स्वयं नहीं है। कारण हैं मेरे कर्म। यह तो मेरे कर्मों की प्रेरणा से मेरे अनिष्ट का प्रयत्न करने में प्रवृत्त हुआ है। और यह सोच कर मनुष्य को चाहिए कि वह शम, दम आदि धर्मों द्वारा कर्म शत्रु का नाश करे। यदि ऐसा नहीं करेगा तो वह श्वान के समान समझा जायगा। मनुष्य को सिंह बनना चाहिए, श्वान नहीं।

त्रैलोक्यप्रलयत्राणक्षमाश्चेदाश्रिताः क्षमां ।
कदलीतुल्यसत्वस्य क्षमा तव न किं क्षमा? ॥

भावार्थ—तीन लोक को नाश करने की और उस की रक्षा करने की शक्ति रखनेवाले वीर पुरुषोंने भी जब क्षमा ही का आश्रय ग्रहण किया है। तब तेरे समान—केलेके समान शक्ति रखनेवाले मनुष्य के लिए क्षमा करना क्या उचित नहीं है ? ।

द्रव्य और भाव दोनों ही तरह से क्षमा करना सदा उपयोगी है। यह भी स्मरण में रखना चाहिए कि—

तथा किं नाकृथाः पुण्यं यथा कोऽपि न बाध्यते ।
स्वप्रमादमिदानीं तु शोचन्नङ्गीकुरु क्षमाम् ॥

भावार्थ—तूने ऐसा पुण्य क्यों नहीं किया कि जिस से कोई भी मनुष्य तुझ को बाधा न पहुँचावे ? । अब भी चेत और अपने प्रमाद को याद कर क्षमा को स्वीकार ।

प्राणियों को पहिले ही से ऐसा पुण्य उपार्जन कर लेना चाहिए कि जिससे कोई भी अन्य प्राणी अपने को बाधा पहुँचाने की हिम्मत न कर सके। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जायगा तो इस संसार की सारी रचना पुण्य और पाप ही के कारण से बनी हुई मालुम होगी। कोई रंक, कोई राजा; कोई रोगी, कोई निरोगी; कोई शोकी, कोई आनंदी; कोई कुरूप, कोई सुन्दर; और कोई दरिद्री, कोई धनाढ्य; आदि प्रत्यक्ष विष-

मताएं दृष्टिगोचर होती हैं—देखी जाती हैं। इन में जितनी उत्तमताएँ हैं वे सब पुण्य के कारण से मिली हैं। इसलिए यदि सुख की इच्छा हो तो पुण्य के कारणों का सेवन करो और पाप के कारणों को दूर कर दो।

कहा है कि—

क्रोधान्धस्य मुनेश्चण्डचण्डालस्य च नान्तरम्।
तस्मात् क्रोधं परित्यज्य भजोज्वलधियां पदम्॥

भावार्थ—क्रोधान्ध मुनि में और चाण्डाल में कुछ भी अन्तर नहीं होता है। इसलिए क्रोध को छोड़ कर शान्तिप्रधान पुरुषों के स्थान का सेवन करो।

विचार करने से ज्ञात होता है कि—क्रोधी पुरुष सचमुच ही चाण्डाल ही के समान है। जैसे चाण्डाल निर्दयता के काम करता है उसी तरह क्रोधी मनुष्य भी निर्दयता के अमुक कार्य करने में आगा पीछा नहीं देखता है। क्रोधावस्थावाले को सज्जन और दुर्जन की पहिचान भी होना कठिन हो जाता है। इस के लिए यहाँ हम एक साधु का और धोबी का उदाहरण देंगे।

"एक साधु बहुत ज्यादा क्रियापात्र था। उस के तप संयम के प्रभाव से एक देवता उस के वश में हो गया था। वह उस की सेवा किया करता था। एक बार वह साधु कायचिन्ता—शरीर के आवश्यकीय कर्तव्य मलमूत्र का त्याग के लिए बाहिर

गया। वहाँ एक धोबी के घाट पर उसने मल का त्याग किया। यह देख कर धोबी को बहुत क्रोध आया। वह साधु को गालियाँ देने लगा। साधु भी शान्त न रह सका। वह भी अपने धर्मके विरुद्ध आचरण कर धोबी को गालियाँ देने लगा। धोबीने साधु का हाथ पकड़ा। साधुने भी धोबी का हाथ पकड़ लिया। साधु दुबला पतला था और धोबी शरीर का हृष्टपुष्ट था इसलिए इसने साधु को खूब पीटा। मार खाकर साधु अपने स्थान पर आया और बैठ कर स्वस्थ हुआ। उसी समय उस की सेवा करनेवाला देव आया और उसने पूछा, " महाराज ! सुख साता है ? "।

साधुने कहा:–" अरे ! मुझ को धोबीने मारा उस समय तू कहाँ गया था ? "।

देवने उत्तर दिया:–" महाराज मैं आपके पास ही था "।

साधुने पूछा:–" तब धोबी को, मुझे मारने से तूने क्यों नहीं रोका ? "।

देवने उत्तर दिया:–" महाराज ! उस समय मैं यह नहीं पहिचान सका था कि आप दोनों में से धोबी कौन है और साधु कौन है ? "।

देव के वचन सुन कर साधुने शान्ति के साथ सोचा तो उसे विदित हुआ कि देव का कहना सर्वथा ठीक है। मैंने बड़ी

भारी भूल की। मैं अपना क्षमा धर्म छोड़ कर उल्टे मार्ग चला और इसी लिए मुझ को मार भी खाना पड़ा।

इस से समझना चाहिए कि—क्रोध साधु को असाधु, ज्ञानी को अज्ञानी और सज्जन को दुर्जन बना देता है। इस लिए क्रोध नहीं करना चाहिए।

और भी कहा है:—

> अरुन्तुदैर्वचःशस्त्रैस्तुद्यमानो विचिन्तयेत्।
> चेत्तथ्यमेतत् कः कोपोऽथ मिथ्योन्मत्तभाषितम्॥

भावार्थ—अपने मर्मस्थान को—अन्तःकरण को—पीड़ा पहुँचाने वाले दूसरे मनुष्य के वचन सुन कर, मनुष्य को सोचना चाहिए कि, यदि इस का कहना सत्य है तो फिर इस पर क्रोध किस लिए करना चाहिए? और यदि इस का कहना मिथ्या है तो फिर उसको उन्मत्तभाषी समझ कर उस पर क्रोध करना व्यर्थ है।

अपने में दोष हो और कोई मनुष्य यदि निंदा करता हो, तो उस समय हमें सोचना चाहिए कि—मुझ में दोष है इस लिए वह मेरी निन्दा कर रहा है। अतः मुझ को उस पर क्रोध करना उचित नहीं है। यदि अपने में दोष न हो और कोई निन्दा करे तो विचारना चाहिए कि यह कहता है वे दूषण तो मेरे में हैं ही नहीं फिर मुझ को दुःख क्यों मानना चाहिए? दूषित ही दुःखी होते हैं। निर्दोष तो आनंद ही मानते हैं।

यह दूसरों की कीर्ति को सहन नहीं कर सकता है इसी लिए बिचारा दूसरों की निन्दा करता है; मिथ्या दोष लगा कर, दुर्गति का भाजन होता है; कृतक्रियाओं को नष्ट करता है; धर्म को हार जाता है और संसार की वृद्धि करता है। मनुष्य को अपनी निन्दा के समय ऐसी ही भावनाएँ भाना चाहिए।

और भी कहा है:—

वधायोपस्थितेऽन्यस्मिन् हसेद्विस्मितमानसः।
वधे मत्कर्मसंसाध्ये वृथा नृत्यति बालिशः॥

भावार्थ—अपने को मारने के लिए उद्यत मनुष्य को देख-कर विस्मित चित्त होकर मनुष्य हँसे कि—मौत तो मेरे कर्मके अधीन है। उस में यह मूर्ख मनुष्य वृथा ही नाच कूँद कर रहा है।

किसी मनुष्य के कर्म अशुभ होते हैं तब ही मारने वाला उस को मार सकता है अन्यथा मारने वाले के सारे प्रयत्न नि-ष्फल हो जाते हैं। यहाँ निश्चयनय की अपेक्षा विचार करना चाहिए कि—मेरी मौत जिस निमित्त से होनी होगी उसी निमित्त से होगी। मारने वाले का प्रयत्न व्यर्थ है। इस प्रकार आक्र-मित मनुष्य वैराग्य रंग में रँगा जा कर हँसता है। मारने वाले

पर समान भाव रखता है। अन्यथा वास्तव में देखा जाय तो मृत्यु के समान दुनिया में दूसरा कोई भय नहीं है।

वास्तव में कोप किस पर करना चाहिए—

सर्वपुरुषार्थचौरे कोपे कोपो न चेत्तव।
धिक्त्वां स्वल्पापराधेऽपि परे कोपपरायणम् ॥

भावार्थ—हे मनुष्य! तेरे सारे पुरुषार्थों को चुरा ले जाने वाला क्रोध है; यदि उस पर तू क्रोध न कर तेरा थोड़ासा अपराध करने वाले मनुष्य पर तु क्रोध करता है तो तुझे धिक्कार है!

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के नाश करने वाले क्रोध पर क्रोध करना चाहिए। क्रोध के कारण ही यह जीव अनादि काल से दुर्गति-भाजन होता आया है। इस लिए जैसे बड़ा गुनाह करने वाले को देश निकाला दिया जाता है इसी भाँति इस कोप को भी शरीर रूपी देश से निकाल देना चाहिए; क्रोध को देश निकाले का उचित दंड देना चाहिए। दूसरे मनुष्य पर नाराज हो कर, क्रोध अपराधी को उत्तेजन देना सर्वथा अनुचित है।

अब एक श्लोक दे कर क्रोध का विषय समाप्त किया जायगा।

सर्वेन्द्रियग्लानिकरं प्रसर्पन्तं ततः सुधीः।
क्षमया जाङ्गुलिकया जयेत् कोपमहोरगम् ॥

भावार्थ—सारी इन्द्रियों को स्थिर कर देने वाले, बढ़ते हुए क्रोध रूपी महा सर्प को क्षमा रूपी सर्प पकड़ने के मंत्र से जीत लेना चाहिए।

सर्प जिस मनुष्य को काटता है उस की सारी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। उस का वेग आगे बढ़ता जाता है, यानी ज़हर चढ़ता जाता है। समय पर यदि किसी जाङ्गुलिक—सर्प को उतारने वाले—का योग नहीं मिलता है तो मनुष्य मर भी जाता है। इसी भाँति जिस के शरीर में क्रोध प्रविष्ट होता है उस की सारी इन्द्रियाँ शिथिल कर देता है; शरीर को तपा देता है; रक्त को सुखा देता है और ज्ञान भुला देता है। उसी समय यदि क्षमा रूपी मंत्र की प्राप्ति हो जाती है, तो क्रोध चांडाल नष्ट हो जाता है। यदि क्षमा मंत्र नहीं मिलता है, तो धर्म रूपी प्राण निकल जाते हैं, इसी लिए हे भव्य जीवो! क्रोध से दूर रहो! दूर रहो!

मान का स्वरूप।

अपने पुत्रों को क्रोध नहीं करने का उपदेश देने के बाद प्रभु ने इस भाँति मान का उपदेश देना प्रारंभ किया:—

हे जीवो ! मान न करो। मान करने से विनय नष्ट होता है। विनय के अभाव में विद्या प्राप्त नहीं की जा सकती है। विद्या विना मनुष्य में विवेक नहीं आता। विवेक के अभाव मनुष्य को उस तत्व ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है, जो मोक्ष का कारण है। इस लिए सारे अनर्थों के मूल मान रूपी अजगर का त्याग करने की आवश्यकता होने से, मान के दोषों का, मान के स्वरूप को और कैसे विचारों से मान का नाश किया जा सकता है उन का क्रमशः विवेचन किया जायगा।

विनयश्रुतशीलानां त्रिवर्गस्य च घातकः।
विवेकलोचनं लुम्पन् मानोऽन्धंकरणो नृणाम्॥

भावार्थ—मान, विनय, शास्त्र, सदाचार और त्रिवर्ग का धर्म, अर्थ और काम का—घात करने वाला है, और विवेक चक्षुओं को नष्ट कर मनुष्य को अन्धा बनाने वाला है।

यह मान आठ प्रकार का बताया जाता है। यथा—

जातिलाभकुलैश्वर्यबलरूपतपः श्रुतैः ।
कुर्वन मदं पुनस्तानि हीनानि लभते जनः ॥

भावार्थ—मद–मान–आठ हैं–जातिमद, लाभमद, कुल-मद, ऐश्वर्यमद, बलमद, रूपमद, तपमद और ज्ञानमद । जो कोई व्यक्ति आठों में से कोईसा मद करता है–इनमें से किसी बात का अभिमान करता है–उस को आगामी जन्म में, वह वस्तु उतनी ही कम मिलती है जितना कि वह उस का मद करता है ।

मद और मान एक ही बात है । किसी को जाति का अभिमान होता है, किसी को, लाभ का अभिमान होता है–वह समझता हैं कि, मेरे समान किसी को भी लाभ नहीं मिला है । मैं बहुत बड़े भाग्य वाला हूँ; आदि । किसी को कुल का अभि-मान होता है । वह समझता है कि, मेरा कुल ही सब से ऊँचा है । अन्य कुल सब मुझसे नीचे हैं । किसी को बल का अभि-मान होता है । किसी को रूप का गर्व होता है । वह समझता है कि–मेरे समान सुंदर आकृति अथवा कान्ति किसी की भी नहीं है । किसी को तप का अभिमान होता है । वह समझता है कि, मैं तपस्वी हूँ । मेरे समान तपस्या करने वाला इस जगत् में दूसरा कोई नहीं है । और किसी को ज्ञान का अभिमान होता है । वह समझता है कि, मेरे समान किस को शास्त्रों का

ज्ञान है। मैं पूरा ज्ञाता हूँ। प्रत्येक मनुष्य मेरे सामने मूर्ख है। मैं तत्त्व की जैसी व्याख्या करता हूँ, जिस तरह दूसरों को समझाता हूँ; जिस भाँति तत्त्व का सार निकाल कर रखता हूँ; उस तरह तत्त्व का जानने वाला मनुष्य आज तक दृष्टि में नहीं आया।

इस प्रकार आठ मदों का गर्व कर के मनुष्य जन्मान्तर में उन से वंचित रहता है अथवा उन्हें कम पाता है और परिणाम में दुखी होता है। देखो—

(१) जाति का मद करनेवाले हरिकेशी को नीच जाति मिली। (२) लाभ का मद करने वाला सुभूम चक्रवर्ती नरक में गया। (३) कुल का मद करने वाला मरीचि का जीव चिरकाल तक संसार में भ्रमण करने के बाद अन्त में, श्री महावीरस्वामी का जीव हो कर भिखारी कुल के गर्भ में आया। फिर देवों ने हरण कर के उन्हें क्षत्रिय-कुल के गर्भ में रक्खा। (४) दशार्णभद्रराजा ने जब ऐश्वर्य का अहंकार किया तब इन्द्र महाराज ने उस को अपनी समृद्धि बताई। उसको देख कर, दशार्णभद्र का मद उतर गया और वह साधु बन गया। (५) बल का मद कर के श्रेणिक राजा नरक का अधिकारी बना। (६) रूप का मद करने से सनतकुमार चक्रवर्ती रोगी बना। (७) तप का मद करने से कुरगडुं ऋषि के तप में अन्तराय पड़ा। और (८)

श्रुत का मद करने से स्थूलिभद्र के समान महा मुनि भी सम्पूर्ण श्रुत के अर्थ से वंचित हो गये । इस लिए जो अपना कल्याण चाहते हैं उन के लिए उचित है कि, वे इन मदों से सदा दूर रहें ।

मान का जय करने का उपाय ।

जाति मद दूर करने का उपाय—

जातिभेदाननेकविधानुत्तमाधममध्यमान् ।
दृष्ट्वा को नाम कुर्वीत जातु जातिमदं सुधीः ॥
उत्तमां जातिमाप्नोति हीनमाप्नोति कर्मतः ।
तत्राशाश्वतिकीं जातिं को नामासाद्य माद्यतु ? ॥

भावार्थ—उत्तम, मध्यम और अधम ऐसे अनेक प्रकार के जाति भेदों को देख कर, कौन सद्बुद्धि मनुष्य होगा जो जाति का मद करेगा ? कोई भी नहीं करेगा ।

जीव कर्म ही से उत्तम जाति पाते हैं और नीच जाति भी उन्हें कर्म ही से मिलती है । ऐसी—कर्म से मिलनेवाली—अनित्य जाति को पा कर कौन मनुष्य इन का मद करेगा ? कोई भी नहीं करेगा ।

अब लाभ मद कैसे जीता जाता है सो बताया जायगा ।

अन्तरायक्षयादेव लाभो भवति नान्यथा ।
ततश्च वस्तुतत्त्वज्ञो नो लाभमदमुद्वहेत् ॥

भावार्थ—लाभ, लाभान्तराय कर्म के क्षय होने ही से होता है, अन्यथा नहीं। इस लिए वस्तु के तत्त्व को जाननेवाले पुरुषों को लाभ का मद नहीं रखना चाहिए।

किसी भी वस्तु की प्राप्ति में अथवा अप्राप्ति में शुभाशुभ कर्म ही कारण होता है। शुभ कर्म के उदय से और अशुभ कर्म के क्षय से लाभ होता है। इस लिए जिस समय लाभ हो उस समय लेश मात्र भी मद नहीं करना चाहिए। बल्के यह सोचना चाहिए कि मेरे पूर्व के शुभ कर्मों का क्षय हुआ है। इस क्षति में मद करना कैसा ? कहा है कि—

परप्रसादशक्त्यादिभवे लाभे महत्यपि।
न लाभमदस्पृच्छन्ति महात्मानः कथंचन॥

भावार्थ—दूसरों की कृपा से; दूसरों की शक्ति से बहुत बड़ा लाभ होता है तो भी महात्मा लोग किसी भी तरह से लाभ का मद नहीं करते हैं।

अब कुल मद त्यागने का उपाय बताया जायगा।

अकुलीनानपि प्रेक्ष्य प्रज्ञाश्रीशीलशालिनः।
न कर्तव्यः कुलमदो महाकुलभवैरपि॥
किं कुलेन कुशीलस्य सुशीलस्यापि तेन किं।
एवं विदन् कुलमदं विदध्याद् न विचक्षणः॥

भावार्थ—अकुलीन—नीचकुल में उत्पन्न हुए हुए—मनुष्यों

को भी ज्ञान, लक्ष्मी और सदाचार वाले देख कर, ऊँचे कुलोद्भव-ऊँचे कुल में जन्मे हुए मनुष्यों को कुल का मद नहीं करना चाहिए।

यदि मनुष्य कुशील--दुराचारी--है तो फिर उस के कुलीन होने से क्या है ? और जो सुशील है, सदाचारी है उस को भी कुल का प्रयोजन है ? ऐसे समझ कर बुद्धिमान मनुष्यों को कुल का मद नहीं करना चाहिए।

संसार में अकुलीन मनुष्य भी लक्ष्मी आदि पदार्थों से सुशोभित देखे जाते हैं। इस का कारण यह है कि, उन्हों ने पूर्वभव में पुण्य का तो संचय किया है; परन्तु साथ ही नीच गोत्र कर्म भी बाँधा है, इस लिए इस भव में वे नीच कुल में उत्पन्न हुए हैं। कई कुलीन ज्ञान, धन धान्यादि समृद्धि से रहित होते हैं, इस का कारण यह है कि, उन्हों ने उच्च गोत्र का कर्म तो बाँधा है; परन्तु पुण्य उपार्जन नहीं किया है। इस लिए सब को शुभाशुभ कर्म की रचना समझ कर, कुल मद नहीं करना चाहिए।

अहो ! जो मनुष्य बुरी आदतों का दास बन रहा है उस को कुल मद करने से क्या लाभ है ? और जिस को सदाचार से स्वाभाविक प्रेम है, उस को भी कुल से क्या लाभ होनेवाला है ? उच्च कुल से लोगों में ख्याति भले मिल जाय;

परन्तु निजात्मा का उस से कुछ भला होनेवाला नहीं है; परमार्थ उस से कुछ सधनेवाला नहीं है। इतना ही क्यों, यदि उत्तम कुल पाप-बंधन का हेतु हो; तो उस को अपना ही घात करनेवाला शस्त्र समझना चाहिए। क्यों कि यदि उस को उच्च कुल नहीं मिला होता तो वह पाप कर्मों का बंध करनेवाले विचार नहीं करता; प्रत्युत वह न्यूनता के ही विचार करता है। यह सदा याद रखना चाहिए कि अच्छी चीज भी अच्छे भाव-वालों ही को लाभदायक होती है।

ऐश्वर्य मद के लिए कहा है:—

> श्रुत्वा त्रिभुवनैश्वर्यसंपदं वज्रधारिणः ।
> पुरग्रामधनादीनामैश्वर्ये कीदृशो मदः ?
> गुणोज्ज्वलादपि भ्रश्येद् दोषवन्तमपि श्रयेत् ।
> कुशीलस्त्रीवदैश्वर्यं न मदाय न विवेकिनाम् ॥

भावार्थ—त्रिभुवन का ऐश्वर्य इन्द्र की संपदा है। उन के ऐश्वर्य की बात सुन कर भी नगर, ग्राम, धन, धान्यादि का मद करना सोहता है क्या? नहीं सोहता।

दुराचारिणी स्त्री की तरह, जो ऐश्वर्य गुणवान पुरुष का (आश्रय ले कर) त्याग भी कर देता है और दुराचारी पुरुष का भी आश्रय ले लेता है; ऐसे ऐश्वर्य का विवेकी पुरुषों को कब मद होता है!

सोचो कि इन्द्र की ऋद्धि के सामने मनुष्य की ऋद्धि किस हिसाब में है ? जब यदि किसी गिनती में नहीं है–तुच्छ है तब फिर ऐसे ऐश्वर्य का मद करना क्या व्यर्थ नहीं है ? समय आने पर इन्द्र भी अपनी सम्पत्ति को छोड़ जाता है तो फिर मनुष्य की तो बात ही क्या है ? इस लिए अनित्य लक्ष्मी के लिए नित्य आत्मा को दुखी करना, बुद्धिमानों के लिए अनुचित है।

ऐश्वर्य किसी को गुणवान समझकर, उस के पास नहीं जाता है, इसी तरह किसी को दुर्गुणी समझ कर उस से दूर नहीं भागता है। उस के आने और जाने का आधार मात्र पूर्व पुण्य है। पुण्य क्षय होने से वह भी क्षय हो जाता है और पुण्य की बढ़ती में वह भी बढ़ता जाता है। तात्पर्य यह है कि जो पुण्याला होते हैं उन्हीं को ऐश्वर्य मिलता है। मगर पुण्य को भी अन्त में छोड़ देना पड़ता है। त्याज्य होने पर भी मोक्ष में जाने योग्य बनने के लिए, पुण्य परंपरा से, कारण है इसी लिए, शास्त्रकारोंने पवित्र पुण्य का आश्रय ग्रहण किया है। अतः पुण्य उपार्जन करने का भी प्रयत्न करना चाहिए; परन्तु ऐश्वर्य का मद तो कदापि नहीं करना चाहिए।

अब बल मद को छोड़ देने का आदेश देते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

महाबलोऽपि रोगाद्यैरबलः क्रियते क्षणात् ।
इत्यनित्यबले पुंसां युक्तो बलमदो न हि ॥
बलवन्तोऽपि जरसि मृत्यौ कर्मफलान्तरे ।
अबलाश्चेत्ततो हन्त ! तेषां बलमदो मुधा ॥

भावार्थ—महाबलवान पुरुष भी रोगादि के कारण क्षण मात्र में निर्बल हो जाता है। ऐसे अनित्य बल का मनुष्यों को मद नहीं करना चाहिए।

बलवान पुरुष भी जब बुढापे के सामने, मौत के सामने और कर्मों के अन्यान्य फलों के सामने निर्बल हो जाते हैं तब उन का बल मद करना वृथा है।

प्राय: देखा जाता है कि—आत्मबल विकसित करके उस का कोई मद नहीं करता। मद करते हैं लोग शरीर का। भाइयो! सोचो, जब कि बल का आश्रय रूप जो शरीर है, वह भी सर्वथा नाशवान है, तब उसमें से उत्पन्न होनेवाला बल तो नाशवान होवेहीगा। इसलिए ऐसे नाश होनेवाले बल का मद करना बुद्धिमानों को नहीं सोहता।

बल यदि बुढापे का, मृत्यु का और अन्य कर्मों का नाश करता हो तो उस का मद करना उचित भी हो सकता है; परन्तु वह तो उल्टा उनसे,—जरा, मृत्यु और कर्म से नष्ट हो जाता है। बुढापेने बड़े बड़े योद्धाओं को जर्जरित किया है। बलवान

पुरुषों को भी मौत क्षण मात्र में उठा ले गई है। कर्म राजाने बड़े बड़े शक्ति शालियों को पराधीन बना दिया है। इस से स्पष्ट है कि, बल कर्माधीन है; वह पराधीन चीज है। ऐसी पराधीन चीज का मद चतुर पुरुषों की चतुराई को कलंकित करता है।

अब छठवें रूप मद को भी छोड़ देने की शास्त्रकार सूचना देते हैं—

सप्तधातुमये देहे चयापचयधर्मणः ।
जरारुजादिभावस्य को रूपस्य मदं वहेत् ॥
सनत्कुमारस्य रूपं क्षणात्क्षयमुपागतम् ।
श्रुत्वा सकर्णः स्वप्नेऽपि कुर्याद् रूपमदं किल ? ॥

भावार्थ—जो रूप सात धातुओं वाले शरीर में बढ़ते और घटते रहने का धर्मवाला है; बुढापा रोग आदि भावों का जिस में निवास है ऐसे रूप का मद कौन करे ? कोई नहीं।

सनत्कुमार चक्रवर्ती का रूप भी क्षणवार में नष्ट हो गया। यह बात सुनकर, क्या कोई स्वप्न में भी रूप का मद करेगा ?

रूप सदैव शरीर का साथी है। इसलिए यह बात निर्विवाद है कि शरीर की अवस्था के अनुसार रूप की भी अवस्था होती है। नाश होना, मोटा होना दुबला होना आदि शरीर के जो स्वाभाविक धर्म हैं, वेही धर्म रूप में भी हैं। शरीर में तो एक विशेषता है कि वह धर्म का साधन है; परन्तु रूप तो धर्म का

भी साधन नहीं हैं। कुरूप सुन्दर रूप विनाके—जीव भी शरीर की सहायता से उच्च श्रेणी पर चढ गये हैं।

शास्त्रकारोंने जब यह आज्ञा दी है कि शरीर का भी मद नहीं करना चाहिए, तब रूप का मद करना तो वह बताही कैसे सकते हैं? यह सोचने का कार्य हम बुद्धिमान मनुष्यों को सौंपते हैं कि रूप का मद करनेवाले मनुष्य बुद्धिमान हैं या मूर्ख ?

सनत्कुमार चक्रवर्ती के समान धर्मात्मा पुरुषने भी जब रूप का मद किया तब तत्काल ही उस का रूप नष्ट हो गया। साथ ही सात महारोगोंने उनके शरीर में प्रवेश किया। इस महा पुरुष का संक्षिप्त वृत्तान्त और उससे उत्पन्न होनेवाली भावनाओं का आगे विवेचन किया जायगा। यहाँ तो हम केवल इतना ही बताना चाहते हैं, कि ऐसे महापुरुष के लिए भी असह्य वेदना का कारण हो गया है तब अपने समान पामर पुरुषों का रूप का मद कितना कष्टदायी हो सकता है ! यह बात कल्पना के बाहिर की है।

तपमद को छोड़ने की शिक्षा देते हुए शास्त्रकार फरमाते हैं:-

नाभेयस्य तपोनिष्ठां श्रुत्वा वीरजिनस्य च।
को नाम स्वल्पतपसि स्वकीये मदमाश्रयेत् ? ॥
येनैव तपसा त्रुट्येत् तरसा कर्मसंचयः।
तेनैव मददिग्धेन वर्धते कर्मसंचयः ॥

भावार्थ--ऋषभदेव स्वामी की और श्रीवीरप्रभु की तप में जैसी दृढता थी उस को सुनकर, कौन ऐसा मनुष्य होगा जो अपने थोडे से तप मद का आश्रय करेगा ?--थोड़े से तप का मद करेगा ? जिस तप से शीघ्रही कर्म--संचय नष्ट होता है, वही तप यदि मद सहित किया जाता है तो उस से कर्म--संचय बढ़ जाता है।

पहिले तीर्थंकर श्रीऋषभदेव भगवान की और अंतिम तीर्थंकर श्रीमहावीर भगवान की तपस्या अन्यान्य बाईस तीर्थंकरों से अधिक है। इसीलिए यहाँ उन का दृष्टान्त दिया है।

श्रीऋषभदेव भगवानने एक वर्ष तक आहार नहीं लिया था, इस का कारण यह था कि उस समय में लोग अन्नदान देना नहीं जानते थे। इसलिए वे भगवान के सामने हाथी, घोड़ा, रथ, कन्या और धन आदि ग्रहण करने को उपस्थित करते थे; परन्तु भगवान को वे कल्पते न थे, वे उनके लेने योग्य नहीं थे. इसलिए भगवान उनको नहीं लेते थे। एक वर्ष के अंत में श्रेयांस कुमारने पारणा कराया। एक वर्ष तक किसी की बुद्धि दान देने की ओर नहीं झुकी। इस का मुख्य कारण यह था कि, पूर्व भव में भगवान के जीवने अन्तराय कर्म बाँधा था। वह श्री ऋषभदेव स्वामी के भव में उदित हुआ। क्योंकि किये हुए कर्म भोगे विना नहीं छूटते हैं। कहा है कि--

उदयति यदि भानुः पश्चिमायां दिशायां,

प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वह्नि।

विकसति यदि पद्मं पर्वताग्रे शिलायां;
तदपि न चलतीयं भाविनी कर्मरेखा ॥

भावार्थ—यदि सूर्य पश्चिम दिशा में उगने लगे; मेरु चलित हो जाय; अग्नि शीतल हो जाय; और कमल पर्वत की चोटी पर शिला के ऊपर खिल जाय तो भी जो भावी है; जो कर्म रेखा है; जो होनहार है वह कभी नहीं टलता है।

कर्म की प्रधानता को अन्य धर्मावलंबी भी स्वीकार करते हैं। देखो। जिस समय वसिष्ठऋषिने रामचंद्रजी को गद्दी पर बिठाने का मुहूर्त बताया था, उसी समय उन्हें वन में जाना पड़ा था। इसी लिए कहा है किः

कर्मणो हि प्रधानत्वं किं कुर्वन्ति शुभा ग्रहाः ?
वशिष्ठदत्तलग्नोऽपि रामः प्रव्रजितो वने ॥ ×

उस समय रामचंद्रजीने क्या विचार किया था ?

यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति;
यच्चेतसा न गणितं तदिहाभ्युपैति ।
प्रातर्भवामि वसुधाधिपचक्रवर्ती;
सोहं व्रजामि विपिने जटिलस्तपस्वी ॥

× इस का भावार्थ इसी श्लोक के ऊपर आ चुका है।

भावार्थ—जिसका मैंने विचार किया था वह अत्यंत दूर जा रहा है और जिस का भूलकर भी विचार नहीं किया था वह पासमें आ रहा है। प्रातःकाल ही मैं पृथ्वी का नाथ चक्रवर्त्ती होनेवाला था परन्तु (सवेरे होने के पहिले ही) मैं इसी समय जटाधारी तपस्वी बनकर वन में जारहा हूँ।

इससे स्पष्ट है कि, प्रत्येक दर्शनवालोंने येनकेन प्रकारेण—किसी न किसी तरहसे—कर्म की प्रधानता को स्वीकार किया है। ईश्वर के कर्तृत्व स्वीकारनेवालों को भी अन्त में कर्म ही का आधार लेना पड़ा है। इस की अपेक्षा तो पहिले ही से कर्म को मानना विशेष अच्छा है।

प्रशंगवश थोड़ासा कर्म का विवेचन कर फिर हम अपने विषय पर आते हैं। श्रीऋषभदेव भगवानने वार्षिक तपस्यादि अनेक तपस्याएँ कीं; घोर परिग्रह और उपसर्ग सह घाति कर्मों का क्षय किया; केवलज्ञान पाया और अनेक प्राणियों को शिव-सुख का मार्ग बताया। इसी भाँति श्रीमहावीर प्रभुने भी घोर तपस्या की थी। इस देशना के प्रारंभ में—उपोद्घात में—उस का दिग्दर्शन कराया जा चुका है। इसलिए यहाँ इतना ही कहना काफी होगा कि—उन लोकोत्तर पुरुषों की तपस्या के सामने अपनी तपस्या—जिस को हम घोर तपस्या समझते हैं— तुच्छ है। ऐसी तुच्छ तपस्या का गर्व करना क्या उचित है? जिस तप के द्वारा निकाचित कर्म भी क्षय हो जाते हैं; उसी तप के द्वारा,

यदि उस का गर्व किया जाय, तो निकाचित कर्म का बंध भी हो जाता है। पाठक यदि इसका विचार करेंगे तो कदापि मद नहीं करेंगे।

करुणासागर प्रभु आठवें श्रुत मद का बहिष्कार करने के लिए इस तरह फर्माते हैं:—

> स्वबुद्ध्या रचितान्यन्यैः शास्त्राण्याघ्राय लीलया।
> सर्वज्ञोऽस्मीति मदवान् स्वकीयाङ्गानि खादति॥
> श्रीमद्गणधरेन्द्राणां श्रुत्वा निर्माणधारणम्।
> कः श्रयेत श्रुतमदं सकर्णहृदयो जनः?॥

भावार्थ—दूसरों के—दूसरे आचार्यों के—बनाये हुए शास्त्रों की, निज बुद्धि के अनुसार, खेलसे सुगंध लेकर जो मनुष्य उसका मद करता है; अपने आप को सर्वज्ञ बताने लगता है; वह मनुष्य अपने ही शरीर को खाता है—अपनी आत्मा को हानि पहुँचाता है।

श्रीमान् श्रेष्ठ गणधरों की रचना—ग्रंथ बनाने की—और धारणा—याद रखने की—शक्ति की बात सुनकर, कौन तात्त्विक अन्तःकरणवाला मनुष्य श्रुतमद का आश्रय लेगा?—कौन अपनी विद्वत्ता का गर्व करेगा? कोई नहीं!

कुशाग्र बुद्धिवाले आचार्य महाराजों ने अपनी बुद्धि का सदुपयोग कर के, लीलासे, अनेक शास्त्र बनाये हैं। तो भी

उन्हों ने कभी, लेश मात्र भी, गर्व नहीं किया। उन के बनाये हुए ग्रंथ इस के प्रमाण हैं। पामर मनुष्य इस प्रकार के ग्रंथ तो नहीं बना सकता। केवल उन आचार्यों के बनाये हुए पाँच पचीस ग्रंथ बाँच कर, गर्व करने लग जाता है। इस से वह प्रामाणिक लोगों की दृष्टि में मूर्ख जँचता है और कीर्ति के बदले अपकीर्ति पाता है। वह उन्नत होने के बजाय, अवनत होता है; इस लिए शास्त्रकारों ने उस को 'निज शरीर को खाने वाला' जो विशेषण दिया है वह बहुत ही ठीक दिया है।

श्री गणधर महाराजों की चमत्कार शक्ति के सामने, उस की—पाँच पचीस ग्रंथ पढ़नेवाले की—शक्ति तुच्छ है। उन की सूर्य रूपी शक्ति के सामने हम उस को जुगनू भी नहीं बता सकते हैं। विचार करने की बात है कि, जिन महानुभावों ने केवल त्रिपदी के आधार पर द्वादशांगी की रचना की—श्री अर्हतदेव के आशय को पूर्णतया उस में संकलित कर दिया; जिन की धारणा—स्मरण—शक्ति और ग्रंथ—रचना शक्ति देवों को भी आश्चर्य में डालती है। ऐसे गणधरों ने भी जब कभी किसी जगह मदांश प्रकट नहीं किया; मद को ज़हर समझ कर लेश मात्र भी मद नहीं किया; तब बेचारे पामर जीव की शक्ति, भक्ति और व्यक्ति फिर किस गिनती में है?

इस लिए हे चेतन! श्रुत मदादि कोई भी मद न कर; और निर्मद होकर निःसीम सुख का भागी बन।

ऊपर मान के—आठों मदों के—भिन्न २ स्वरूपों का विचार किया अब उस का सामान्यतः समुच्चय—स्वरूप का विचार किया जायगा।

कहा है कि—

उत्सर्पयन् दोषशाखां गुणमूलान्यधो नयन्।
उन्मूलनीयो मानद्रुस्तन्मार्दवसरित्पूरैः॥

भावार्थ—दोष रूपी शाखाओं को फैलानेवाले, और गुण रूपी जड़ों को नीचे ले जानेवाले—गुणों को दबा देनेवाले—मान रूपी वृक्ष को मार्दव—सरलता—रूपी नदी के पूर से उखाड़ कर फैंक देना चाहिए।

इस मानरोग को नाश करने की इच्छा रखनेवाले मनुष्यों को मृदुता—कोमलता—रूपी औषध का सेवन करना चाहिए।

कहा है कि:—

मार्दवं नाम मृदुता तच्चौद्धत्यनिषेधनम्।
मानस्य पुनरौद्धत्यं स्वरूपमनुपाधिकम्॥
अन्तः स्पृशेद्यत्र यत्रौद्धत्यं जात्यादिगोचरम्।
तत्र तस्य प्रतिकारहेतोर्मार्दवमाश्रयेत्॥

भावार्थ—मान का स्वाभाविक रूप उद्धतता—अविनीतता—है। इस को दूर करनेवाला मार्दव—मृदुता—है।

अन्तःप्रवेश में—हृदय में जिस जिस जगह पर जाति मद आदि आठ मद संबंधी उद्धता—गर्व—उत्पन्न हो; उसी उसी जगह उस का प्रतिकार करने के लिए—उस को नष्ट करने के लिए—मार्दव भावों को भर देना चाहिए।

रोग की शान्ति के लिए बुद्धिमान मनुष्य जैसे योग्य औषधोपचार करते हैं; उसी भाँति जहाँ जहाँ आठ मद का संबंध हो, वहाँ वहाँ कोमलता का उपयोग करना चाहिए। मद रूपी रोग को नष्ट करने में मृदुता सर्वोत्कृष्ट औषध है। मृदुता गुण को धारण करनेवाले पुरुष सदैव सुखी रहते हैं।

उदाहरणार्थ, एक पुष्प लो। पुष्प की मृदुता जगत में प्रसिद्ध है। भँवरा कठोर से भी कठोर वस्तु को भेद करके उस में प्रवेश करने की शक्ति रखता है। शक्ति ही नहीं, उस का स्वभाव ही ऐसा है; परन्तु वह भी पुष्प को, कोमल स्वभावी समझकर, दुःख नहीं देता है। जब कि भ्रमर के समान प्राणी भी कोमल के साथ कोमलता धारण कर लेता है, तब दूसरे की तो बात ही क्या है? इसलिए मृदुता धारण करना ही श्रेष्ठ है।

कहा है कि—

सर्वत्र मार्दवं कुर्यात् पूज्येषु तु विशेषतः।
येन पापाद्विमुच्येत पूज्यपूजाव्यतिक्रमात् ॥

भावार्थ— मृदुता सब ही जगह रखनी चाहिए; परन्तु

पूज्य पुरुषों के सामने तो विशेष रूप से रखनी चाहिए। इस से मनुष्य पूजनीय की पूजा के व्यतिक्रम से—पूजा करने में कुछ भूल करदी हो उस से—जो पाप लगा हो उस पाप से मुक्त हो जाता है।

मान के लिए बाहुबली का हृदयभेदक दृष्टान्त बहुत ही विचार करने योग्य है।

बाहुबली का दृष्टान्त।

मानाद्बाहुबलीबद्धो लताभिरिव पादपः।
मार्दवात्तत्क्षणान्मुक्तः सद्यः संप्राप केवलम् ॥

भावार्थ—वृक्ष जैसे लताओं से घिरा रहता है उसी भाँति बाहुबली मानरूपी लता से आबद्ध हो गये—बँध गये थे। मगर सरलता के कारण से वे बंधन रहित हो गये। इससे उन्हें तत्काल ही केवलज्ञान उत्पन्न हो गया।

बहुबली की कथा संक्षेप में इस प्रकार है।

बाहुबली चक्रवर्ती भरत के छोटे भाई थे। बहलिक नामा देशके वे स्वामी थे। भरत जब छः खंड पृथ्वी को जीत कर वापिस अयोध्या में आये तब चक्ररत्नने आयुधशाला में प्रवेश नहीं किया। मंत्रियोंने कहा:—" महाराज हमें अभी और देश जीतने हैं। क्योंकि जब निज गोत्रवाले ही आज्ञा नहीं मानते हैं तब दूसरा कौन आज्ञा मानेगा ? "

मंत्रियों की बातों से, और चक्ररत्न के आयुधशाला में प्रवेश नहीं करने के कारण से, भरतने बाहुबली के पास दूत भेजा। दूत बाहलिक देश को देख कर चकित हो गया। वहाँ उसने हजारों चमत्कार देखे। उस देश में भरत का कोई नाम भी नहीं जानता था। 'भरत' शब्द का व्यवहार स्त्रियों की साड़ियों में और काँचलियों में—जो काम किया जाता था उसीके लिए होता था।

धीरे धीरे वह दूत उस देश की मुख्य नगरी 'तक्षशिला' में पहुँचा। बाहुबली की आज्ञा मँगवा कर उसने दर्बार में प्रवेश किया। साम, दाम, दंड और भेदवाले वचनों से दूतने यथा-योग्य अपना कार्य किया। बाहुबली दूत की बातों से कुपित हुए; परन्तु दूत को अवध्य समझकर, उस को अपमान के साथ सभा से बाहिर निकलवा दिया।

दूतने वापिस आकर, निमक मिरच लगाकर घटित घटना सुनाई। और भरत राजा को लड़ने के लिए तैयार किया। बाहु-बली भी उधर लड़ने को तैयार हो गये। पूर्व और पश्चिम समुद्र आकर जैसे एकत्रित होते हैं वैसे ही दोनों तरफ की सेनाएँ आमने सामने आ खड़ी हुई। युद्ध प्रारंभ होने में केवल आज्ञा ही की देरी थी।

उस समय देवता, यह सोच कर बीच में पड़े कि—

युद्ध में विनाही कारण हजारों मनुष्यों का वध होगा। उन्होंने दोनों भाईओं के आपस में युद्ध करने का प्रबंध किया। दोनों का युद्ध आरंभ हुआ। उनका युद्ध देखने के लिए मध्यस्थ भावसे, एक ओर देव, दानव, यक्ष, राक्षस, किन्नर और विद्याधर खड़े हुए और दूसरी तरफ़ उन दोनों की सेना। दोनों में पाँच प्रकार का युद्ध हुआ। (१) दृष्टि युद्ध, (२) वाक् युद्ध (३) बाहु युद्ध (४) दंड युद्ध, और (५) मुष्टि युद्ध।

पहिलेके चारों युद्धों में बाहुबलीने भरत राजा को परास्त कर दिया। इस से राजा भरत का मुख म्लान हो गया। बाहुबलीने उनको उत्साहित कर मुष्टि युद्ध के लिए तत्पर किया। पहिले भरतने बाहुबली के ऊपर मुष्टि का प्रहार किया, जिससे बाहुबली घुटने तक पृथ्वी में घुस गये; क्षणवार आँखें बंद रहनेके बाद बाहुबली को चेत हुआ। उनके मुष्टि प्रहार का समय आया। उन्होंने मुक्का मारने के लिए हाथ उठाया। भरत और बाहुबली दोनों उस भव में मोक्ष जानेवाले थे। इससे उसी समय इनको विचार हुआ-" यदि भरतके मुक्का लगजायगा तो तत्काल ही यह मर जायगा। खेद है कि, इस विनश्वर राज्य के लिए मैं उभय लोक में निन्द्य कार्य करने के लिए तैयार हुआ हूँ। मगर वैसे ही, ऊँचा किया हुआ हाथ नीचे करलेना उचित नहीं है।" ऐसा सोच कर उन्होंने जो हाथ भरत पर मुक्का मारने के लिए उठाया था उसी हाथ को उन्होंने अपने मस्तक पर डाला

और अपने केशों का लोच कर लिया। बाहुबली द्रव्य और भावसे परिग्रह के त्यागी बन गये। कहा है कि—

इत्युदित्वा महासत्त्वः सोऽग्रणीः शीघ्रकारिणाम्।
तेनैव मुष्टिना मूर्ध्न उद्दघ्रे तृणवत् कचान्॥

भावार्थ—इस प्रकार सतोगुण के उदित होने पर, शीघ्र कार्य करनेवालों में सदैव आगे रहनेवाले उसने—बाहुबलीने—उसी मुष्टिसे घास की तरह अपने शिरसे बालों को उखाड़ डाला।

अपने भाई को त्यागी हुए देख भरत महाराज की इस प्रकार स्थिति हुई।

भरतस्तं तथा दृष्ट्वा विचार्य स्वकुकर्म च।
बभूव न्यञ्चितग्रीवो विविक्षुरिव मेदिनीम्॥ १॥
शान्तं रसं मूर्त्तमिव भ्रातरं प्रणनाम सः।
नेत्रजैरश्रुभिः कोष्णैः कोपशेषमिवोत्सृजन्॥ २॥
सुनन्दानन्दनमुनेर्गुणस्तवनपूर्विकाम्।
स्वनिन्दामित्यथाकार्षीत् स्वापवादगदौषधीम्॥ ३॥

भावार्थ—भरत महाराज, उनको—बाहुबली को—वैसी स्थिति में देख—साधु बने देख—अपना कुकर्म विचार नीचा मुँह करके खड़े हो गये। नीचा मुख करके खड़े हुए वे ऐसे मालूम होते थे मानो वे पृथ्वी में घुस जाना चाहते है।

२–मूर्तिमान शान्तरस अपने भाई को भरतने नमस्कार किया। उस समय उसकी आँखोंसे कुछ गरम आँसू की बूँदे निकल पड़ीं। वे ऐसी मालूम हुई मानो उसने अपने हृदय में बचे हुए कोप को आँसुओं के द्वारा निकालकर फैंक दिया है।

३–बाहुबली मुनि के गुणों का स्तवन करने के बाद, अपने अपवाद रूपी रोग की महा औषधि आत्मनिंदा करने लगे।

भरत महाराजने अपने अपवाद रूपी रोग को शान्त करने के लिए आत्म-निंदा करते हुए बाहुबली मुनिसे इसभाँति क्षमा माँगने लगेः—

धन्यस्त्वं तत्यजे येन राज्यं मदनुकम्पया।
पापोऽहं यदसन्तुष्टो दुर्मदस्त्वामुपाद्रवम् ॥ १ ॥
स्वशक्ति ये न जानन्ति ये चान्यायं प्रकुर्वते।
जीवन्ति ये च लोभेन तेषामस्मि धुरंधरः ॥ २ ॥
राज्यं भवतरोर्बीजं ये न जानन्ति तेऽधमाः।
तेभ्योऽप्यहं विशिष्ये तदजहानो विदन्नपि ॥ ३ ॥
त्वमेव पुत्रस्तातस्य यस्तातपन्थमन्वगाः।
पुत्रोऽहमपि तस्य स्यां चेद् भवामि भवादृशः ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे बन्धु मुझ पर दया करके तुमने राज्य छोड़ दिया इसलिए तुम धन्य हो! मैं पापी हूँ जिस से कि, मैंने असन्तोष और दुर्मद के वश में होकर तुम को कष्ट पहुँचाया।

२–जो लोग अपनी शक्ति को नहीं जानते हैं; जो अन्याय करते हैं और जो लोभ से अपना जीवन बिताते हैं; उन सब में मैं धुरंधर हूँ–बड़ा हुआ हूँ। (अर्थात्–मैं अपनी शक्ति को नहीं जानता हूँ; अन्याय करता हूँ और लाभ के वश में अपना जीवन बिताता हूँ।)

३–जो यह नहीं जानते हैं कि, राज्य संसार रूपी वृक्ष का बीज है, वे अधम हैं; परन्तु मैं तो उनसे भी विशेष अधम हूँ; क्योंकि मैं यह जानते हुए भी राज्य का परित्याग नहीं करता हूँ। (इस कथन का अभिप्राय यह है कि, वास्तविक जानकार वही होता है जो किसी वस्तु को यदि अनिष्ट समझता है, तो उस को छोड़ देता है । मगर जो ऐसा नहीं करते हैं और केवल बातें बनाते हैं वे संसार को ठगनेवाले हैं।)

४–तूही अपने पिता का वास्तविक पुत्र हैं; क्योंकि तूने उनके मार्ग का अनुसरण किया है। मैं भी उसी समय उन का वास्तविक पुत्र कहलाने योग्य होऊँगा; जब तेरे समान बन जाऊँगा ।

ततो बाहुबलिं नत्वा भरतः सपरिच्छदः ।
पुरीमयोध्यामगमत् स्वराज्यश्रीसहोदराम् ॥

भावार्थ—तत्पश्चात् भरत बाहुबली को नमस्कार कर, सपरिवार स्वर्ग की समानता करनेवाली अयोध्या नगरी में गये ।

भरत महराजने अन्तःकरण पूर्वक उक्त प्रकार से महात्मा बाहुबली की स्तुति और आत्मनिन्दा की। इससे उन को द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की लक्ष्मी प्राप्त हुई। फिर वे अपने स्थान को चले गये।

इधर बाहुबली भी श्रीप्रभु के पास जाने का विचार करने लगे। उसी समय मान महाशत्रु उन के आगे आ खड़ा हुआ। वे सोचने लगे कि—क्या मैं जाकर अपने छोटे भाइयों को—जिन्होंने मेरे पहिले दीक्षा ग्रहण की है—नमस्कार करूँ? नहीं। तब मुझ को चाहिए कि मैं पहिले, तपस्या करके अपने घाति कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त कर लूँ और फिर भगवान के पास जाऊँ। ऐसा सोचकर वहीं खडे हुए ध्यान करने लगे।

एक वर्ष पर्यंत आहार पानी लिए विना, वे एक वर्ष पर्यंत स्थाणु—शाखाहीन वृक्ष की भाँति खडे रहे। पक्षियोंने उन की दाढी मूँछ में घोंसले बनाये। पशु उन को एक वृक्ष समझ कर, उनके शरीर से अपना शरीर घिस कर, खुजली मिटाने लगे।

इस प्रकार की घोर तपस्या करने पर भी मान के कारण बाहुबली को केवलज्ञान नहीं हुआ। अंत में करुणा समुद्र अंतर्यामी श्रीभगवान ने ब्राह्मी और सुन्दरी को जो पहिले ही से साध्वियाँ हो चुकी थीं, बाहुबली के पास, उन्हें उपदेश देने के लिए भेजा। भगवानने जिस स्थान पर बाहुबली का होना बताया

था उसी स्थान पर वे दोनों पहुँचीं; परन्तु वहाँ बाहुबली उन्हें नहीं दीखे। उन्हें भगवान के वचनों पर पूरा श्रद्धान था, इस लिए वे उसी स्थल को बारीकी से देखने लगी। लता से ढंके हुए बाहुबली अन्त में उन्हें दिखाई दिये। उन्हों ने मध्य स्वर में कहा:—

"हे बन्धु, गज से नीचे उतरो। जो गज पर—हाथी पर चढे रहते हैं उन्हें केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता है।" इतना कह कर वे अपने स्थान को चली गई।

उन के जाने बाद, धीर, वीर बाहुबली गंभीरता से सोचने लगे—"मैंने सारी राज्य—ऋद्धियाँ का त्याग कर दिया है, तो भी संयम धारिणी साध्वियों ने मुझ को हाथी से उतरने के लिए क्यों कहा? मेरे पास हाथी कहाँ है? मगर यह भी तो है कि—साध्वियाँ कभी मिथ्या नहीं बोलती हैं। तब उन्हों ने ऐसा कहा क्यों?"

इसी भाँति सोचते सोचते अन्त में उन्हें साध्वियों के कथन का रहस्य ज्ञात हो गया। उन्हों ने सोचा—"साध्वियों ने ठीक कहा था। मैं मान रूपी हाथी पर चढ़ रहा हूँ। 'हा! धिक! माम् धिक! सत्य है। मान रूपी हाथी पर चढ़े हुए पुरुष को कभी केवलज्ञान नहीं होता है। यह मेरी कैसी अज्ञानता है कि मैंने जगद्—वंद्य पुरुषों को नमस्कार करने में भी

मुझ को लज्जा मालूम हुई । अस्तु । भावी कभी अन्यथा होने-वाला नहीं है । ”

तत्पश्चात्—

इदानीमपि गत्वा तान् वंदिष्येऽहं महामुनीन् ॥
चिन्तयित्वेति स महासत्त्वः पादमुदक्षिपत् ॥
लतावल्लीव त्रुटितेष्वभितो घातिकर्मसु ॥
तस्मिन्नेव पदे ज्ञानमुत्पेदे तस्य केवलम् ॥

भावार्थ—‘ अब भी जा कर मैं उन महामुनियों को वंदना करूंगा । ’ ऐसा सोच कर महा सत्वशाली बाहुबली मुनिने जैसे ही चलने के लिए वहाँ से पैर उठाया, वैसे ही चारों तरफ लिपटे हुए लता तंतुओं की भाँति उन के घाति कर्म भी नष्ट हो गये । और उन को केवलज्ञान हो गया ।

उक्त दृष्टान्त से विदित होगा कि बाहुबली के समान सत्व-धारी-शक्तिशाली—महामुनि के तपः तेज को भी मानने दबा दिया और उन्हें केवलज्ञान नहीं पैदा होने दिया, तब पामर मनुष्यों के धर्मध्यान को नष्ट कर दे इस में तो आश्चर्य ही किस बात का है ?

और इसी लिए मोक्षाभिलाषी मनुष्यों को मान नहीं करना चाहिए । यदि प्रमाद से, या अज्ञान के उदय से मान आ भी

जाय तो बाहुबली महाराज के इस उदाहरण का स्मरण कर मान का त्याग करना चाहिए और आत्मानंदी बनना चाहिए।

एकान्त में बैठ कर घड़ी भर आत्म--साक्षी से विचार किया जाय तो यह बात हमें, अनुभवसिद्ध मालूम होगी कि, मान का फल मनुष्य को तत्काल ही मिल जाता है। जिस वस्तु का मनुष्य गर्व करता है, उसी वस्तु में, थोड़ी समय बाद, मनुष्य को, विकार उत्पन्न हुआ मालूम होता है। संभव है कि, किसी के पुण्य का तीव्र उदय हो, उसके कारण उसे अभिमान का फल न भी मिले। मगर यह तो निश्चित है कि, भवान्तर में उसे अपने कृत--मान का फल अवश्यमेव भोगना पड़ेगा।

यह कह दें तो भी अत्युक्ति न होगी कि, अभिमान मिथ्यात्व का पिता है--मिथ्यात्व को उत्पन्न करनेवाला है। क्योंकि मान धर्मात्मा मनुष्यों के मन रूपी मंदिर में घुसकर अपनी कदाग्रह रूपी दुर्गंधी फैलाता है और सद्भावना रूपी सुगंधीसे नष्टकर देता है--उससे--कदाग्रहसे--मनुष्य की तत्वान्वेषण बुद्धि--समान दृष्टिसे विवेकपूर्वक पदार्थ के स्वरूप को देखने की बुद्धि नष्ट हो जाती है। इस से वह वस्तु का स्वरूप सिद्ध करने में जहाँ उसकी मति होती है वहीं युक्ति को खींच ले जाता है। युक्ति जिस ओर बुद्धि को ले जाना चाहती है--युक्ति से जिस प्रकार वस्तु का स्वरूप सिद्ध होता है--वैसे वह नहीं होने देता।

जिस को कदाग्रह रूपी दुष्ट ग्रह लग गया, उस के लिए समझना चाहिए कि इस के दिन बुरे हैं—इस का भाग्य उल्टा हो गया है। क्यों कि कदाग्रही मनुष्य के हृदय में कभी सद्विचारों की स्फूर्ति नहीं होती है।

कई वार कदाग्रह को कुठार, अग्नि, विष, पत्थर, मिट्टी, राख, रोग, शोक आदि की जो उपमाएं दी जाती हैं। वे वास्तव में यथार्थ हैं—ठीक हैं। क्यों कि कुठार- कुल्हाड़ी- जैसे वृक्षों को नाश करता है, वैसे ही मान भी सदुध्यान रूपी वृक्ष का नाश कर देता है। अग्नि जिस प्रकार लता समूह का नाश कर उसे फूल फल देने से वंचित कर देती है, उसी तरह जिस के हृदय में कदाग्रह रूपी अग्नि लगती है वह सद्भावना रूपी बेल का नाश कर, समता रूपी पुष्प और हितोपदेश रूपी फल पाने से मनुष्य को वंचित कर देती है। विष जैसे मनुष्य के अवयवों को ढीले बना कर अनंत वेदना देने के बाद उस का प्राण लेता है इसी प्रकार जो मनुष्य कदाग्रह रूपी विष का पान कर लेता है; उसके सम्यग् ज्ञान रूपी शरीर के अवयव शिथिल हो जाते हैं; वह अज्ञान हो जाता है; दुश्चिता रूपी वेदना होती है और अन्त में उस के शुभ भाव प्राण नष्ट हो जाते हैं। पत्थर में जिस भाँति जल-बिन्दु प्रविष्ट नहीं हो सकता है उसी तरह जिसका हृदय कदाग्रह से पत्थर समान हो जाता है उसमें तत्त्व-जल प्रविष्ट नहीं हो सकता है। मिट्टी जैसे कांचन को मलिन

करती है वैसे ही कदाग्रह रूपी मिट्टी भी स्वच्छ आत्मा को कर्मरज से मलिन बना देती है। घृतादि पदार्थों में भस्म–राख गिर जाने से जैसे वे व्यर्थ हो जाते हैं, इसी भाँति, मनुष्य के हृदय में परमार्थ वृत्ति रूपी जो घृत होता है उस को मान रूपी राख गिर कर, व्यर्थ कर देता है। जैसे ज्वरादि रोग जिस शरीर में होते हैं, उस शरीरी को मिष्टान्न, घृत, दुग्ध आदि पदार्थ रुचिकर नहीं होते है; वैसे ही जिस का हृदय कदाग्रह रूपी रोग से बीमार हो जाता है उस मनुष्य को सत्य पदार्थ रूपी मिठाई, तत्त्व रुचि रूपी दूध और विवेक रूपी घृत अच्छे नहीं लगते हैं। शोक रूपी शंकु—काँटा—जिस के शरीर में घुस जाता है उस के मन वचन और काय म्लान हो जाते हैं, इसी तरह कदाग्रह रूपी शोक जिसके हृदय में प्रविष्ट होता है, उसके हृदय में देव, गुरु और धर्म इस त्रिपुटि के लिए ग्लानि रहा करती है। अर्थात् सुगुरु, सुदेव और सुधर्म को वह नहीं पहिचान सकता है।

इस प्रकार उक्त विशेषणों सहित कदाग्रह है। मुमुक्षु जीवोंने अभिमान को छोड़ देना चाहिए। जहाँ अभिमान का नाश हो जाता है वहाँ कदाग्रह प्रविष्ट होने का साहस नहीं कर सकता है। क्यों कि कारण विना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है।

इसि अभिमान से दुर्योधन की कैसी दुर्गति हुई थी ? दुर्योधन का हाल बच्चों से बूढ़ों तक सब जानते हैं।

श्री महावीर भगवान् के शासन में व्रत, नियम, स्वाध्याय और इन्द्रिय निग्रह करनेवाले कई मुनियों के भी निन्हव की छाप लगी थी। उस के मूल कारण की जाँच करेंगे तो मालूम होगा कि वह कदाग्रह था।

अभिमान ही से वितंडावाद कर के मनुष्य अपने जीवन को व्यर्थ नष्ट कर देते हैं। वे परभव में अनेक दुःख उठाते हैं। उस समय अभिमान उन की रक्षा नहीं करता; प्रत्युत जीव उस के कारण एक कोड़ी का हो जाता है।

निरभिमान पुरुष अहंकार, ममकार के शत्रु होते हैं। वे सत्य के पक्षपाती होते हैं। उन के हृदय पर विवेक, विनय, शम, दमादि का प्रकाश छा जाता है। जिस से वे वास्तविक ज्ञान दर्शन और चारित्र को देख सकते हैं। इसी भाँति इन्हें अन्य को भी वे दिखा सकते हैं। जिस समय मान का उदय नहीं होता उस समय मनुष्य गुणी के गुणगान कर सकता है।

स्वयंगुणी और गुणानुरागी पुरुष ही चारित्र और दर्शनगुण की प्राप्ति कर सकते हैं। इस के विपरीत अभिमान पर्वत पर चढ़े हुए गुण-द्वेषी मनुष्य वास्तविक वस्तु को न समझ सकने के कारण मिथ्यात्व की भूमि में स्थित होते होते हैं। श्रीमद्

यशोविजयजी महाराज अपने 'मार्गद्वात्रिंशिका' नामा ग्रंथ में लिखते हैं:—

> गुणी च गुणरागी च गुणद्वेषी च साधुषु ॥
> श्रूयन्ते व्यक्तमुत्कृष्टमध्यमाधमबुद्धयः ॥ ३० ॥
> ते च चारित्रसम्यक्त्वमिथ्यादर्शनभूमयः ॥
> अतो द्वयोः प्रकृत्यैव वर्तितव्यं यथाक्रमम् ॥ ३१ ॥

भावार्थ—गुणी, गुणानुरागी और साधु—द्वेषी ऐसे तीन प्रकार के मनुष्य; स्पष्टतया—सुने जाते हैं। वे क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम होते हैं; । वे चारित्र, सम्यक्त्व और मिथ्या-दर्शन की भूमि पर हैं वे क्रमशः चारित्रवान, सम्यक्त्वी और मिथ्यादृष्टी होते हैं। इस लिए विवेकी पुरुषों को चाहिए कि, वे यथाशक्ति प्रथम के दो प्रकार के मार्गों पर चलने का प्रयत्न करें।

भगवान ने क्रोध और मान की व्याख्या करने के बाद माया महादेवी का स्वरूप इस प्रकार प्रकट किया था।



माया का स्वरूप।

माया का सामान्य अर्थ होता है कपट, प्रपंच, छल, ठगी, दगा, विश्वासघात आदि। जो मनुष्य माया से मुक्त हैं वे

सदैव संसार से मुक्त रहते हैं और जो माया से बँधे हुए हैं वे सदैव संसार में बँधे ही रहते हैं। आत्म-कल्याण की इच्छा रखनेवाले मनुष्यों को सदैव माया से दूर रहना चाहिए। माया की जाल में जो मनुष्य फँसे होते हैं वे सदा सत्यव्रत से वंचित रहते हैं और अपने किये हुए दान, पुण्य, व सुकृत के फल से निराश होते हैं। माया सारे दुर्गुणों की खानि है।

कहा है कि—

> असूनृतस्य जननी परशुः शीलशाखिनः।
> जन्मभूमिरविद्यानां, माया दुर्गतिकारणम्॥

भावार्थ—माया, झूठ की माता है, ब्रह्मचर्य रूपी वृक्ष को काटनेवाली कुल्हाड़ी है; अविद्या की जन्मभूमि है और दुर्गति का कारण है।

मायावी मनुष्य अपना अभिमान रखने के लिए झूठ बोलते कभी नहीं रुकता। इतनाही नहीं झूठ बोलने में वह अपनी वीरता समझता है। अपने आचार विचारों को भी वह निर्भीक होकर छोड़ देता है। निन्दनीय दुर्गुण माया से प्राप्त होते हैं। दुर्गति तो इस से सहज ही में हो जाती है।

आज यह विश्वास नहीं हो सकता कि, इस पंचम काल में भी कोई मायाचार से बचा हुआ है। इस राक्षसी के पंजे में सब ही फँसे हुए हैं। प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य अपने

कार्यों को ठीक बताने का बहुत बड़ा प्रयत्न करते हैं; परन्तु होता इससे उल्टा है। वे माया रूपी नागिन को अपने हृदय में धारण कर आत्म-कल्याण के हेतु रूप तप, संयमादि कार्यों को क्षणवार में नष्ट भ्रष्ट कर देते हैं।

लोगों में ख्याति पाने के लिए वे अनेक प्रकार के कष्ट उठाने में आनंद मानते हैं। आत्मघाती होने का ढौंग कर महापुरुष बनने की लालसा रखते हैं। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो वे आत्म-क्लेशी बन, संसार सागर में सतानेवाली विष-क्रिया साधन करने में अगुआ बनते हैं। ऐसे मनुष्यों को ठग कह कर आत्म-स्वरूप से ठगाये हुए कहना चाहिए। ऐसे जीव बिचारे थोड़े के लिए बहुत खो देते हैं। इसके लिए 'हृदयप्रदीपषट्त्रिंशिका' में जो उपदेश दिया गया है वह वास्तव में अनुकरण करने योग्य है।

कार्यं च किं ते परदोषदृष्ट्या;
कार्यं च किं ते परचिन्तया च।
वृथा कथं खिद्यसि बालबुद्धे!
कुरु स्वकार्यं त्यज सर्वमन्यत्॥

भावार्थ—हे जीव! दूसरों के दोष देखने से तुझ को क्या मतलब है? दूसरों की चिंता करने से भी तुझे क्या है? हे

बाल बुद्धिवाले ! व्यर्थ दुःख क्यों करता है ? तूं अपना कार्य कर, दूसरा सब कुछ छोड़ दे ।

उक्त श्लोक के भाव को अपने हृदय पर लिख लेना चाहिए; तदनुसार चल आत्महित करना चाहिए। अमृत क्रिया का आश्रय लेना चाहिए। मगर यह उसी समय हो सकता है, जब माया का त्याग कर दिया जाय। इसलिए शक्तिभर माया का त्याग करने की चेष्टा करना चाहिए।

मायावी मनुष्य अपने आत्मा ही को धोखा देते हैं। कहा है कि—

कौटिल्यपटवः पापा मायया बकवृत्तयः ॥
भुवनं वञ्चयमाना वञ्चयन्ते स्वमेव हि ॥

भावार्थ—कुटिलता–कपट–करने में चतुर और माया से बगुले के समान वृत्ति धारण करने वाले पापी लोग जगत को ठगते हुए अपने आप को ही ठग लेते हैं।

अब भिन्न २ प्रकार की माया का–प्रपंच का–स्वरूपवर्णन किया जायगा। यहाँ पहिले राजप्रपंच का विचार किया जाता है। कहा है कि:—

कूटषाड्गुण्ययोगेन छलाद् विश्वस्तघातनात् ।
अर्थलोभाच्च राजानो वञ्चयन्तेऽखिलं जगत् ॥

भावार्थ—कपटपूर्वक षाड्गुण्ययोग अर्थात् संधि आदि, उप कार के छल से विश्वासु पुरुषों के घात करने से एवं अर्थ के लोभ से राजा लोग जगत् को ठगते हैं, अतएव वे राजा नहीं हैं, किन्तु सचमुच रंक ही हैं।

अब मुनिवेष को धारण कर के लोग कैसे दुनिया को ठगते हैं? इस का विचार किया जाता है। कहा है कि—

ये लुब्धचित्ता विषयादिभोगे
बहिर्विरागा हृदि बद्धरागाः ॥
ते दाम्भिका वेषभृतश्च धूर्ता
मनांसि लोकस्य तु रञ्जयन्ति ॥

भावार्थ—जिन का हृदय विषयादि भोगों में लुब्ध हो रहा है; जो अन्तरंग से रागी हैं और दिखाव वैरागी हैं; वे कपटी हैं; वेषाडंबरी धूर्त हैं। वे तो केवल लोगों के चित्त को प्रसन्न करने ही में लगे रहते हैं।

पाठकों को शंका होगी कि, लोग क्या मूर्ख हैं जो ऐसे धूर्त लोगों की बातों पर विश्वास करते हैं? इस के उत्तर में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि ऐसा ही होता है। कहा है कि—

मुग्धश्च लोकोऽपि हि यत्र मार्गे
निवेशितस्तत्र रतिं करोति।

धूर्तस्य वाक्यैः परिमोहितानां
केषां न चित्तं भ्रमतीह लोके ॥

भावार्थ—लोग भद्रिक हैं–भोले हैं। वे जिस मार्ग पर च-लाये जाते हैं उसी पर चलते हैं और उसी में आनद मानते हैं। क्यों कि इस संसार में धूर्त लोगों के वाक्यों पर मुग्ध हो कर किन लोगों का चित्तभ्रम नहीं हो जाता है ! (एक वार तो सब का हृदय अवश्यमेव भ्रम में पड़ जाता है। कपटी साधु जितना अनर्थ करता है उतना औरों से होना कठिन है।)

भारतवर्ष में लगभग बावन से–अट्ठावन लाख के लगभग नामधारी साधु हैं। उन में से कई ऐसे हैं कि जिन्हों ने कीर्ति और धनमाल आदि के आधीन हो कर अपने आचार को छोड़ दिया है; और उन्मत्त हो शास्त्र मार्ग का परित्याग कर स्वेच्छा-चार का वर्ताव कर रहे हैं।

हिन्दु धर्म शास्त्रो में–**मनुस्मृति, कूर्मपुराण, वराहपुराण, मत्स्यपुराण,** और **नरसिंहपुराण** आदि ग्रंथो में वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था है। उस व्यवस्था में सन्यासियों के लिए जो व्यवस्था है उस व्यवस्था के अनुसार, हम देखते हैं कि वे नहीं चलते हैं। हम थोड़ासा उस व्यवस्था का यहां उल्लेख करेंगे।

नरसिंहपुराण में ६० वें अध्याय के २१३ वें पृष्ठ पर लिखा है कि;—

ततः प्रभृति पुत्रादौ सुखलोभादि वर्जयेत् ।
दद्याच्च भूमावुदकं सर्वभूताभयङ्करम् ॥

भावार्थ—उस के बाद—मनुष्य वानप्रस्थाश्रम को छोड़ कर सन्यासी बनता है तब से—यावज्जीवन—मरण पर्यंत—पुत्रादि के सुख का और लोभ का त्याग करें; पृथ्वी पर जलांजुली छोड़े और सर्व प्राणियों को अभय करने वाली हो ऐसी प्रतिज्ञा करें ।"

दीक्षा से मरण पर्यन्त पुत्र, पुत्री, धन, दौलत आदि किसी पर किसी भी तरह का राग भाव न रक्खे और न किसी जीव को दुःख पहुंचाने वाली प्रवृत्ति ही करे । यानी इस प्रकार का व्यवहार करे जिस से किसी जीव को पीड़ा न पहुंचे । इस वाक्य से हिंसा प्रवृत्ति का निषेध किया गया है ।

और भी अन्यान्य पुराणों और स्मृतियों में लिखा है:

न हिंस्यात् सर्व भूतानि नानृतं वा वदेत् क्वचित् ।
नाहितं नाप्रियं ब्रूयान्न स्तेनः स्यात् कथंचन ॥ १ ॥

तृणं वा यदि वा शाकं मृदं वा जलमेव च ।
परस्यापहरन् जन्तुर्नरकं प्रतिपद्यते ॥ २ ॥

भावार्थ---किसी प्राणि की हिंसा न करना; लेश मात्र भी झूठ न बोलना; अहितकर और अप्रिय भी न बोलना और लेशमात्र भी चोरी न करना चाहिए।

२--जो प्राणी दूसरे का कुछ भी--चाहे वह शाक हो, घास हो, मिट्टी हो या जल हो कुछ भी हो उसे--हरण करता है वह नरक को प्राप्त करता है--नरक में जाता है।

उक्त श्लोकों के अर्थ का मनन करने से प्रतीत होता है कि वर्तमान समय में, सन्यासी, उदासी, निर्मला, खाकी आदि की जो प्रवृत्ति है, वह आत्मिक धर्म के विरुद्ध है; कृत्रिम शौच का पालन करनेवाली है; उन्मार्ग का पोषण करनेवाली है। इतना ही नहीं, जो वास्तविक साधु और त्यागी हैं उनके ऊपर आक्रमण करने में भी उन लोगों की प्रवृत्ति होती है।

एक छोटेसे सारगर्भित वाक्य से साधुओं और गृहस्थों का आचार पाठकों के समझ में आ जायगा। कहा है कि:--

' गृहस्थानां यद्भूषणं तत् साधूनां दूषणं ।'

(गृहस्थों के लिए जो भूषण है वही साधुओं के लिए दूषण है।)

उदाहरणार्थ---धन, माल, स्त्री, पुत्र, परिवार आदि जिस गृहस्थ के होते हैं वह भाग्यशाली समझा जाता है; ये उस के

भूषण समझे जाते हैं; परन्तु येही यदि साधुओं के पास होते हैं तो उनके लिए दूषण हो जाते हैं। गृहस्थी घोड़ागाड़ी, मोटर आदि वाहनों पर चढ़ते हैं तो उन के लिए यह शोभास्पद होता है; परन्तु यदि साधु इन पर स्वारी करते हैं तो वे निन्दा के भाजन बनते हैं।

तमाम विचारशील योगी, भोगी, ज्ञानी, ध्यानी और अभिमानी यह बात स्वीकार करेंगे—युक्ति पूर्वक स्वीकार करेंगे कि—रेल में सवारी करनेवाला अपने धर्म को सुरक्षित नहीं रख सकता है। रेल की सवारी किये हुए किसी भी व्यक्ति को—षट् दर्शनों में से किसी भी दर्शन के माननेवाले को—पूछिए वह अनुभव सिद्ध यही बात कहेगा कि—रेल में धर्माचार की रक्षा नहीं हो सकती है। जब गृहस्थों के लिए यह बात है तब साधुओं के धर्माचार सुरक्षित न रहे इस में आश्चर्य ही क्या है ?।

यह बात निश्चय है कि षट्दर्शन के सब साधुओं के नियम समान ही हैं जैसे—अहिंसा, सत्य, चोरी नहीं करना, ब्रह्मचर्य और निस्पृहता। श्रीमद् हरिभद्रसुरिजी महाराज फर्माते हैं:—

पञ्चैतानि पवित्राणि सर्वेषां धर्मचारिणाम् ।
अहिंसासत्यमस्तेयं त्यागो मैथुनवर्जनम् ॥

भावार्थ—सारे धर्मानुयायियों के लिए पाँच (व्रत) पवित्र हैं।

उन के नाम ये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय—चोरी नहीं करना, त्याग—निस्पृहता, और मैथुनवर्जन—ब्रह्मचर्य ।

खेद है कि—उन में से कितने ही साधुओं ने अपने धर्मानुसार आचार विचार रखना छोड़ दिया है; मधुकर वृत्ति का त्याग कर दिया हैं; और येन केन प्रकारेण अपने उदर की पूर्ति कर साधुजाति पर कलंक लगाया है और लगाते हैं । सत्यमार्ग के प्रकाशक, मोक्षमार्ग के साधक, कर्मशत्रु के बाधक, शत्रु और मित्र दोनों पर समान भाव रखनेवाले, संसारसागर से भव्य जीवों को तारनेवाले, रागद्वेष से मुक्त, कंचन और कामिनी—धन और स्त्री—के त्यागी और वैरागी आदि अनेक गुणधारी साधुओं पर वे आक्षेप करते हैं; सत्याचार की निन्दा करते हैं और भोले लोगों को ठगते फिरते हैं। यद्यपि अन्त में सत्य बात प्रकट होती है; तथापि थोड़ी देर के लिए तो संसार अवश्य भ्रम में पड़ जाता है । कइयों ने तो वास्तविक मार्ग की निंदा करने के लिए कई तरह के श्लोक जोड़ डाले हैं । उदाहरणार्थ—

हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमंदिरम् ।
न वदेद्यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥

भावार्थ—हाथी मारने को आया हो तो भी जैनमन्दिर में (अपनी जान बचाने के लिए भी) न जाना चाहिए । और

कण्ठगत प्राण हों—मरणासन्न हो—तो भी यवनों की भाषा नहीं बोलना चाहिए।

इस श्लोक के उत्तर में यदि कोई जैनाचार्य भी इस तरह के श्लोक की रचना कर डाले तो वह अनुचित नहीं कही जा सकती। जैसे—

सिंहेनाताड्यमानोऽपि न गच्छेच्छैवमन्दिरम्।
न वदेद् हिंसिकीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि॥

भावार्थ—सिंह मारने आया हो तो भी शिव के मंदिर में नहीं जाना चाहिए; और कण्ठ गत प्राण हों तो भी हिंसक भाषा नहीं बोलना चाहिए।

महाशयो! द्वेषबुद्धि से कैसे कैसे आक्षेप किये जाते हैं? ऊपर के दोनों श्लोक अग्राह्य हैं। ये दोनों श्लोक क्या हैं? दंडादंडि, केशाकेशि और मुष्टामुष्टि युद्ध है। वस्तुतः देखा जाय तो किसी अल्पबुद्धिवाले ने जैनियों पर उक्त प्रकार का आक्षेप किया है। क्यों कि यह श्लोक न कहीं किसी स्मृति में है और न किसी पुराण में ही। स्मृति या पुराण में इस श्लोक का न होना ही बताता है कि यह किसी उच्छृंखल वृत्तिवाले की कृति है। अपनी उच्छृंखलता को निर्दोष प्रमाणित करने और संसार में अनर्थ उत्पन्न करने के लिए यह श्लोक बना डाला है।

इस का एक कारण और भी है। जब जैनमुनि तटस्थ वृत्ति से जगत् के जीवों को वास्तविक उपदेश देने लगे तब नामधारी ब्राह्मणों की ठगी प्रकाश में आने लगी और उन की आमदनी में धक्का पहुँचने लगा, तब उन्हों ने जैनधर्म पर चार अनुचित आक्षेप—कलंक—लगा कर जीवों को सत्योपदेश से वंचित कर दिया।

प्रथम कलंक यह कि—जैन लोग नास्तिक हैं।

दूसरा कलंक यह लगाया कि—जैनी मलिन हैं।

तीसरा कलंक यह लगाया कि—जैनियों के देव नंगे हैं।

चोथा यह कि—जैनी ब्राह्मणों को अपने मंदिर में मारते हैं।

पाठक, विचार कीजिए कि जो जैन गृहस्थ और जैन-साधु सदैव वैराग्य वृत्ति रखते हैं; और जप, तप, संयम, ज्ञान, ध्यान आदि की की हजारों प्रकार की क्रियाएँ करते हैं उन जैनियों को नास्तिक बतानेवाला स्वयं कैसा धर्मात्मा हो सकता है?

दूसरा आक्षेप है मलिनता का। मगर यह भी ठीक नहीं है। क्यों कि जैन लोग अशुद्ध आहार व्यवहार नहीं करते। भोजन करते हैं शोधके साथ। जल व्यवहार में लाते हैं अच्छी तरह से छान कर और भगवान का पूजनपाठ

भी वे भली प्रकार से स्नान कर चंदन का लेप कर के।
ऐसा व्यवहार करने वाले जैन को यदि मलिन कहें तो फिर दु-
निया में शुद्ध कौन है? वास्तव में तो मलिन वही होता है जो
धर्म के बहाने जीव हिंसादि अकार्य कराता है; लोगों को नरक
में ढकेलता है और आप भी उन के साथ गिरता है।

जैनों के देव नंगे हैं। यह आक्षेप भी उन का निर्मूल
ही है। क्यों कि यदि कोई जैन श्वेतांबर मूर्तियों को देखेगा तो
उस को ज्ञात हो जायगा कि वे नंगी नहीं होती हैं। उन की
कटि पर कच्छ होता है। यद्यपि दिगंबर आम्नाय की मूर्तियां
नग्न होती हैं; परन्तु जैनेतर मूर्तियों से वे बहुत ही ऊचे दरज्जे
की होती हैं। शंकर और विष्णु की मूर्ति को यदि देखोगे तो
विदित होगा कि उन में किसी भी प्रकार का सम्मान दर्शक
चिन्ह नहीं है। इस में कुछ अत्युक्ति नहीं है।

अब हम इस बात का विशेष विवेचन नहीं करेंगे; क्योंकि
ऐसा करने से एक तो निन्दा में उतरना होता है; जिससे ग्रंथ
लिखने के उद्देश में बाधा पहुँचती है; दूसरे विषयान्तर होने का
भी भय है।

चौथा कलंक यह है कि, जैन अपने मन्दिरों में ब्राह्मणों
का बलिदान करते हैं। इस का उत्तर जनरव स्वयं दे रही
है। सब जानते हैं कि जैन एक कीडी को मारने में भी महा पाप

समझते हैं। जो एक कीड़ी मारने में भी महा पाप समझते हैं। वे ब्राह्मणों को—पंचेन्द्री जीवों को मारे यह सर्वथा असंभव है।

मेरी लगभग पचास बरस की उम्र हुई है। अपनी इस आयु में मैंने प्रायः जैनशास्त्र पढ़े हैं। मगर मुझे उन में कहीं भी ऐसी बात लिखी नहीं मिली। अब भी यदि कहीं ऐसी बात लिखी मिल जाय तो मैं जैनशास्त्रों को कुशास्त्र मानने के लिए तैयार हूँ। बचपन ही से मैं मानता हूँ कि जिन शास्त्रों में बलिदान—पंचेंद्रियवध का प्ररूपण होवे वह शास्त्र कुशास्त्र हैं।

जैनियों के तो नहीं, मगर हिन्दु शास्त्रों के अन्दर तो यज्ञ, श्राद्ध, देवपूजा आदि कार्यों में बलिदान करने की आज्ञा है। कई स्थानों से नरमेध और काली के आगे नरबलि की बातें हमें सुनने को मिली हैं। मगर अब तो नीतिकुशल ब्रिटिश राज्य के प्रताप से यह अन्याय सर्वथा नष्ट हो गया है। इसी तरह हिन्दुस्तान में से यदि सारी हिंसा बंद हो जाय तो बिचारे मूक—बे जबान—प्राणियों को अभयदान मिले और साथ ही भारत के लोगों को दूध, घृत और ऊन के कपड़े विशेष प्रमाण में मिलने लगें।

मगर हतभाग्य भारत का अभी ऐसा सुदिन नहीं आया है कि जिस से वह देश, काल का विचार करके ऐसे कुरिवाजों

को मेट दे और भारत में सब प्रकार से आनंद का प्रसार होने दे। अस्तु।

हमने, जैनों पर जो कलंक लगाये गये हैं उन का उत्तर दिया है। पाठकों से अनुरोध है कि वे उन अर्द्धविदग्ध लोगों से दूर रहें कि जो सत्यवक्ताओं पर कलंक लगा कर उनके उपदेश से लोगों को वंचित रखते हैं। और सत्य मार्ग दिखाने वालों के सहवास में आवे।

अब अल्प मात्र मायावी और धूर्त ब्राह्मणों का स्वरूप समझाने के लिए श्लोक दिया जाता है:—

तिलकैर्मुद्रया मंत्रैः क्षामतादर्शनेन च।
अन्तः शून्या बहिः सारा वञ्चयन्ति द्विजा जनम्॥

भावार्थ—तिलक और मुद्रासे और दुर्बलता के ढोंगसे; शून्य अन्तःकरणवाले मगर ऊपरसे भले होने का ढोंग बताने वाले ब्राह्मण मनुष्यों को ठगते हैं।

अहिंसादि दश प्रकार के सत्य धर्म को छोड़, आडंबर में आनंद माननेवाले नामधारी ब्राह्मण; वास्तव में ब्राह्मण शब्द को लज्जित करनेवाले पुरुष—लंबे तिलक लगा, हाथ में दर्भासन ले, बगल में पुस्तक दबा भोले लोगों के सामने शान्त मुद्रा धारण करते हैं; अशुद्ध वेद मंत्र उच्चारण कर कल्पित अर्थ बताते हैं;

यजमान के सामने अपनी दरिद्रता प्रकाशित कर, स्वोदर पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के प्रपंच रचते हैं और लोगों को ठगते हैं।

हमें बिचारे ऐसे ब्राह्मणों पर दया आती है। वे अपनी कृतियों से लोगों के कर्जदार होते हैं; और कर्जदारी चुकाने के लिए बारबार जन्म और मरण के कष्ट भोगेंगे। इसी भाँति ऐसे ब्राह्मणों को दान देनेवालों को भी अपना कर्जा वसूल करने के लिए जन्म, जरा, मृत्युपूर्ण इस संसार में जन्म लेना पड़ेगा। जन्म है, वहाँ मृत्यु भी अवश्यं भावी है। पाराशर स्मृति का निम्न लिखित श्लोक सदा दाता के ध्यान में रखने योग्य है।

यतिने काञ्चनं दत्वा ताम्बूलं ब्रह्मचारिणे ।
चौरेभ्योऽप्यभयं दत्वा स दाता नरकं व्रजेत् ॥

भावार्थ—जो यति को—साधु को—धन देता है; ब्रह्मचारी को ताम्बूल देता है; और चौरों को अभय देता है वह दाता नरक में जाता है।

इस श्लोक से स्पष्ट है कि जो जिस चीज के योग्य हो वही चीज देना चाहिए। उसके विपरीत देने से दाता नरक में जाता है।

बहुतसे हिन्दु शास्त्रों में यह बात बताई गई है कि, " ब्राह्मणों की पूजा करना चाहिए; क्योंकि ब्राह्मण सुपात्र हैं। "

साथ ही उन में ब्राह्मणों के गुणों का वर्णन करदिया गया है। जैसे:—

ब्राह्मणा ब्रह्मचर्येण यथा शिल्पेन शिल्पिकः।
अन्यथा नाममात्रं स्यादिन्द्रगोपस्तु कीटवत् ॥

भावार्थ—जैसे शिल्प विद्या के होने पर ही हम उसको शिल्पी बताते हैं वैसे ही जो ब्रह्मचर्य पालता है वही ब्रह्मचारी कहलाने योग्य है। अन्यथा तो इन्द्रगोप नामा कीड़े की भाँति वह नाम मात्र का कीड़ा है।

गुण के बिना कोई गुणी नहीं कहा जासकता। यदि नाम मात्रही से कोई वैसा हो जाय तो फिर मनुष्य का नाम 'ईश्वर' भी है। इसलिए मनुष्य भी ईश्वर की भाँति क्यों नहीं पूजा जाता है? इसी भाँति ब्राह्मण के योग्य जिस में गुण न हो वह ब्राह्मण कुल में जन्मने से और ब्राह्मण नाम धारण करने से पूज्य नहीं हो सकता है। उसको ब्राह्मण कहना भी अनुचित है। मनुजी के वाक्य 'जन्मना जायते शूद्रः।' (जन्म से सब ही शूद्र होते हैं) से भी यही सिद्ध होता है कि, जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं होसकता है।

तात्पर्य यह है कि, सब जगह गुणका मान होता है, जन्म का नहीं। इसलिए मान उसी ब्राह्मण को मिलना चाहिए कि जिस

में सत्य, सन्तोष, तप, जप, ध्यान, ज्ञान आदि गुण होते हैं। कहा है किः—

सत्यं ब्रह्म तपो ब्रह्म ब्रह्मचेन्द्रियनिग्रहः ।
सर्वभूतदया ब्रह्म ह्येतद् ब्राह्मणलक्षणं ॥ १ ॥

सत्यं नास्ति दया नास्ति नास्ति चेन्द्रिह निग्रहः ।
सर्वभूतदया नास्ति ह्येतच्चाण्डाललक्षणम् ॥ २ ॥

भावार्थ— सत्य ब्रह्म है, तप ब्रह्म है, इन्द्रियनिग्रह ब्रह्म है और सब प्राणियों पर दया करना ब्रह्म है। ये ब्राह्मण के लक्षण हैं।

२—सत्य का न होना, दया का न होना, इन्द्रियनिग्रह का न होना, और सब प्राणियों पर दया का न होना; ये चाण्डाल के लक्षण हैं।

ब्राह्मण किस को कहना चाहिए? इस के संबंध में शास्त्रकार अनेक श्लोकों द्वारा कथन कर गये हैं। वास्तव में देखा जाय तो लोग पूज्य की पूजा करते हैं। '**पूजितपूजको लोकः**।' जो नाम मात्र के ब्राह्मण हैं वे ऊपर बताये हुए इन्द्रगोप नामा कीड़े के समान है।

इन्द्रगोप नाम के कीड़े वर्षा के प्रारंभ में होते हैं! उन का रंग लाल होता है। उन का नाम यद्यपि इन्द्रगोप—इन्द्र का रक्षक है, तथापि उन बिचारों में इतना सामर्थ्य छोड़ कर अपनी

रक्षा करने जितना भी सामर्थ्य नहीं है । उन को कौए उठा ले जाते हैं और बुरी तरह से मारते हैं ।

इस प्रकार यदि कोई नाम मात्र के लिए ही ब्राह्मण हो, तो उस बिचारे को अन्न, वस्त्र दे कर सुखी करना चाहिए । मगर उस को सुपात्र समझ कर उस के लिए धनमाल लुटाना किसी भी तरह से उचित नहीं है । गुरु तत्वाधिकार में इस पर और विशेष रूप से विवेचन किया जायगा ।

अब व्यापारी वर्ग कैसा प्रपंच करते है इस पर विचार किया जायगा । कहा है कि—

> कूटाः कूटतुलामानाशुक्रियासातियोगतः ।
> वञ्चयन्ते जनं मुग्धं मायाभाजो वणिग्जनाः ॥

भावार्थ—मायाचारी पाखंडी बनिए लोग खोटे तोलों और खोटे मापों से, शीघ्र क्रिया से सातियोग से यानी लघु लाघवी क्रिया से मूर्ख लोगों को ठगते हैं ।

बनियों की ठगी दुनिया में प्रसिद्ध है । चंचल द्रव्य के लिए, कई वार वे निश्चल धर्म को बेचने में भी आगा पीछा नहीं करते हैं । जो उन पर विश्वास रखता है उस को तो वे पूरी तरह से ठगते हैं । नीति और धर्म दोनों को वे जलाञ्जली दे देते हैं; तो भी हम देखते है कि उनमें से कइयों को पेट भर खाने के लिए भी नहीं मिलता है !

ऐसे व्यापारीयों को ध्यान में रखना चाहिए कि जिस देश में व्यापारी एक ही तरह के तोले और माप रखते हैं; व नीति पूर्वक व्यापार करते हैं उस देश में सब ही—राजा, प्रजा और व्यापारी, धनी होते हैं, इज्जतदार होते हैं और सुखी होते हैं।

प्राचीनकाल में अपना यह भारत देश, धर्म, कर्म, व्यापार, कला, कौशल, विनय, विवेक, विद्या आदि सब बातों में सर्वोत्तम था। मगर इस समय इस की जो दुर्दशा हुई है, उस का कारण हम तो यही कहेंगे कि यह माया महादेवी का काही प्रसाद है। यदि माया महादेवी भारत से चली जाय तो स्वार्थी लोग, परमार्थी साधु वास्तविक साधु और संत वास्तविक संत हो जायँ। व्यापारी सच्चे व्यापारी और साहुकार वास्तविक साहुकार गिने जाने लगे। ऐसा होते ही देशोन्नति तत्काल ही हो जाय।

मगर दुर्भाग्य की बात यह है कि प्रत्येक मनुष्य के रोम रोम में माया का साम्राज्य हो रहा है, इस लिए उस को तत्काल ही निकाल देना बहुत ही कठिन है। जो मनुष्य माया राक्षसी के पंजे से बच जाय उसे हम तो यही कहेंगे कि—वह वास्तविक हीरा है; सच्चा माणिक्य है; संसार का पूज्य है। दुनिया के दास वे ही लोग हैं जो माया जाल में फँसे हुए हैं।

अब वेश्या के माया—प्रपंच—का विचार किया जायगा। कहा है कि:—

आरक्ताभिर्हावभावलीलागतिविलोकनैः ।
कामिनो रञ्जयन्तीभिर्वेश्याभिर्वञ्च्यते जगत् ॥

भावार्थ—हावभाव की लीला करनेवाली, चलने के ढंग वाली, कटाक्षपात करनेवाली; कामीजनों के मन को मुग्ध करनेवाली और प्रेम करने का ढौंग दिखानेवाली वेश्याएँ दुनिया ती हैं ।

वेश्या सदैव निन्द्य है । धन और प्राण दोनों का नाश करनेवाली है । हजारों मनुष्य वेश्याओं के आधीन हो कर नष्ट भ्रष्ट हो चुके हैं । ऐसे हजारों मनुष्यों के उदाहरण हमारे समक्ष हैं । मनुष्य जानते हुए भी मोह महामल्ल के आधीन हो कर, वेश्या के अनुगामी बनते हैं और अपने आप को बरबाद करते हैं ।

पूर्व देश में—कलकत्ता बनारस आदि प्रान्त में—यह एक अनोखी बात है कि, जिस गृहस्थ के घर में एक दो रखेल स्त्रियाँ नहीं होती हैं वह सद्गृहस्थ नहीं कहलाता है । कई स्थानों में रखेल स्त्री के छोकरों को भी संपत्ति में से हिस्सा दिया जाता है । मगर जिस प्रकार से पुरुष इस प्रकार स्वच्छंदता का वर्ताव करते हैं, उस तरह स्त्रियाँ नहीं करती हैं ।

तो भी पुरुषों को यह ध्यान में रखना चाहिए कि, काम का प्राबल्य पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में आठ गुना ज्यादा होता

है। इस लिए पुरुष यदि स्वदारा संतोष व्रत नहीं ग्रहण करेंगे तो स्त्री अपनी कामवासना को न दबा सकेगी और वह भी उसको शान्त करने के लिए कोई दूसरा मार्ग ग्रहण करेगी। क्यों कि प्रत्येक स्त्री इतनी वैराग्यवृत्तिवाली नहीं होती है कि, जिससे वह अपने काम—विकारों को, अपने पति को दूसरी स्त्री का सहवास करते देख कर, जान कर भी दबा सके। उल्टे वह यह सोचेगी कि जब मेरा पति दूसरी के पास जाता है तो फिर मुझ को भी दूसरे पुरुष के पास जाने में क्या हानि है। इस प्रकार के स्त्री पुरुषों से जो सन्तान होगी वह कैसी होगी? इस का विचार करना भी आवश्यक है।

श्रीमद् हेमचंद्राचार्यने स्त्री की रक्षा के लिए योगशास्त्र म चार उपाय बताये हैं। (१) स्त्री को स्वतंत्रता नहीं देना; (२) उसको धन की मालकिन नहीं बनाना; (३) घर का सारा कार्य उसी के सिर पर रखना; और (४) परस्त्री का सर्वथा त्याग करना।

परस्त्री शब्द से अपनी स्त्री को छोड़ कर अन्य सारी ही स्त्रियों को समझना चाहिए—चाहे वह वेश्या ही क्यों न हो?— वेश्यागामी पुरुष कभी धर्मात्मा नहीं होता। न वह कभी सुखी ही होता है। लोगों की दृष्टि में भी वह प्रामाणिक पुरुष नहीं समझा जाता है। इस लिए कल्याण की इच्छा रखनेवाले मनुष्यों के लिए यही उचित है कि वे सदा वेश्या से दूर रहें।

अब जुआरियों के प्रपंच का विचार किया जायगा। कहा है कि—

प्रतार्य कूटशपथैः कृत्वा कूटकपर्दिकाम् ।
धनवन्तः प्रतार्यन्ते दुरोदरपरायणैः ॥

भावार्थ—झूठी शपथ से और नकली सिक्कों के रुपयों से जुआरी मनुष्य धनवानों को ठगते हैं।

जुआरी मनुष्य प्रायः सब व्यसनों में पूरा होता है। कई वार वह किसी का खून कर डालने में भी आगा पीछा नहीं करता है। जुआरी जूए में जब अपने पास का सब रुपया हार जाता है तब वह फिरसे रुपया पाने के लिए अनेक प्रकार के प्रपंच रचता है। माता, पिता, भाई, बहिन, पुत्र, पुत्री आदि सब को ठगने का प्रयत्न करता है। किसी के लिए कुछ भी विचार नहीं करता। कई कई वार तो वह ऐसे ऐसे अनर्थ कर बैठता है कि जिसके सुनने ही से कलेजा काँप जाता है। जूएने नलराजा की और पांडवों की कैसी दुर्दशा की थी? इस का विचार कर के बुद्धिमान मनुष्यों को जूआ का त्याग करना चाहिए।

माया प्रपंच के कारण परस्पर में संबंध होने पर भी लोग एक दूसरे को—खास कुटुंबियों तक को—ठगते हैं। कहा है कि—

दम्पती पितरः पुत्राः सोदर्याः सुहृदो निजाः ।
ईशा भृत्यास्तथान्येऽपि माययाऽन्योन्यवञ्चकाः ॥

भावार्थ—माया से पुरुष अपनी स्त्री को, स्त्री अपने पति को; भाई भाई को, मित्र को, स्वामी सेवक को, और सेवक स्वामी को ठगते हैं। इस तरह परस्पर के प्रगाढ संबंधी भी एक दूसरे को ठगते हैं।

जीव अपने अपने स्वार्थ के लिए प्रपंच रचते हैं। यह एक बडी मजे की बात है कि, जिन को हम मूर्ख समझते हैं वे ही अपने स्वार्थ के समय बहुत ज्यादा बुद्धिमान हो जाते हैं।

उदाहरणार्थ—हम देखते हैं कि बगुला जब पानी पर जाता है तब तरकीब से पैर उठाता है कि, पानीमें थोड़ासा भी हलन चलन नहीं होता है; परन्तु ज्योंहि वह मछली को या मेंढक को देखता है ऐसी चोंच मारता है कि उस की सारी भक्ताई हवा हो जाती है। यह एक सामान्य उदाहरण है। स्वार्थांध मनुष्य सब इसी तरह के होते हैं।

माया को जीतने का उपाय।

शास्त्रकार कहते है कि:—" स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता। " (स्वार्थ का नष्ट होना मूर्खता है।) मगर इस में जो ' स्व ' शब्द आया है उस का अर्थ है 'आत्मा'। इस लिए आत्मा के

अर्थ का नाश होना मूर्खता है। शास्त्रकारों का यह कहना बिल-कुल ठीक है। आत्मा के अर्थनाश की संभावना माया से होती है। इस लिए माया का त्याग करना उचित है।

माया के महादोष ही से मल्लिनाथ के समान तीर्थंकर को भी स्त्री वेद की प्राप्ति हुई है। कहा है कि:—

दम्भलेशोऽपि मल्ल्यादेः स्त्रीत्वानर्थनिबन्धनम्।
अतस्तत्परिहाराय प्रतितव्यं महात्मना॥

भावार्थ—श्री मल्लिनाथ तीर्थंकर आदि महा पुरुषोंके लिए भी, माया का लेश, स्त्री वेदादि अनर्थ का कारण हुआ, इस लिए महात्मा पुरुषों को चाहिए कि वे दंभ के नाश का प्रयत्न करें।

किया हुआ कर्म तीन लोक के नाथ को भी नहीं छोड़ता है, तो फिर दूसरे मनुष्यों की तो बात ही क्या है? श्री मल्लि-नाथ स्वामी के जीव का दंभ धर्म की वृद्धि के लिए था। उस का संक्षेप में यहाँ कथन किया जाता है—

"श्रीमल्लिनाथ स्वामी तीर्थंकर हुए इसके तीन भव पहिले वे अपने मित्रों के साथ तपस्या करते थे। उस समय उनके मनमें आया कि मैं अपने मित्रों की अपेक्षा ऊँचा दर्जा प्राप्त करूँ तो अच्छा हो, इस विचार को कार्य में परिणत करने के लिए उपवास के अन्त में पारणे के समय वे कह देते कि—"तुम

पारणे कर लो; मैं पीछे करूँगा।" मित्र पारणा करलेते थे। आप पारणा न करके तपस्या आगे बढ़ाते थे। इस प्रकार तपश्चरणसे उन्होंने तीर्थंकर नाम कर्म बाँधा परन्तु साथ ही माया के कारण उन्हें स्त्रीवेद का भी बंध हुआ।"

कर्म कभी किसीका लिहाज नहीं करता। इसलिए सत्पुरुषों को सदैव दंभसे—कपटसे—डरते रहना चाहिए। दंभ सब का नाश करनेवाला है। कहा है कि—

> दम्भो मुक्तिलतावह्निर्दम्भो राहुः क्रियाविधौ।
> दौर्भाग्य कारणं दम्भो दम्भोऽध्यात्मसुखार्गला ॥

भावार्थ—दम्भ मुक्ति रूपी बेल का नाश करने के लिए अग्नि के समान है; क्रिया रूपी चन्द्रमा का आच्छादन करने के लिए दम्भ राहु के समान है; और दुर्भाग्य का कारण व अध्यात्म सुख को रोकने में अर्गला के समान भी दंभ ही है।

जब तक दंभ रहता है तब तक धर्मकृति—जो मोक्षका कारण है—नहीं होती है। अनेक प्रकार की क्रियाएँ कीजायँ तो भी दंभ उनको सफल नहीं होने देता है। चंद्र स्वयं शीतल, निर्मल और रमणीय है तो भी जब राहु के फंदे में आता है तब मिट्टी की ठीकरी के समान निस्तेज बन जाता है। इसी भाँति धर्म रूपी चंद्रमा जब दंभकृति रूपी राहु की जाल में फँस जाता है तब उसका वास्तविक तेज तिरोहित हो जाता है।

जहाँ दंभ प्रवेश करता है वहाँ शीघ्र ही दुर्भाग्य का उदय होता है। और अध्यात्म का सुख तो दंभी को स्वप्न में भी नहीं मिलता है। इस लिए मनुष्य को चाहिए कि वह सदा दंभ से दूर रहे। दंभ के लिए और भी कहा है कि—

सुत्यजं रसलाम्पट्यं सुत्यजं देहभूषणम्।
सुत्यजाः कामभोगाद्या दुस्त्यजं दम्भसेवनं॥

भावार्थ—रस की लालसा प्रसन्नता से छोड़ी जा सकती है; देह का आभूषण भी खुशी से छोड़ा जा सकता है और काम भोगादि भी खुशी से छोड़े जा सकते हैं; परन्तु दम्भ की सेवा छोड़ना कपट करना छोड़ देना—बड़ा ही कठिन काम है।

अहो! कहाँ तक कहें? दंभत्याग के विना श्री भगवान भाषित दीक्षा पालन भी निष्फल है। कहा है कि:—

अहो! मोहस्य माहात्म्यं दीक्षां भागवतीमपि।
दम्भेन यद्विलुम्पन्ति कज्जलेनेव रूपकम्॥

भावार्थ—अहो! मोह का कैसा माहात्म्य है कि उसके कारण—मोहोद्भूत दम्भ के कारण—श्री वितराग की दीक्षा का भी नाश हो जाता है; जैसे कि काजल से चित्र नाश हो जाता है।

दम्भ धर्म के अन्दर भी कैसा विघ्न डालनेवाला है! कहा है कि:—

अब्जे हिम तनौ रोगो वने वह्निर्दिने निशा।
ग्रन्थे मौर्ख्यं कलिः सौख्ये धर्मे दम्भ उपप्लवः॥

भावार्थ—जैसे कमल को बरफ, शरीर को रोग, बन को अग्नि, दिन को रात्रि, ग्रंथ को मूर्खता, और सुख को क्लेश नाश करने वाला है; इन में विघ्न डालने वाला है, उसी भाँति दंभ भी धर्म में विघ्न डालने वाला है—धर्म को नाश करने वाला है।

दंभ सहित जो जप, तप, संयम आदि किये जाते हैं वे संसार के भ्रमण को कम नहीं कर सकते हैं। जबतक दंभ है तब तक ये सब निष्फल है। कहा है कि:—

दम्भेन व्रतमास्थाय यो वाञ्छति परं पदम्।
लोहनावं समारुह्य सोऽब्धेः पारं यियासति॥१॥

किं व्रतेन तपोभिर्वा दम्भश्चेन्न निराकृतः?
किमादर्शेन किं दीपैर्यद्यान्ध्यं न दृशोर्गतम्?॥२॥

केशलोचधराशय्याभिक्षाब्रह्मव्रतादिकम्।
दम्भेन दुष्यते सर्वं त्रासेनैव महामणिः॥३॥

भावार्थ—जो मनुष्य कपटपूर्वक व्रत करके मोक्ष पाने की इच्छा रखता है, वह मानो लोहे की नाव में बैठकर समुद्र तैरना चाहता है। २—यदि दंभ या नाश नहीं हुआ तो फिर व्रत

और तपसे—छठ अठ्ठम आदि तपसे-क्या लाभ है ? यदि अंधे की आँखों से अंधापन नहीं मिटा तो आइना या प्रकाश उसके लिए किस प्रयोजन के हैं ! ३—त्रास नामा दूषण के कारण जैसे महामणि दूषित होती ह वैसे ही केश लोच, भूमि शयन, भिक्षासे प्राप्त किया हुआ शुद्ध आहार और अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्यव्रत का पालन सब दूषित हो जाते हैं।

कपटी मनुष्य का कहीं भी कल्याण नहीं होता। कपटी मनुष्य के यम, नियम आदि उस के लिए भव—भ्रमण की अभिवृद्धि के कारण होते हैं। यहाँ तक कि, उस का घोर तपश्चरण भी उस के लिए जन्म, जरा और मृत्युरूपी महा दुःख को बढ़ाने का ही हेतु होता है। ब्रह्मचर्य भी उस के लिए मोक्ष का कारण नहीं होता है। जैसे दूषितमणि की थोड़ी कीमत आती है वैसे ही मोक्ष के कारण रूप, जप, तप, संयम आदि भी दंभी मनुष्य के लिए संसार के कारण हो जाते हैं।

मनुष्य यदि अपनी बुद्धि को स्थिर करके विचार करे तो तत्काल ही उस को विदित हो जाय कि, यश के लिए और अनेक प्रकार की उपाधियों के लिए जो कपट क्रियाएँ की जाती हैं वे ही यदि निष्कपट भाव से की जायँ तो उन से मनुष्य को वास्तविक अक्षय यश की प्राप्ति होती है। क्रियावान जब निर्दंभ हो कर क्रियाएँ करेंगे तब ही राजा, महाराजा, देव, दानव

और विद्याधर उन की सेवा करने को तत्पर होंगे। मगर वास्तविक क्रियावान उस को भी पीड़ा समझेंगे और उस की ओर से उदास होकर स्वसंवेद्य सुख में मग्न होंगे। जब उन की ऐसी स्थिति हो जायगी तब अपने स्वाभाविक वैरभाव को छोड़ कर उन के मुँह से निकलते हुए शब्द श्रवण करेंगे और अपने आप को कृत कृत्य मानेंगे। कहा है कि:—

सारङ्गी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया, नन्दिनी व्याघ्रपोतं;
मार्जारी हंसबालं, प्रणयपरिवशात् केकिकान्ता भुजङ्गम्।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजेयु–
र्दृष्ट्वा सौम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम्॥

भावार्थ—जो समताधारी हैं; जिन के पाप शान्त हो गये हैं और जिनका मोह नष्ट हो गया है, ऐसे योगी को देखकर, प्राणी अपने जन्म के साथ जन्मे हुए वैर को भी छोड़ देते हैं। हरिणी अपने बच्चे की तरह सिंह के बच्चे को स्नेहसे स्पर्श करती है; गाय शेर के बच्चे को, बिल्ली हंस के शिशु को और मयूरी–मोरनी–सर्प के बच्चे को अपने बच्चों की भाँति स्पर्श करती हैं। यह सब योग का प्रभाव है।

आजकल बहुतसे त्यागी गिने जानेवाले महात्मा जहाँ विचरते हैं वहाँ; या जहाँ जन्मते हैं वहाँ नया भेद उत्पन्न

करते हैं। क्योंकि यदि वे ऐसा न करें तो लोग उन्हें महात्मा कैसे कहें? इस प्रकार के महात्माओं को भी नये अनर्थ पैदा करने के लिए दंभ करना पड़ता है।

इसी लिए शास्त्रकार स्पष्टतया पुकार कर कहते हैं कि; भाइयो! यदि तुम साधुता का निर्वाह नहीं कर सकते हो तो गृहस्थी बनो। ऐसा करने में तुम्हारे बीचमें यदि लाज या कुल की मर्यादा बाधा डालती हो तो निर्दंभी हो कर लोगों के सामने स्पष्ट शब्दों में कहो कि,-" मैं साधु नहीं हूँ; साधुओं का सेवक हूँ।" और तदनुसार-अपने कथन के अनुसार-वर्ताव भी करो। कहा है कि—

> अत एव न यो धर्तुं मूलोत्तरगुणानलम्।
> युक्ता सुश्राद्धता तस्य न तु दम्भेन जीवनम्॥ १॥
>
> परिहर्तुं न यो लिङ्गमप्यलं दृढरागवान्।
> संविग्नपाक्षिकः स स्यान्निर्दम्भः साधुसेवकः॥ २॥

भावार्थ—इस लिए-जो (साधु) मूल और उत्तर गुणों के पालन की शक्ति नहीं रखता है उसको शुद्ध श्रावक बनना चाहिए। ऐसा न कर के दंभ के साथ जीवन बिताना सर्वथा अनुचित है।

२ यदि किसी को साधु वेष पर राग हो और वह वेष को नहीं छोड़ना चाहता हो तो फिर वह 'संविग्न पाक्षिक'

बने। वह मिथ्याडंबर को छोड़, साधुओं का सेवक बन, निर्दंभतापूर्वक विचरण करे।

श्री वीतरागप्रभु की ऐसी आज्ञा है कि, अपनी शक्ति के अनुसार धर्मकार्य करो। जो करो उसको निर्दंभतापूर्वक करो। इस लिए उक्त श्लोक में साधुपन छोड़ कर श्रावक बनने की सलाह दी गई है।

यहाँ पाठकों को शंका होगी कि, शास्त्रों में हर जगह संसार को छोड़ने का उपदेश दिया गया है और यहाँ यह उल्टी बात–संसार में प्रवेश होने की बात कैसे कह दी गई ?

इस कथन के रहस्य को विचारना चाहिए। जीव अनादि काल से कर्मकीचड़ से लिपटा हुआ है–मलिन हो रहा है। उस मलिनता को किसी अंशों में मिटाने के लिए वह साधु होता है। मगर साधु बनने पर भी यदि मलिनता बढ़ने का कारण देखा जाय तो फिर उस कारण को मिटा देना चाहिए। इसी लिए कहा गया है कि–" युक्ता सुश्राद्धता तस्य न तु दम्भेन जीवनम्।" इस प्रकार के गंभीर आशयवाला वाक्य और उपदेश, वीतराग के शासन विना अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलेगा।

संसार के अंदर शिखावाले, रुण्ड मुण्ड, जटाधारी, नग्न आदि अनेक प्रकार के साधु देखे जाते हैं; परन्तु उनमें व्रतादि की

दृढ प्रतिज्ञा के कहीं दर्शन नहीं होते। प्रतिज्ञा लेकर उसको पूर्णतया पालन करनेवाले यदि कोई साधु हैं तो वे जैन ही हैं। पाठकों को उनके आचार विचार का वर्णन कई स्थानों पर आगे पढने को मिलेगा।

इस बात को प्रत्येक स्वीकार करेगा कि धर्म परिणामों में है। कपड़ों में नही हैं। तो भी कपड़े उपयोगी हैं। ये चारित्र की रक्षा के लिए दुर्ग का काम देते हैं। जैसे राजा दुर्ग के विना अपने नगर की रक्षा नहीं कर सकता है उसी तरह मुनि भी वेष के विना अपने आचार को भली प्रकार से नहीं पाल सकता है। कई जीवों का, मुनिवेष धारण किये विना भी कल्याण हुआ है; परन्तु वह राजमार्ग नहीं है। मुनिवेष कल्याण का राजमार्ग है। इस लिए कहा है कि:—

" हे सन्तो! मायाजाल को छोड़ दो। उसकी जरासी भी गाँठ न रक्खो। चित्त को शान्त रक्खो। इन्द्रियों के व्यूह को धर्म की साधना के काम में लाओ। मान–अभिमान–मद को तोड़ डालो। भगवान के सामने हाथ जोड़ कर खड़े हो जाओ। फिर मोक्ष के प्रति दौड़ जाओ। कल्याण होने में अब थोड़ी ही देर रह गई है।"

जगत में मायावी पुरुषों के विद्या, विवेक, विनय आदि सद्गुण सब निष्फल जाते हैं। इतना ही नहीं मायावी मनुष्य

विश्वास के योग्य भी नहीं रहता है । वह जो शुभ काम करता है उसको भी लोग उस का प्रपंच समझते हैं । इसी लिए कहा है कि माया महा नागिनी है । इस से सदा दूर रहो ।

मायाचार से दूर हो जाने पर भी लोग यदि उस को मायाचारी कहें तो इस की कुछ भी परवाह नहीं करना चाहिए । क्यों कि साँच को आँच नहीं है । विजय हमेशां सत्य ही की होती है ।

आजकल लोग बुद्धिमान पुरुषों को भी प्रपंची बताते हैं । परन्तु लोगों के कहने से उन्हें भयभीत नहीं हो कर अपना कार्य करते रहना चाहिए। हाँ, अधर्म से अवश्य डरना चाहिए। बाद विवाद के अन्दर जब युक्ति प्रयुक्ति से काम लिया जाता है तब, यह निश्चय है कि उनमें से एक जीतता है और दूसरा हारता है । हारा हुआ मनुष्य भोले लोगों को भ्रम में डालने के लिए जयी को प्रपंची अथवा Political आदमी बताता है । परन्तु इस तरह से जयी पुरुष मायावी—प्रपंची—नहीं हो सकता है ।

यदि वास्तविक रीति से देखेंगे तो मालूम होगा कि अपना झूठा बचाव करने के लिए—अपनी महत्ता कायम रखने के लिए—लोगों को जो ऐसी बातें कहता है वही प्रपंची है । मगर इस तरह अपनी कमजोरी लोगों में प्रकट न होने देने के ख्याल

से दूसरों पर दोष लगाता हुआ वह विचारा स्वयं ही नष्ट भ्रष्ट हो जाता है।

इस लिए आत्मार्थी पुरुषों को चाहिए कि वे यथार्थ बात कहें। उस में एक शब्द भी न बढावें न घटावें। हे भव्य ! तू लोक में माननीय, पूजनीय और वंदनीय होने के आशा तंतुओं को तोड दे। लौकिक कार्य को अनुचित समझ कर तू लोकोत्तर कार्य करने में प्रवृत्त हुआ है, तो भी खेद है कि तू अब तक मोह माहाराज के माया रूपी बंधन में बँधा हुआ है। और उस बंधन को, जैसे मकड़ी अपने जाले को दृढ़ बनाती है वैसे, विशेष रूप से दृढ़ करता जा रहा है। मगर यह सर्वथा अनुचित है। निष्कपटी, निर्दंभी और निर्मायी हो कर, स्वसत्ता का भागी बन; जगत जीवों का हितकर बन और सदा के लिए आनंद भोग।

लोभ का स्वरूप।

भिन्न भिन्न रुचिवाले लोगों के अंदर बसी हुई माया का वर्णन कर प्रभुने लोभ के संबंध में कहा था। इस लिए यहाँ अब लोभ के संबंध में विचार किया जायगा।

श्री दशवैकालिक सूत्र में लिखा है:—

कोहो पीई पणासेई माणो विणय नासणो ।
माया मित्ताणि नासेई लोहो सव्वविणासणो ॥

भावार्थ—क्रोध प्रेम को नष्ट करता है; मान विनय को नष्ट करता है; माया मित्रता को नष्ट करती है और लोभ सब का (सब गुणों का) नाश कर देता है ।

लोभ के विषय में जितना कहा जाय उतना थोड़ा है । लोभ महा पिशाच है । सारे दुर्गुणों का यह सरदार है । लोभ के वशवर्ती मनुष्यों में सारे दुर्गुण रहते हैं । कहावत है कि:—

सब अवगुण को गुण लोभ भयो,
तब और अवगुण भये न भये ॥

सारांश यह है कि जहाँ लोभ होता है वहाँ सारे दुर्गुण आखड़े होते हैं; और लोभ के नाश होते ही सारे उसी के साथ नष्ट हो जाते है । लोभाधीन मनुष्य अन्याय में प्रवृत्त होता है। जहाँ लोभ है वहाँ अन्याय है ही । इस सिद्धान्त की व्याप्ति में कहीं भी विरोध मालुम नहीं होगा । तत्ववेत्ता मनुष्योंने लोभ पिशाच को नीच बताया है । कहा है कि:—

आकरः सर्वदोषाणां, गुणग्रसनराक्षसः ।
कंदो व्यसनवल्लीनां लोभः सर्वार्थबाधकः ॥

भावार्थ—लोभ सब दोषों की खानि है; गुणों के खाजाने

में राक्षस के समान है; व्यसन रूपी लता की जड़ है और सारे अर्थों का बाधक है ।

जैसे जैसे मनुष्य को लाभ होता जाता है वैसे ही वैसे उस का लोभ भी बढ़ता जाता है । इसीलिए बड़े लोग कह गये हैं कि:—' लाभाल्लोभः प्रवर्धते ' लोभ किसी जगह पर भी जाकर नहीं थमता है ।

> धनहीनः शतमेकं सहस्रं धनवानपि ।
> सहस्राधिपतिर्लक्षं कोटिं लक्षेश्वरोऽपि च ॥ १ ॥
>
> कोटीश्वरो नरेन्द्रत्वं नरेन्द्रश्चक्रवर्तिताम् ।
> चक्रवर्ती च देवत्वं देवोऽपीन्द्रत्वमिच्छति ॥ २ ॥

भावार्थ—निर्धन मनुष्य प्रथम सौ रुपये की इच्छा करता है; सौ रुपये मिलने पर उसको हजार की चाह होती है; सहस्राधिपति को लक्षाधिपति होने की इच्छा होती है और लक्षाधिप को कोट्याधिप बनने की । करोडपति मांडलिक बनना चहाता है मांडलिक चक्रवर्ती होने की कामना करता है; चक्रवर्ती देवता बनना चाहता है और देवता इन्द्र बनने की इच्छा करते है ।

मगर इन्द्र होजाने पर लोभ शान्त नहीं होता है। उत्तराध्ययनसूत्र के अंदर लिखा है कि इच्छा आकाश के समान है । जैसे आकाश का कोई अन्त नहीं है वैसे ही इच्छा का भी कोई

अन्त नहीं है। प्रारंभ में लोभ का स्वरूप छोटा होता है; परन्तु क्रमशः वह बढ़ता हुआ भयंकर राक्षसी रूप धारण कर लेता है। अन्त में लोभी मनुष्य यहां तक निकृष्ट बन जाता है कि वह अपने माता को, पिता को, भाई को, बहिन को, स्वामी को, सेवक को और देव को व गुरु को ठग लेने में भी आगापीछा नहीं करता है। इतना ही क्यों समय पड़ने पर उनके प्राण लेलेने में भी आगापीछा नहीं करता है। कहा है किः—

हिंसेव सर्वपापानां मिथ्यात्वमिव कर्मणाम्।
राजयक्ष्मेव रोगाणां लोभः सर्वागसां गुरुः॥

भावार्थ–हिंसा जैसे सारे पापों का, मिथ्यात्व सारे कर्मों का, क्षय रोग सारे रोगों का गुरु है, वैसे ही लोभ सारे अपराधों का गुरु है।

जहाँ हिंसा होती है वहाँ सारे पाप स्वयमेव आ खड़े होते हैं। हिंसा सारे धर्मों की नाश करनेवाली होती है। मगर कई लोग हिंसा में धर्म मानते हैं, इसलिए यह विचारणीय है कि, वे धर्मात्मा हैं या नहीं। अस्तु।

हिंसा, मिथ्यात्व और राजयक्ष्मा ऐसे तीन दृष्टान्त देकर लोभ की भयंकरता बताई गई है। एकेन्द्री से पंचेन्द्री तक में लोभ का अखंड राज्य हो रहा है। कहा है किः—

अहो ! लोभस्य साम्राज्यमेकच्छत्रं महीतले ।
तरवोऽपि निधिं प्राप्य पादैः प्रच्छादयन्ति यत् ॥

भावार्थ—अहो पृथ्वीतल पर लोभ का एक छत्र राज्य हो रहा है । (औरों की क्या बात है मगर) वृक्ष भी निधि पा कर उसको अपनी जड़ों से ढक देते हैं ।

एकेन्द्री वृक्ष भी द्रव्य के भंडार को अपनी जड़ों से ढक देते हैं ता कि–कोई उसको देख न सके ।

श्री अरिहंत भगवानने बताया है कि, सारे प्राणियों के अन्दर चार प्रकार की संज्ञा है । (१) आहारसंज्ञा, (२) भय-संज्ञा, (३) मैथुनसंज्ञा, (४) परिग्रहसंज्ञा ।

आहारसंज्ञा के कारण वृक्ष अपनी जड़ों के द्वारा जल ग्रहण कर अपने डाल पात तक पहुँचाते हैं। भयसंज्ञा के कारण मनुष्य का हाथ अपनी ओर आते देख कर लजालु का पौदा अपने पत्ते संकुचित कर लेता है । कितने ही वृक्षों के अंदर मैथुनसंज्ञा का भी हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं । उनके अंदर नरनारी का विभाग होता है; इस लिए जब वे दोनों सम्मिलित होते हैं, वहीं वे फलते हैं अन्यथा नहीं । अशोक और बकुल के वृक्ष स्त्री का स्पर्श होने से या स्त्री के मुँह का पानी उन पर पड़ने से फलते हैं । और परिग्रह संज्ञा के कारण वृक्ष अपने फलों, फूलों और पत्तों की प्रकारान्तर से रक्षा करते हैं । कई बेलें फलों को

पत्तों के नीचे छिपा रखती हैं; इसी भाँति परिग्रह संज्ञा ही के कारण अज्ञात अवस्था में भी वृक्ष धन की ममता रखते हैं।

इसी भाँति दो इन्द्री, तीन इन्द्री और चउ इन्द्री जीव भी परिग्रह की संज्ञावाले होते हैं। कहा है कि:—

अपि द्रविणलोभेन ते द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः।
स्वकीयान्यधितिष्ठन्ति प्राग्निधानानि मुर्च्छया॥

भावार्थ—दो इन्द्री, तीन इन्द्री और चार इन्द्री जीव द्रव्य के लोभ से पूर्व के निधान सेवन करते हैं। अर्थात् अपनी पूर्वावस्था में जिस जगह द्रव्य रक्खा हुआ होता है उसी जगह लोभ–परिणामों के कारण दो इन्द्री आदि के रूप में जा कर उत्पन्न होते हैं।

अब यह विचार किया जायगा कि पंचेन्द्री जीव लोभ के वश कैसी २ आपत्तियाँ सहते हैं। कहा है कि:—

भुजङ्गगृहगोधाः स्युर्मुख्याः पञ्चेन्द्रिया अपि।
धनलोभेन जायन्ते निधानस्थानभूमिषु॥

भावार्थ—सर्प, गृहगोधा, आदि के रूप में पंचेन्द्रिय जीव भी धन के लोभ से अपने निधान स्थान की भूमि में उत्पन्न होते हैं।

लोभाधीन जीव मर कर भी अपने भंडार के आसपास पंचेन्द्रिय तिर्यंच के रूप में उत्पन्न होता है। इतना ही क्यों,

यदि कोई स्त्री या पुरुष वहाँ जाता है तो इस को देख कर उस को क्रोध आता है। इस को हानि भी पहुँचाता है। यदि कोई जबर्दस्त वहां से धन खोद कर निकाल ले जाता है तो उस को बड़ा दुःख होता है और संताप कर करके वह अपने प्राण देता है। यद्यपि वह धन उस के निरुपयोगी होता है और उसे यह ज्ञान भी नहीं होता है कि, यह धन मेरे किसी काम में आनेवाला है, तथापि पूर्वभव के लोभ से वह व्याकुल होता है और दुःख परम्परा को भोगता है। कषाय के कारण वहाँ से मरकर विशेष दुर्गति में जाता है अथवा वहीं बारबार जन्मता और मरता रहता है।

लोभ भूत पिशाचादिको भी दुखी करता है। कहा है कि:—

> पिशाचमुद्गलप्रेतभूतयक्षादयो धनम्।
> स्वकीयं परकीयं वाऽप्यधितिष्ठन्ति लोभतः ॥

भावार्थ—पिशाच, व्यन्तर, प्रेत, भूत और यक्षादि देव अपने या दूसरे के धन को लोभ के वश में होकर दबा रखते हैं।

यह बात हरेक जानता है कि पिशाच, व्यंतर और भूत प्रेतादि को द्रव्य की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। तो भी वे लोभ के कारण रात दिन चिन्तित रहते हैं। वे किसी को

अपना धन नहीं लेजाने देते हैं और यदि कोई लेजाता है तो उसको सुखशान्ति से उसका उपभोग नहीं करने देते हैं।

यह तो हुई पिशाचों की बात। उच्च जाति के देव भी लोभ के वश में होकर नीच गति पाते हैं। कहा है कि:—

भूषणोद्यानवाप्यादौ मूर्च्छितास्त्रिदशा अपि।
च्युत्वा तत्रैव जायन्ते पृथ्वीकायादियोनिषु॥

भावार्थ—देवता भी गहना, बागीचा और बावड़ियों में मोहित होने से, वे देवयोनिसे चवकर—उन्हीं स्थानों में—पृथ्वी-कायादि योनि पाते हैं।

विमानवासी देव क्रीडा करने के लिए बाहिर जाते हैं। वहाँ यदि उनकी आयु पूर्ण होजाती है तो जिस वस्तु में वे मुग्ध होते हैं उसी वस्तु में, वे मरकर, जन्मते हैं। उसमें भी प्रबल कारण लोभ ही है।

यहाँ यह बताना अनुचित नहीं होगा कि, मनुष्य लोभ के वश होकर कैसे कैसे अनर्थ करते हैं। और कैसे कैसे कष्ट उठाते हैं? कहा है कि:—

एकामिषभिलाषिणो सारमेया इव द्रुतम्।
सोदर्या अपि युध्यन्ते धनलेशजिघृक्षया॥

भावार्थ—मांस के एक टुकड़े के लिए जैसे कुत्ते बहुत जल्दी

लड़ पड़ते हैं वैसे ही सहोदर सगे–भाई भी थोड़े से धन के लिए आपस में युद्ध करते हैं।

आश्चर्य है कि एक ही माता के गर्भ से जन्मे हुए भाई लोभ रूपी पिशाच के वश में हो, संबंध को एक ओर रख, आपस में शत्रुता का वर्ताव करने लगते हैं। उदाहरण स्वरूप हम भरत और बाहुबलि का व कौरवों और पांडवों के युद्ध का नाम लेते हैं। इनके युद्धों से जैन और हिन्दु सब परिचित हैं। पांडवचरित्र में और महाभारत में इन युद्धों का विस्तार पूर्वक वर्णन आया है। वर्तमान समय में भी ऐसे सैकड़ों उदाहरण हम प्रत्यक्ष देखते हैं। स्वार्थ साधन में ही रत रहनेवालों की बात को रहने दो मगर परमार्थ साधक मुनियों को–जो मोक्ष के सार्थवाह और निःस्पृही गिने जाते हैं–भी लोभ डाकू लूटे बिना नहीं छोड़ता है। कहा है कि:—

प्राप्योपशान्तमोहत्वं क्रोधादिविजये सति।
लोभांशमात्रदोषेण पतन्ति यतयोऽपि हि॥

भावार्थ—क्रोध, मान और माया को जीतकर 'उपशान्त मोह' नामा गुणस्थान में पहुँचे हुए मुनि भी लोभ के अंश मात्र से वहाँ से पतित होजाते हैं।

जैनशास्त्रों में चौदह गुणस्थान बताये गये हैं। वे क्रमशः एक दूसरे से ऊँची कोटि के हैं। जैसे जैसे आत्मिक गुणों

की उन्नति होती जाती है वैसे ही वैसे जीव उच्च उच्च तर गुणस्थान में चढ़ता जाता है।

इनमें से पहिले चतुर्थ गुणस्थान की प्राप्ति ही बड़ी कठिन है। चतुर्थ गुणस्थानक की प्राप्ति के समय मनुष्य को वस्तु धर्म की वास्तविक पहिचान होती है। अर्थतः वह वास्तविक देव को देव मानता है, वास्तविक गुरु को गुरु मानता है और वास्तविक धर्म को धर्म समझने लगता है। समझ कर फिर तीनों की भक्ति में रत होता है।

भक्ति करते हुए फिर उसके व्रत करने के भाव होते हैं। मोटे रूप से व्रत आदरता है। तब वह पंचम गुणस्थान वर्ती कहलाता है। इस गुणस्थान में श्रावकों के पूर्णतया व्रत पालन कर फिर वह साधु धर्म स्वीकार करता है। व्रतों को पूर्णतया पालना स्वीकार करता है। इससे वह छठे गुणस्थानवर्ती होता है। फिर जैसे जैसे उत्तरोत्तर आत्म सत्ता की शुद्धता होती जाती है वैसे ही वैसे वह आगे के गुणस्थानों में प्रवेश करता जाता है।

जब वह दशवें गुणस्थान में पहुँचता है तब उसके क्रोध मान, माया और लोभ क्रमशः क्षय होते हैं या उपशान्त होते हैं। ग्यारहवें गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ उपशान्त दशा में रहता है। वही लोभ जीव को ग्यारहवें गुणस्थान से पतित करता है।

ग्यारहवें गुणस्थान से पतित जीव कई तो सातवें गुणस्थान में आते हैं और वहां से उपशान्त श्रेणी छोड़ कर क्षपक श्रेणी प्रारंभ कर के मोक्ष में जाते हैं। कई सीधे मिथ्यात्व गुणस्थान में आते हैं और मर कर निगोद आदि गतियों में जाते हैं।

समस्त जैन तत्त्ववेत्ताओंने यह बात बताई है कि, दशवें गुणस्थान तक लोभ का जोर रहता है। कर्म–सिद्धान्त के रहस्य को जाननेवाले यह बात भली प्रकार से समझते हैं कि जीव ग्यारहवें गुणस्थान से वापिस गिरता है।

जब आत्म–सत्ता को पहिचानने वाले भी लोभ के सपाटे में आ कर नीचे गिर जाते हैं तब दूसरे पामर जीवोंकी तो बात ही क्या है ?

वर्तमान स्थिति का यदि हम विचार करेंगे तो हमें ज्ञात होगा कि लोभ डाकूने सारे वर्ग के साधुओं की दुर्दशा कर डाली है। यहां पहिले हम त्यागी, वैरागी गिने जानेवाले जैन मुनियों का विचार करेंगे। हमें इन की स्थिति देख कर बड़ा आश्चर्य होता है।

उन के नाम हैं अनगार, भिक्षु, मुनि, मुमुक्षु आदि। परंतु उन में से कइयोंके व्यवहार इन नामों से सर्वथा उल्टे हैं। मगर इसका वास्तविक कारण देखेंगे तो मालूम होगा कि वह लोभ वृत्ति ही है। ठीक ही है। लोभवृत्ति का जोर जब दशवें गुणस्थान तक होता

ह, तब छठे गुणस्थानवालों को लोभ हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

जिन्होंने संसार छोड़ दिया है और जो त्यागी मुनि बने हैं उनमें जो लोभवृत्ति का विशेष जोर है इसका कारण मोह है । मोहनीय कर्म का जोर तत्वज्ञान के विना नहीं हट सकता है । तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिए निःस्पृहता गुण चाहिए और निःस्पृहता ' मेरे तेरे पन से दूर दूर भागता है । '

लोभकर, मेरे तेरे में गिर मुनि नीचे गिरते हैं । किसी को यश का लोभ होता है, किसी को उपाधि का—पदवी का—लोभ होता है, किसी को पुस्तकों का लोभ होता है, किसी को श्राव-कों का लोभ होता है और किसी को शिष्यों का लोभ होता है । इसी तरह किसी न किसी प्रकार के कुचक्र में फँसकर वे अपना जन्म व्यर्थ गँवाते हैं ।

यद्यपि अन्यान्य साधुओं की अपेक्षा जैन मुनि कई गुने त्यागी और वैरागी होते हैं, तथापि अनीति से उपार्जन किये हुए पैसों का अन्न—जो वे श्रावकों के यहाँ से लाते हैं—खाकर, वे उल्टे मार्ग पर चलने लगजाते हैं । इसीलिए बड़े लोगोंने कहा है कि, ' **जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन** ' और यह कथन सर्वथा ठीक ही है ।

जो मुनि संसार के कार्यों से सर्वथा मुक्त हो गये हैं; जो

अहर्निशि आत्म-मनन में रत रहते हैं उनके लिए मोह उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं है। तो भी कईबार मुनि मोह में फँस जाते हैं इसका कारण आहार भी है।

कई जगह सदाव्रत की भाँति दान दिया जाता है। मगर उससे दान देनेवाले और लेनेवाले दोनों को कुछ वास्तविक लाभ नहीं होता है। दाता यदि नीति से पैसा उपार्जन कर आत्मकल्याण के हित सुपात्र को दान दे और सुपात्र केवल संयम निर्वाह के लिए शरीर को टिका रखने की गरज से दान ले, तो इससे दोनों की सुगति होती है। मगर यदि इससे विपरीत किया जाता है, यदि नीति अनीति का विचार किये विना दाता धन उपार्जन करता है और यश कीर्ति के हेतु दान देता है; और लेनेवाले अपने शारीरिक सुख के लिए दान लेता है तो दोनों की दुर्गति है।

जहाँ वास्तविक मुनिपन है वहाँ लोभ का अभाव भी आवश्यक है। यदि गृहस्थों के संसर्ग से लोभादि दुर्गुण मुनि में उत्पन्न हों, तो मुनि को चाहिए कि वह ऐसे श्रावकों के संसर्ग में आना छोड़ दे। संसर्ग छोड़ने पर भी यदि उसकी लोभवृत्ति का शमन न होतो उसको समझना चाहिए कि अभी उसको और बहुत काल तक संसार में भ्रमण करना है।

लोभ के वश में पड़ा हुआ जीव अनेक अनर्थ परंपरा की

जाल में फँसता है। देवद्रव्य और गुरुद्रव्य को हजम कर जाने की शिक्षा दिलानेवाला भी लोभ ही है। प्राणियों को अनीति मार्ग पर ले जानेवाला भी लोभ ही है।

यद्यपि मनुष्य समझता है कि मुझ को सब कुछ छोड़ कर चला जाना है तथापि द्रव्याधीन हो कर दरिद्रावस्था का उपभोग करता है। रातदिन द्रव्य के लिए दीन बनता है, नहीं करने का काय करता है और नहीं बोलने का होता है वह बोलता है। इसी भाँति संबंधियों के साथ उसका बहुत काल का जो संबंध होता है उसे भी वह लोभ के वश में हो कर तोड़ देता है। लोभी मनुष्य असद् वस्तु का भी सद्भाव बताने लग जाता है। कहा है कि—

हासशोकद्वेषहर्षानसतोऽप्यात्मनि स्फुटम्।
स्वामिनोऽग्रे लोभवन्तो नाटयन्ति नटा इव ॥१॥

भावार्थ—हास्य, शोक, द्वेष और हर्ष का अभाव होने पर भी, लोभी मनुष्य–केवल लोभ के कारण–अपने स्वामी के सामने नट की तरह नाचता है।

लोभी मनुष्य का हृदय दुःखी होने पर भी धनवान के आगे उसको खुश करने के लिए– ऊपर से हँसता है। मालिक का कुछ नुकसान होने पर–वास्तविक दुःख न होने पर भी– अपनी मुद्रा को शोक प्रदर्शिका बना लेता है। स्वामी के शत्रु

पर अपना द्वेष न हो तो भी अपना उसके प्रति द्वेष होना बताने की चेष्टा करता है। अपने स्वामी से अपने को थोड़ा लाभ हुआ है, यह सोच कर मन में दुःखी होता है; परन्तु उसके सामने यह बताने का प्रयत्न करता है कि इस लाभ से मैं बहुत सन्तुष्ट हूँ। वह कहता है—" आप ही मेरे अन्नदाता हैं। आप ही के प्रताप से मैं सुखी हूँ। आप की दी हुई प्रसादी मेरे लिए लाख रुपये की है।"

इस भाँति लोभी खुशामद करता है। ऐसी खुशामदें करने पर भी बेचारे की आशा पूरी नहीं होती है। वह जैसे जैसे लोभ रूपी खड्डे को भरने की कोशिश करता है वैसे ही वैसे वह विशेष रूप से खाली होता जाता है। इस लिए कहा है कि:—

अपि नामैष पूर्येत पयोभिः पयसांपतिः।
न तु त्रैलोक्यराज्येऽपि प्राप्ते लोभः प्रपूर्यते ॥

भावार्थ—समुद्र में चाहे कितना ही पानी जाय तो भी वह पूर्ण नहीं होता है; इसी भाँति तीन लोक का राज्य मिल जाने पर भी लोभरूपी समुद्र कभी नहीं भरता है।

समुद्र जैसे उस में कितना ही जल आ जाय तो भी वह नहीं भरता है वैसे ही चाहे कितना ही लाभ हो जाय तो भी लोभरूपी समुद्र खाली का खाली ही रहता है। इतना ही नहीं

जैसे जैसे विशेष लाभ होता जाता है वैसे ही वैसे लोभ विशेष विशेष बढ़ता जाता है। इसी लिए कहा है कि:—

"यथा लाभस्तथा लोभो लाभाल्लोभः प्रवर्धते।"

(जैसे लाभ होता है वैसे ही लोभ भी होता है। लाभ से लोभ बढ़ता है।) इस बात का समर्थन करने के लिए श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कपिल नामा केवली का एक उदाहरण आया है। उसका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है।

"कोशांबी नगरी में जितशत्रु नाम का राजा राज्य करता था। उस नगर में काश्यप नाम का एक ब्राह्मण रहता था। राजा और प्रजा सब ही उसका सत्कार करते थे। उसकी स्त्री का नाम था यशा और पुत्र का नाम था कपिल। काश्यप कपिल की बाल्यावस्थाही में मर गया। इस लिए काश्यप के अधिकार पर कोई दूसरा ब्राह्मण आया। इस ब्राह्मण का राज दर्बार में और प्रजा में आदर सत्कार होता देख कर यशा दुखी होने लगी। तब उससे कपिलने पूछाः—"माता! तुम क्यों रोती हो?"

यशाने उत्तर दियाः—"हे कपिल! यदि तू पढ़ा हुआ होता तो तेरे पिता का अधिकार किसी दूसरे के हाथ में न जाता।"

कपिलने कहा:—"माता! दुःख न करो मैं पढूँगा।"

सुन कर यशा को जरा संतोष हुआ। उसने कहा:—" हे पुत्र ! यहाँ राजमान्य नवीन पंडित के भय से तुझ को कोई नहीं पढ़ावेगा। इस लिए तु श्रावस्ती नगरी में जा। वहाँ तेरे पिता का इन्द्रदत्त नामा मित्र रहता है। वह तुझ को पढ़ावेगा।"

माता की आज्ञा लेकर कपिल श्रावस्ती नगरी में इन्द्रदत्त उपाध्याय के पास गया और उसको अपना सारा हाल सुनाया। सुनकर इन्द्रदत्तने सोचा—" यह मेरे मित्र का पुत्र है इसलिए इसको पढ़ाना मेरा कर्तव्य है। "

तत्पश्चात् उसने शालिभद्र नामा एक दानवीर सेठ के यहाँ उसके खानपान का प्रबंध करादिया और उसको पढ़ाना प्रारंभ किया। अध्ययन के प्रतापसे उसके विद्वान् बनने के चिन्ह दिखाई दिये।

मगर कर्म बड़ा विचित्र है। यौवनावस्था के कारण सेठके घर की एक दासी के साथ उसका संबंध होगया। कुछ दिन के बाद दासी को गर्भ रहा।

दासीने एक दिन कपिलसे कहा:—" मैं तुमसे गर्भिणी हुई हूँ। इसलिए उसकी प्रसूति का भार तुम्हारे सिर है। कुछ रुपयों की आवश्यकता होगी। "

दासी के वचन सुनकर बिचारा कपिल घबराया। उसको रातभर नींद न आई। दासी को यह हाल मालुम हुआ।

दासीने कहाः—" घबराते किसलिए हो ? यहाँ एक धन नामा सेठ रहता है। जो कोई जाकर उसको सबसे पहिले आ-शीर्वाद देता है उसको वह दो मासे सोना देता है। तुम जाकर उसको सबसे पहिले आशिष दो।"

सबसे पहिले जाकर धन को आशिस देने का विचार करता हुआ कपिल सोया। मगर उसको पूरी नींद नहीं आई। थोड़ीसी आँख लगने के बाद आधी रातको ही वह उठ बैठा और यह सोचकर उठ बैठा कि दिन निकलने वाला है।

मगर बाहिर निकलते ही उसको सिपाहियोंने पकड़ लिया। रातभर थाने में बिठाकर सवेरे ही वह राजा के पास पहुँचाया गया।

राजाने उसको पूछाः—" तू आधी रातको घरसे बाहिर किसलिए निकला था ? "

कपिलने सोचा ' साँच को आँच नहीं ' सच कहनाही ठीक है। फिर उसने अपना सारा सत्य वृत्तान्त सुना दिया।

राजा उसके सत्य बोलनेसे प्रसन्न हुआ और कहाः—" जो चाहिए सो माँग। मैं दूँगा।"

कपिलने उत्तर दियाः—" मैं सोचकर माँगूँगा।"

तत्पश्चात् वह विचार करने के लिए अशोकवाटिका में गया।

और सोचने लगा-" मैं दो माशा के बजाय दस माशा सोना माँग लूँ। मगर इतनेसे तो केवल कपड़े ही बनेंगे। जेवर नहीं बनेगा। इसलिए बहुत देरके बाद उसने निश्चय किया कि एक हजार माशे माँग लूँगा। लोभने उसको उस निश्चय पर भी स्थिर न रहने दिया। उसने सोचा-घर, द्वार, घोड़ा, गाड़ी, दासदासी आदि एक हजार माशेसे न हो सकेंगे। इसलिए एक लाख माशे माँग लूँ। मगर यहाँ जीव न ठहर सका। सोचने लगा-एक लाख में तो राजा के समान समृद्धिशाली न बन सकूँगा। इसलिए एक करोड माशा सोना माँगना चाहिए।

उसी समय उसके शुभ कर्मों का उदय आया। उसके हृदय में वैराग्य भावना उत्पन्न हुई। उसको नैसर्गिक सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ और साथ ही शम, संवेग, निर्वेद आदि गुणोंकी भी प्राप्ति हुई। इससे वह वाटिका ही में बैठा हुआ भावसाधु बन गया और द्रव्यसाधु बनने के लिए लोच करने को तत्पर हुआ। उसी समय देवताओंने आकर उस को मुनिका वेष अर्पण किया।

तत्पश्चात् वह वहाँसे उठकर राजा के पास गया। राजाने उसको बहु रूपिये की भाँति दूसरा वेष बदला देख, पूछा:- क्या सोचा ? "

उसने उत्तर दिया:—

" जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढइ ।
दोमासाकणयकज्जं कोडीए वि न निवट्टियं ॥

भरवार्थ—जैसा लाभ वैसे ही लोभ । लाभ लोभ को बढ़ाता है । मैं दो माशा सोने के लिए आया था मगर एक करोड माशा से भी मुझ को सन्तोष नहीं हुआ ।

इसलिए हे राजा ! लोभ को छोड अब मैंने मुनि का वेष धारण किया है । अब मैं द्रव्य और भावसे साधु हूँ । "

राजाने कहाः—" मैं एक करोड माशा सोना देने को तैयार हूँ । "

कपिलने उत्तर दियाः—" राजन् ! मैंने सब परिग्रह को छोड़ दिया है । "

इस प्रकार कहकर कपिल मुनि वहाँसे चले गये । शुद्ध चारित्र पालने लगे । इससे उनको लोकालोक का प्रकाश करने वाला केवलज्ञान प्राप्त हुआ ।

एकवार मार्ग में उन को चोर मिले । उनको बडी ही उत्तमता के साथ उपदेश दिया । और बलभद्रादि चोरों को सन्मार्ग पर लगाया । उदाहरणार्थ उन के उपदेश में भी एक गाथा यहाँ उद्धृत की जाती है ।

अधुवे असासयंमी संसारंमि दुक्खपउराए ।
किं नाम हुज्ज तं कम्मयं जेणाहं दुग्गइ न गच्छेज्जा ?

भावार्थ—इस अस्थिर अशाश्वत और दुःख पूर्ण संसार में ऐसा कौनसा कर्म है कि जिस के करने से मैं दुर्गति में न जाऊँ ?

ये वाक्य केवली कपिलने चोरों को सन्मार्ग पर लाने के लिए कहा हैं। अन्यथा वे स्वयं तो कृतकृत्य हो चुके थे। "

केवली कपिल के उदाहरण से मनुष्य को यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि लोभ का त्याग करना ही अच्छा है। कपिलने लोभ छोड़ा तब ही वे केवली बनकर अजरामर पद को प्राप्त कर सके। यदि वे ऐसा न करते तो न जाने उन की क्या दशा होती ?

जो मनुष्य लोभ के आधीन होता है, वह किसी का भी भला नहीं कर सकता है। दूसरे का हित तो दूर रहा वह स्वयं अपना हित भी नहीं कर सकता है। विपत्तियों का पहाड़ सिर पर टूट पड़ने पर भी लोभ के वश हो कर वह द्रव्यव्यय द्वारा उस को नहीं हटा सकता है। लोभ प्रकृति दुनिया में अनेक प्रकार की विडम्बनाएँ उत्पन्न करती है। इस के कारण जाति बिरादरी में, सज्जन समाज में और अन्यान्य लौकिक कार्यों में वह अमान और अपयश का ही भाजन होता है। लोभी से धर्म साधन भी नहीं होता है। लोभ रूपी अग्नि संतोष रूपी अमृत के विना शान्त नहीं हो सकती है। कहा है कि:—

शीतो रविर्भवति शीतरुचिः प्रतापी
स्तब्धं नभो जलनिधिः सरिदम्बुतृप्तः ।
स्थायी मरुद्विदहनो दहनोऽपि जातु
लोभाऽनलस्तु न कदाचिद्दाहकः स्यात् ॥

भावार्थ—शायद सूर्य शीतल हो जाय; चंद्र प्रतापी—उष्ण स्वभाववाला बन जाय, आकाश स्तब्ध हो जाय; समुद्र नदियों के जल से तृप्त हो जाय, पवन स्थिर हो जाय और अग्नि अपने दाहक गुण को छोड़ दे; मगर लोभ रूपी अग्नि कभी अदाहक—न जलानेवाली—नहीं होती है ।

वास्तव में लोभ रूपी अग्नि से प्राणियों के अन्तःकरण भस्मीभूत हो जाते हैं; उन के शरीर में, लोही मांस को सुखाकर, अस्थिपंजर अवशेष रख देता है । इतनी हानि उठा लेने पर भी प्राणी लोभ का त्याग नहीं करते हैं । घृत को पा कर जैसे अग्नि विशेष रूप से भभक उठती है इसी तरह लाभ के द्वारा लोभानल भी भयंकर रूप धारण करता जाता है। बढ़ते बढ़ते वह अग्नि यहाँ तक बढ़ जाती है कि, जप, तप, संयम और विद्या आदि सब गुणों को जला कर जगत् के पूज्य को भी अपूज्य बना देती है । लोभ के जोर से मनुष्य अपना कर्तव्य भूल कर, दुनिया का दास बन जाता है । शास्त्रकार कहते है कि:—

आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य ।
आशा दासी येषां तेषां दासायते लोकः ॥

भावार्थ—जो आशा के दास हैं वे सब के दास हैं और आशा जिन की दासी है उन के सारे लोग दास होते हैं ।

धन की आशा, विषय की आशा, और कीर्ति की आशा आदि अनेक प्रकार की आशाएँ होती हैं । उन सबका लोभ सागर में समावेश हो जाता है । आशा विषकी वेल के समान है । विषवेल के खाने से एक ही शरीर छूटता है; परन्तु आशा रूपी वेल के भक्षण करने से अनेक जन्म मरणादि कष्ट परंपरा को सहन करना पड़ता हैं ।

धन की आशा से मनुष्य खजाने की शोध में फिरता है; भूमि खोदता है; और स्वर्ण बनाने की रसायन प्राप्त करने के लिए अनेक वेषधारी ठगों को सिद्ध पुरुष समझ कर उन की सेवा करता है; उन की आज्ञा पालता है और उन की बताई हुई बू-टियां–जड़ियां–खोजने के लिए भयंकर वनों में और भयानक प-र्वत की चोटियों पर जाता है । अपने प्राणों की भी वह बाजी लगा देता है ।

इस प्रकार से बड़ी कठिनता के साथ जडी ला कर, भट्ठी बनाता है; आग जलाता है और रात दिन उस के सामने खाना, पिना, सोना सब छोड कर, बैठता है; मगर अंत में कुछ न मि-

लने से दुःखी होता है। भाग्य विना क्या कभी किसी को कुछ मिला है ?

इससे जब कुछ लाभ नहीं होता है तब सेवावृत्ति में लगता है। राजा महाराजाओं का सेवक बनता है और प्रसंग आने पर अपने प्राणों की आहुति देने को भी तत्पर हो जाता है। मालिक मिथ्या या अनुचित जो कुछ बोलता है उस को वह अपनी सारी बुद्धि की शक्ति लगाकर, सत्य या उचित प्रमाणित करने का प्रयत्न करता है। धर्मकर्म की उस समय वह कुछ भी परवाह नहीं करता है। मगर वहाँ भी धनाशा पूर्ण नहीं होती।

तब कुटुंब परिवार को छोड़, बड़े बड़े वनों, पर्वतों और समुद्रों को लांघ विदेशों में जाता है। जिन देशों में प्राणों का डर हो वहाँ भी जाता है और बड़ी ही सावधानी से वहाँ व्यापार करने लगता है। मगर वहाँ भी उसे निराश होजाना पड़ता है, तो फिर वह मंत्र यंत्र की खोज में लगता है।

किसी योगी या फकीर को देखकर सोचता है कि, ये सिद्ध महात्मा है। इनसे मेरा कल्याण होगा। ये प्रसन्न होकर मुझ को कोई ऐसा मंत्र देंगे की जिससे मैं धनवान हो जाऊँगा और इसी विचारसे वह सच्चे दिलसे उसकी सेवा करने लगता है।

किसी समय वह योगी लहर में आकर पूछता है कि:— "क्यों भक्त कैसा है ?" उस समय धन—लोमसे विह्वल बना

हुआ मनुष्य नम्रता और दिनता से उसके पैरों पर गिरकर कहता है कि—" महाराज कोई मार्ग दिखाइए । "

योगी बडी गंभीरता धारण कर कहता है:—" क्यों बच्चे क्या काम है ? "

तब वह लोभी अपने मरम का इस प्रकार भंडा फोड़ता है " महाराज, कृपा करके कोई ऐसा मंत्र या यंत्र बताइए कि जिससे आप का सेवक सुखी हो । दो चार बरस से मैं बराबर विपत्तियों का शिकार बन रहा हूँ । "

तब महाराज पुस्तक खोल कर, या मुँह से कुछ बताते हैं । लोभ वश बिचारा उसको सत्य समझ, धनाशा को पूर्ण करने के लिए, देवपूजा, सामायिक, संध्या आदि सारी धर्म कृतियों को भूल कर अपना मन उसी में लगा देता है । उसी की साधना में अपना सारा समय व्यतीत करता है । मगर हत-भाग्य, यह नहीं समझता है कि मंत्र, यंत्र आदि सब पुण्यवान के ही सफल होते हैं औरों के नहीं । भाग्यहीन—पुण्यहीन के लिए तो उल्टे ये हानिकारक हो जाते हैं । परिणाम यह होता है कि असफलता के कारण बिचारे में जो कुछ बुद्धि होती है वह भी नष्ट हो जाती है, वह पागल हो जाता है, और उद्यम हीन होकर नितान्त दरिद्री बन बैठता है ।

अब हम यह देखेंगे कि विषय की आशा मनुष्य को कैसी

विपत्तियों में डालती है। विषयी मनुष्य रंक के समान हो जाता है। चाहे कोई राजा हो या फकीर, धनी हो या गरीब, देव हो या दानव, और भूत हो, या पिशाच, चाहे कोई भी हो। विषय की आशा में पड़ कर वे स्त्री के दास हो जाते हैं; सिर पर जूते खाते हैं, और जन समूह में तिरस्कार व अपमानित होते हैं।

इसी भांति कीर्ति के लोभी भी स्वर्ग और मोक्ष फल के देनेवाले धर्मानुष्ठान को धूळ में मिला देते हैं; मिथ्या ढौंग व मायाचार कर संसार के बंधन को दृढ करते हैं और ऐसे कार्य करते हैं; जिन से लोग उन पर तो क्या, मगर सत्य साधुओं पर भी संदेह करने लगते हैं। उन के भक्त लोग भी उन से विमुख हो जाते हैं। यह जो कहा जाता है कि, आशाधीन मनुष्य जगत् के दास होते हैं, इस में लेश मात्र भी अवास्तविकता या अतिशयोक्ति नहीं है। गाँची, मोची, तेली, तंबोली, लोहार, सुतार, दरजी, नाई और पंडित आदि सब ही लोग लोभाधीन हो कर, दूसरों की सेवा में अपना जीवन बिताते हैं। अहो! कहां तक कहें लोभ रूपी दावानल समस्त वस्तुओं को नाश करने में समर्थ है। इस लिए भव्य जीवों को उचित है कि वे लोभ रूपी दावानल को, ज्ञानमेघसे बरसनेवाले संतोष जलसे शान्त कर देवें।

लोभ का जय करने के उपाय।

पुण्य के विना द्रव्य का लाभ नहीं होता है और कदाचित हो जाता है तो वह विशेष समय तक नहीं टिकता है। यदि वह टिकता है तो भी उस से आत्मिक सुख नहीं मिलता है। इस लिए विचारशील पुरुषों को कदापि लोभ नहीं करना चाहिए। दुनिया में कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलेगा, जिस से यह मालुम हो कि, लोभ के कारण कोई सुखी हुआ है। सागर नामा सेठ लोभ ही के कारण समुद्र में डूब कर मर गया है। कहा जाता है कि;—

अतिलोभो न कर्तव्यो लोभो नैव च नैव च।
अतिलोभप्रसादेन सागरो सागरं गतः ॥

भावार्थ—लोभ न करना चाहिए (यदि कोई करे तो भी साधारण) अति लोभ तो कदापि नहीं करना चाहिए। बहुत ज्यादा लोभ करने ही से सागर नामा सेठ सागर में डूब गया था।

लोभ ही के कारण सुभूमचक्रवर्तीने अन्य चक्रवर्तियों की अपेक्षा कोई नवीन बात करनी चाही। उसने चाहा कि—सब चक्रवर्तियोंने छः खंड पृथ्वी का साधन किया है। सातवीं का किसीने नहीं किया। अतः मैं उस का साधन कर सात खंड

पृथ्वी का स्वामी बनूँ। ऐसा सोचकर वह सातवें खण्ड का साधन करने चला; परन्तु वह बीचही में डूब मरा और सातवीं नारकी में पहुँचा।

इस उदाहरण से यह नतीजा निकलता है कि, सन्तोष के विना मनुष्य को, चक्रवर्ती की ऋद्धि मिले या वासुदेव प्रतिवासुदेव की या बलदेव की सिद्धि प्राप्त हो तो भी उस का लोभ नहीं मिटता है।

लोभ करने से ज्ञान, दर्शन, और चारित्र रूप निश्चल लक्ष्मी का नाश होता है। शायद लोभसे चंचल लक्ष्मी प्राप्त हो जाय तो भी अपने स्वभावानुकूल वापीस चली जाती है। यदि लक्ष्मी नहीं जाती है, तो उसकी रक्षाकी चिन्ता में लोभी स्वयमेव घुल घुल कर मर जाता है। इसी लिए कहा जाता है कि तृष्णा महादेवी का स्वप्न में भी सहवास नहीं करना चाहिए। तृष्णा महादेवी की संगति से अनन्त जीव नष्ट भ्रष्ट हुए हैं; उन की दुर्दशा हुई है वे दुर्गति में गये हैं। लोभी की इस गति में भी कैसी खराब हालत होती है उस के लिए मम्मण सेठ का उदाहरण बहुत ही अच्छा होगा। उस के पास बहुत धन था, तो भी वह आयुभर तैल और चवले ही खाता रहा था। उस का वृत्तान्त इस तरह हैं:—

" पूर्वभव में मम्मण सेठ का जीव एक सामान्य वैश्य था। उसका ब्याह भी नहीं हुआ था। एक बार जिस नगर में मम्मण रहता था उस नगर के एक सेठने लड्डुओं की लहाण बाँटी—अपनी सारी जाति में प्रति मनुष्य एक लड्डू दिया। मम्मण को भी एक लड्डू मिला। उसने यह सोचकर लड्डू रख लिया—न खाया कि, किसी दिन खाऊँगा।

एक दिन मम्मण निश्चिन्त भाव से अपने घर में बैठा हुआ था; उसी समय उसके भाग्य से एक पंच महाव्रतधारी मुनि शुद्ध आहार की गवेषणा करते हुए वहाँ आ पहुँचे। मुनि को देख कर, उसने खड़े हो कर नमस्कार किया। फिर वह सोचने लगा—" मेरा अहोभाग्य है जो मेरे घर मुनि महाराज पधारे हैं। मगर रसोई तो अबतक तैयार नहीं हुई है; मुनि को मैं क्या वहराऊँ—आहार क्या देऊँ। "

थोड़ी देर चिन्ता करने के बाद उसे लड्डू याद आया। उसने तत्काल ही लड्डू—जो साढ़े बारह सोना महोरों के खर्च से बनाया था—मुनिराज को, उनके योग्य समझ, वहरा दिया। मुनिराज वहरकर चले गये। मम्मण भी सन्तुष्ट होकर, बैठा। उसी समय उसकी पड़ोसनने आकर पूछा:—" क्या तुमने लड्डू खा लिया ? "

उसने उत्तर दिया:—" नहीं। "

पड़ोसनने पूछाः—" तब लड्डू कहाँ गया ? "

उसने उत्तर दियाः—" मैंने उसे मुनि महाराज को बहरा दिया । "

पड़ोसनने जरा मुँह बनाकर कहाः—" अरे तुमने यह क्या किया ? वह बहुत अच्छास्वाद लड्डू था । "

यह सुनकर, उसने लड्डूवाला बतन सँभाला । उसमें उसे थोड़ासा लड्डूका चूरा पड़ा हुआ मिला । उसने लेकर मुँह में डाला । उसका उसे बहुत स्वाद आया । इसलिए उसे विशेष स्वाद आया । अतः उसे विशेष खाने की इच्छा हुई । उस इच्छाने–उस लड्डू खाने के लोभने–उसकी उत्तम भावना को नष्ट कर दिया और उसके जीव को उन्मार्ग पर ले गया । वह मुनिके पीछे दौड़ा । मुनि को वन में जाते हुए, उसने मार्ग में रोका, और कहाः—" मैंने तुम्हें जो लड्डू बहराया है वह वापिस दे दो । "

साधुने उत्तर दियाः—" भाई, साधु के पात्र में पड़ा हुआ आहार वापिस लिया नहीं जाता और न साधु ही उसे वापिस देते हैं । "

और भी शान्तिसे कई तरह की बातें कहकर, मुनिने उसको समझाया; परन्तु उसने एक न सुनी । वह लड्डू के लोभ में लग

रहा था। सीधी तरहसे लड्डू मिलता न देख वह साधुसे झगड़ने लगा।

मुनिने सोचा—" यह आहार मेरे लिए अयोग्य है, वापिस उसको देना भी उचित नहीं है। इसलिए इसका कुछ और प्रयत्न करना चाहिए। "

तत्पश्चात् उन्होंने मम्मण के देखते हुए उस लड्डू को राख में मल डाला, इससे मम्मण निराश होकर चला गया। मुनि वन में जाकर धर्म ध्यान में लगे।

मम्मण का जीव मरकर, मम्मण सेठ बना। लड्डू के दान से उस को बहुतसा धन मिला; परन्तु उसने साधु को खाने का अन्तराय किया था इसलिए वह धन को खा पी न सका, उसने अपना सारा जीवन तेल और चँवले खाकर बिताया। ":

हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि, कई प्राणियों को घृत, आम का रस, दूध, दही आदि मिलते हैं तो भी वे उन्हें खा नहीं सकते हैं। इसका कारण हमें तो यही जान पड़ता है कि उन जीवोंने पूर्व भव में किन्हीं को उन पदार्थों का अन्तराय दिया था।

लोभ के लिए और भी कई दृष्टान्त दिये जा सकते हैं।

धवल सेठने लोभ के वश, पाप की कुछ परवाह नकर श्रीपाल को मारने के अनेक प्रयत्न किये। अन्त में उसका-धवलका ही विनाश हो गया था।

ऐसे पुराणों से अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं; परन्तु अब हम उनको छोड़कर आजकाल की बातों का थोड़ा उल्लेख करेंगे ।

माल खरीदने और बेचनेवाले में झगड़ा होजाता है । लोभ के कारण बेचनेवाला कुछ कम देने की नियत रखता है और लेनेवाला कुछ ज्यादा लेने की । नौकर और मालिक के बीच में झगड़ा होता है और कईवार तो उन्हें कचहरियों में चढ़ना पड़ता है । मंत्री और राजा के बीचमें क्लेश होजाने से राजा मंत्री का घर लूट लेता है । लुटा हुआ मंत्री दूसरे राजा से जा मिलता है और राजा, राज्य के साथ स्वदेश को भी नष्ट भ्रष्ट करा डालता है । विद्रोह के दोषसे उसकी भी अन्त में बुरी हालत हो जाती है । इन सबका कारण एक ही है । वह है लोभ ।

लोभाधीन मनुष्य अपनी जाति की या अपने देश की कुछ भी भलाई नहीं करते हैं। गुरु और शिष्य का संबंध आत्म-कल्याण के लिए होता है । मगर यदि उन के दिलों में लोभ का अंकुर फूट उठे तो गुरु अपनी गुरुता छोड़कर, धूर्त बन जाता है और शिष्य अपना शिष्यत्व छोड़कर ठगी अखतियार करता है। फिर दोनों आत्म-कल्याण को छोड़कर द्रव्य-कल्याण की धुन में लगते हैं । उनके पठन, पाठन, मनन, क्रियाकांड, धर्मोपदेश

आदि सब मायामिश्रित होकर उनके दुर्गतिका कारण होजाते हैं। लोकपूजा और कीर्ति लोभ रूपी धूमकेतुसे नष्ट होजाते हैं।

लोभ लाखों गुणों का नाशक है; लोभ आत्मधर्म का पक्का शत्रु है; लोभ पाप का पोषक है; लोभ संयम गुणों का चुराने वाला है। अज्ञानादि मोरों को आनंदित करने में लोभ मेघ के समान है। मिथ्यात्वरूपी उल्लू को सहायता देने में लोभ रात्रि के समान है। दंभ, ईर्ष्या, रति अरति, शोक संताप और अविवेकादि जल-जन्तुओं को आश्रय देने में लोभ महासमुद्र के समान है। काम क्रोधादि चोरों को आश्रय देने मे लोभ महान् पर्वत के समान है। दीनता रूपी हिरणों और क्रूरता रूपी सिंहों के रहने के लिए लोभ एक महान जंगल के समान है और चोरी आदि दुर्गुण रूपी महान् सर्पों के लिए लोभ विवर-बिल-के समान है।

ऐसे लोभ को जीतने के लिए, लोभ के कट्टर शत्रु, सदागम के सच्चे पुत्ररत्न सन्तोष को अपने पास रखना चाहिए। संतोष मनुष्य को, अपने पिता सदागम के पास लेजाता है। सदागम ऐसा मार्ग बताता है कि, जिससे संसार का स्वरूप उसके लिए प्रत्यक्ष होजाता है। अतः सन्तोष की संगति प्रत्येक के लिए अत्यन्त आवश्यकीय है।

ऊपर हमने भगवान ऋषभदेव की देशना का अनुसरण कर,

क्रोध, मान, माया और लोभका स्वरूप बताया है; इन की निःसारता का विवेचन किया है। इससे पाठकों के हृदय में वैराग्यवृत्ति उत्पन्न हुई होगी—वैराग्य रस चखने की इच्छा उत्पन्न हुई होगी। अतः उसको, हम अगले प्रकरण में भगवान के वैराग्य रस परिपूर्ण वचनों द्वारा, तृप्त कराने का प्रयत्न करेंगे।



प्रकरण दूसरा।

संसार में जैसे उपदेशकों की संख्या बताना कठिन है वैसे ही मतों की गिनती बताना भी अल्पज्ञों के लिए कठिन है। अपन यदि भरतक्षेत्र का विचार करेंगे तो हमें मालुम होगा कि यह सत्योपदेश से सर्वथा वंचित हो रहा है। जिस के मन में जो विचार उत्पन्न होते हैं, उन को वह तत्काल ही प्रकाशित कर देता है। और जहाँ कहीं बीस पचीस मनुष्य उस के विचारों के अनुकूल हो जाते हैं, वहीं उस का एक नवीन मत चल पड़ता है।

आजकल कितने ही उपदेशक अपने देशाचार को जलाअली दे, कोट, पतलून और बूट आदि में मस्त हो; अपनी स्त्रियों को साथ ले, अपने समान विचारवालों के यहाँ जाते हैं। वहाँ दो चार गीत, गा, गवा, संगीतकला का आस्वादन कर धन्यवाद की लेन देन कर वापिस चले आते हैं। कई काल के अनुसार पाँच पचास शब्द बोल, अपनी वाहवाह करवाने ही में आनंद मानते हैं। कई बिचारे मोहाधीन हो, ईश्वर का स्वरूप स्वयमेव न समझे होते हैं तो भी दूसरे को ईश्वर का स्वरूप बताने की कोशिश करते हैं। कई उपदेशक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण

को ही प्रामाणिक मानते हैं; जो प्रत्यक्ष दिखता है उसी को स्वीकार करते हैं, दूसरी बातों का इन्कार करते हैं, और दूसरों को भी इसी प्रकार की उपदेश देते हैं। कई जड़वादी पंच महाभूतों को ही मान आत्मादि वास्तविक पदार्थों को मिथ्या बताते हैं। कई बृहस्पति के संबंधी होने का दावा कर मद्य, मांस और स्त्री सेवन आदि गर्हणीय बातों को धर्म मानते हैं, और इस तरह आप दुष्ट पथ में चल कर दूसरे लोगों को उस पथ पर चलने के लिए घसीटते हैं। कई जन सेवा करनेवाले मनुष्यों ही को देव मानते हैं और गृहस्थ से भी उतरती श्रेणीवाले को गुरु मानते हैं। अर्थात् कई ऐसे लोगों को गुरु मानते हैं जो भ्रष्टाचारी हैं और भ्रष्टाचार का उपदेश देनेवाले हैं; जो स्त्रियों को उपदेश देते हैं कि–" यह वृन्दावन है; इस में मैं मधुसुदन हूँ, तू राधिका है। इस लिए यहाँ मेरे साथ रमण करने में तेरी कोई हानि नहीं है। "

उक्त प्रकार के हजारों लाखों उपदेशक हैं। वे आप संसार सागर में डूबते हैं और बिचारे दूसरे लोगों को भी डुबाते हैं। छुट्टियों के दिनों में–जैसे रविवार आदि दिनों में–शहरों में हजारों सभाएँ होती हैं। उन में हजारों उपदेशक होते हैं और वे हजारों प्रकार की नवीन कल्पनाओं की, और विचारों की भिन्नताओं का समूह जन समाज के आगे रखते हैं। मगर

वास्तविक तत्त्वज्ञान की बात कहनेवाला तो कोई भी नजर नहीं आता है।

पूर्वकाल में त्यागी महात्मा लोग जो उपदेश देते थे, उन को वे स्वयं आचरण में लाते थे। कोई धार्मिक कृति करने की शिक्षा वे उस समय तक लोगों को नहीं देते थे, जब तक कि वे स्वयं उस को आचरण में नहीं लाने लगते थे। आजकल तो ऐसे उपदेशक रह गये हैं कि:—

पंडित भये मशालची, बातें करें बनाय।
करें और को चादनी, आप अँधेरे जायँ॥

श्रीमान महावीर स्वामी आज से २४४९ बरस पहिले जब इस भरतक्षेत्र में विचरते थे उस समय बुद्ध, पुराण, कश्यप, मंखलीगोशाल, कुकुदकात्यायन, अजितकेश कंबल और संजय बोलपुत्र आदि उपदेशक भी विद्यमान थे। मगर उन के आपस में वैर विरोध बहुत ही थोडा था। श्रीमन् महावीर स्वामी रागद्वेष रहित थे, सर्वज्ञ थे, इस लिए उन्होंने लोगों को केवल आत्मश्रेय का ही उपदेश दिया था। उन के उपदेश में ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप, आदि का शान्तिपूर्वक, प्रतिपादन किया गया है। श्रीमन् महावीर स्वामी के विषय में बुद्धादि देवोंने कईवार रागद्वेष किया था, वह उन के बनाये हुए

पिटकादि ग्रंथोंद्वारा व्यक्त हुआ है। मगर श्री महावीर स्वामीने तो कभी किसी के प्रति रागद्वेष की परिणति नहीं बताई है। उन्हीं महावीर प्रभु के उपदेश की बानगी आज पाठकों को दिखाई जाती है। इस उपदेश में साधुओं को, अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग व परिसह समभावपूर्वक सहन करने के लिए और केवलज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रय की निर्मलता करने के लिए कहा गया है।

वर्तमान समय में पैंतालीस आगम विद्यमान हैं। उन में महावीर भगवान का उपदेश ही संकलित है। उन्हीं आगमों में से यहां सूयगडांग सूत्र के दूसरे अध्ययन के प्रथम उद्देश का विवेचन किया जायगा।

प्रथम प्रकरण में क्रोध, मान, माया और लोभसे होनेवाली हानियों और उन के त्यागसे होनेवाले लाभों का विवेचन किया गया है। अब दूसरे प्रकरण में वैराग्यजनक उपदेश का—जो संयम और कर्मक्षय का कारण है—और अनुकूल व प्रतिकूल उपसर्गों का प्रतिपादन किया जायगा। यह प्रतिपादन वैतालिक अध्ययन का सारांश होगा।

विविध बोध ।

वैराग्य ।

संबुज्झह, कि न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
णो हूवणमंति राईओ, नो सुलभं पुणरवि जीवियं ॥१॥
डहरा वुड्ढाय पासह, गब्भत्था वि चियंति माणवा ।
सेणे जह वट्टयं हरे, एवमाउक्खयम्मि तुट्टई ॥२॥

१ हे भव्यो ! समझो । समझते क्यों नहीं हो ? परलोक में धर्म की प्राप्ति दुर्लभ है । गया समय फिर वापिस नहीं आता है । बार बार मनुष्य जीवन मिलना कठिण है । कई बालकपन में, कई वृद्धावस्था में और कई जन्मते ही मर जाते हैं। आयुष्य समाप्त होने पर जीवन किसी तरह से नहीं टिकता है । श्येन पक्षी जैसे चिड़ियाँ आदि क्षुद्र जीवों का नाश करते हैं । इसी तरह काल जीवों का संहार करता है ।

२ दुष्ट काल कराल पिशाच की दृष्टि जब टेढी हो जाती है तब, वह किसी की बाधा नहीं मानती है । धन्वंतरी वैद्य और यांत्रिक, मांत्रिक, तांत्रिक कोई भी उसको नहीं बचा सकता है । इस बात का हरेक को अनुभव है कि जब अपने इष्ट पदार्थ का वियोग होता है, अथवा अपने किस प्रिय मनुष्य

का मरण हो जाता है तब जीव व्याकुल हो उठता है। मगर जहाँ, दोचार घंटे या पाँच पचीस दिन बीते कि मनुष्य जैसा का तैसा ही वापिस होजाता है। फिर 'वही लोहा और वही लुहार।' किसी तरह की चिन्ता नहीं रहती। शास्त्रकार पुकार पुकार कर कह रहे हैं कि जिन भावों के द्वारा तुम्हारी भावना दृढ, उत्तम हो, उन भावों को कभी मत छोड़ो। मगर बहु संसारी जीव उल्टे विचारों के चक्कर में पड़ते हैं। वे सोचते हैं कि–"साधुओं के पास जाना ठीक नहीं है। क्योंकि उनका धंधा तो संसार को असार बताने का है। सुनते सुनते किसी दिन कैसा समय हो; और अचानक ही वैराग्य का रंग लग जाय तो अच्छा नहीं। इसलिए अच्छा यही है कि साधुओं के पास जाना ही नहीं।" ऐसे लोग दूसरों को भी साधुओं के पास जाने से रोकते हैं और उन्हें कहते हैं कि "क्या संसार में, साधुओं के पास गये विना धर्माराधन नहीं हो सकता है?"

ऐसे विचार और कृत्य करनेवाला मनुष्य जब जन्मान्तर में भी सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं कर सकता है तब उस को ज्ञान, दर्शन और चारित्र तो मिल ही कैसे सकते हैं? इसी लिए माता, पितादि के स्नेह में पड़ने का निषेध कर भगवान कहते हैं कि:–

> मायाहिं पियाहिं लुप्पइ नो सुलहा सुगई य पेच्चओ।
> एयाइं भयाइं पेहिया आरंभा विरमेज्ज सुव्वए ॥ ३ ॥

अमिणं जगती पुढोजगा कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो ।
सयमेव कडेहिं गाहइ णो तस्स मुच्चेज्ज पुट्ठयं ॥ ४ ॥

३, ४—जो जीव माता पिता के मोह में मुग्ध होता है वह सुगति का भाजन नहीं होता है; प्रत्युत दुर्गति का भाजन होता है । जो जीव दुर्गति के दुःखों को ताड़न, छेदन, भेदन, तर्जन आदि को देखकर आरंभादि क्रियाओं से निवृत्त होता है वह व्रती कहलाता है । जो आरंभादि क्रियाओं से निवृत्त नहीं होते हैं वे प्राणि इस अनित्य और अशरण जगत् में अपने कर्मों द्वारा आप ही नष्ट हो जाता है क्योंकि किया हुआ कर्म फल दिये विना नहीं छोड़ता है ।

जो लोह की बनी हुई जंजीरें होती हैं वे शारीरिक बल से तोड़ी जा सकती हैं; परन्तु माता, पिता, पुत्र, स्त्री, धन और बन्धु रूपी पदार्थ से बनी हुई जंजीरें शारीरिक बल से कदापि नहीं टूटती हैं । उस को तोड़ने के लिए परम वैराग्य रूपी तीक्ष्ण कुठार की आवश्यकता पड़ती है । मोहासक्त मनुष्य की परलोक में तो दुर्गति होती ही है; परन्तु इस भव में भी वह सुख से आहार, निद्रा नहीं ले सकता है । उसका प्रत्येक समय हाय हाय करते ही बीतता है । मनुष्य जब सौ रूपये की आशा करके कोई कार्य प्रारंभ करता है और उस को सौ मिल जाते हैं तब दूसरी वार वह हजार प्राप्त करने की आशा में लगता है ।

हजार मिलने पर लाख की आशा करता है। लाख मिलने पर करोड़ की चाह करता है; करोड भी मिल गये तो उसे चक्रवर्ती की ऋद्धि की अभिलाषा होती है। सद्भाग्य से वह भी मिल गई तो फिर सोचता है कि मनुष्यों के भोग तो देवों के भोगों के सामने तुच्छ हैं, इसलिए मैं देव हो जाऊँ तो अच्छा है। काकतालीय-न्याय से कहीं वह देव भी हो गया तो मन फिर इन्द्र बनने के लिए ललचाता है। इस भाँति आकाशोपम अनन्त इच्छा बढती ही जाती है। उस का कहीं अन्त नहीं होता। मनोरथ भट की खाडी कभी नहीं भरती। इसी लिए बारबार कहा जाता है कि, सन्तोष रूपी राजा की राजधानी के अंदर निवास करो। उस की राजधानी औचित्य रूप नगर है। उपशम रूपी सुन्दर मन्दिरों से वह सुशोभित है। सद्भावना रूपी स्त्री वर्ग उस में रमण करता है। तप रूपी राजकुमारों का वह क्रीडा स्थल है। सत्य नाम का मंत्री सारी प्रजा के सुख का ध्यान रखता है। संयम नामा सेना उस नगर की रक्षा करती है। ऐसी सन्तोष राजा की नगरी है। उस में जो निवास करता है, वह देव, दानव, राजा और इन्द्रादि के सुखों से भी विशेष सुखी होता है। कहावत भी है कि—"**असत्य के समान कोई पाप नहीं है; शान्ति के समान कोई तप नहीं है; परोपकार के समान कोई पुण्य नहीं है और सन्तोष के समान कोई सुख नहीं है।**"

इसलिए हे भव्यो ! सन्तोष सरदार की संगति कर, मोह ममत्व को छोड़ दो । थोड़े समय के सुखाभास के लिए सागर के समान दुःख को किस लिए अपने सिर पर लेते हो ? जिस कुटुंब के लिए तुम प्रयत्न कर रहे हो, वह कुटुंब तुम्हारे साथ चलनेवाला नहीं है । जो कुटुम्बी तुम्हारे साथ चलनेवाले हैं उन के लिए यदि थोडा सा भी प्रयत्न करोगे तो हमेशा के लिए तुम सुखी बनोगे । अपने किये हुए कर्म स्वयं जीव को भोगने पड़ते हैं । दूसरा कोई भोगने के लिए नहीं आता है । अर्थात् दुःख के समय कोई आकर खड़ा रहनेवाला नहीं है । कर्म की सत्ता सब जीवों पर है । स्वसत्ता का उपभोग किये विना कर्म कीसी को भी नहीं छोड़ते हैं । कर्म की प्रधानता के लिए निम्नलिखित गाथाएँ क्या कहती हैं ?

कर्मका प्राधान्य.

देवागंधव्वरक्खसा असुरा भूमिचरा सिरिसिवा ।
राया नरसेट्ठिमाहणा ठाणा तेवि चयंति दुक्खिया ॥५॥

कामेहिं य संथवेहिं य गिद्धा कम्मसहा कालेण जंतवो ।
ताले जह बंधणच्चुए एवंआउक्खयम्मि तुट्टति ॥६॥

भावार्थ—ज्योतिष्क, वैमानिक, गंधर्व, राक्षस, व्यंतरादि

असुर कुमारादि दश प्रकार के देव, भूचर सर्पादि तिर्यंच और राजा चक्रवर्ती, शेठ, ब्राह्मण आदि सारे सामान्य प्रकृतिवाले मनुष्य अपना स्थान छोड कर चले जाते हैं।

विषयेच्छा से, मातापिता के स्नेह से और सासु ससरे के स्नेह से लुब्ध बने हुए जीवों को जब अपने कृतकर्म भोगने पडते हैं, तब वे व्याकुल होकर हा मात ! हा तात ! आदि शब्द पुकारने लगते हैं और अन्त में परलोकगामी होते हैं। जैसे ताल वृक्ष पर से टूटा हुआ फल भूमि पर गिरता है उसी तरह वे भी आयुष्य रूपी वृक्ष से गिरकर धराशायी होते हैं– मर जाते हैं।

प्राणियों को मरते समय बहुत दुःख होता है; क्योंकि उस समय उन्हें असह्य वेदना सहन करनी पडती है। शास्त्रकारोंने मरण–वेदना, जन्म–वेदना से भी विशेष बताई है। जन्मते समय जीवों को बडा दुःख भुगतना पडता है। उन को, इसी प्रकार योनिद्वारा, खिचकर पीडा सहते हुए बाहिर आता है जैसे कि, चाँदि के या स्वर्ण के तार को जन्ती में खिच कर बाहिर निकलना पडता है। कईका तो इस वेदना के मारे उसी समय शरीर छूट जाता है। जन्म के समय कसी वेदना होती है इस को दिखाने के लिए एक उदाहरण दिया गया है कि–केले के समान सुकोमल शरीर वाले एक युवक–जिसने कभी नहीं जाना है कि दुःख क्या है ?

के शरीर में, उस के प्रत्येक रोम–रंध्र में तपाकर सुइयाँ घुसा दो। उन सुइयों के चुभने से उस को जीतनीवे दना होगी उससे भी ज्यादा वेदना जन्म के समय जीव को होती है। इसी लिए तो शास्त्रकार जन्म दुःख को, जरा दुःख को और मरण दुःख को बहुत बताते हैं। इन में भी मरण का दुःख सब से ज्यादा है।

एक मनुष्य, जिसको रोगसे अत्यन्त पीड़ा होती हो; उठने बैठने की तो क्या मगर करवट बदलने में भी जो अशक्त हो; रात-दिन शरीर में चीसें चलती हों; ऐसा मनुष्य भी जब मरण समय आता है तब बडा दुःखी होता है। मरण पीडा से कँपते हुए उस के शरीर को देखकर हरेक यह अनुभव कर सकता है कि यह बहुत ही दुःखी हो रहा है। उस को देखने वाले के मन में अपने भावी का विचार कर के एकवार वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। इस तरह के अनेक दुःख, देव–दानवादिने भी–जिनका गाथा में उल्लेख हो चुका हो–सहे हैं तब अपने समान पामर जीवों की तो बात ही क्या है?

यह सारी लीला है किसकी? केवल कर्म की। आश्चर्य तो इस बात का है कि, इन सब बातों को समझते हुए भी जीव मोह रूपी मदिरा का पान कर उल्टे मार्ग पर चल रहे है। जीव गाथा में कहे अनुसार, मातापिता और सास ससुर के मोह में

लिप्त हो उन के अवास्तविक संबंध को वास्तविक मान, ऐसी विषयवासना के फेर में पड़ जाता है कि जो अनादि कालसे दुःख देती आरही है और भावी में जो नरकादि के दुःखों में ढकेलनेवाली है। ऐसा होते हुए भी जीव भ्रांति वश उस को अपना कर्तव्य समझ बैठता है।

कई लोग कहा करते हैं कि, दस, बीस बरस तक माता पिता कुटुंबादि का पालन करके व उनके स्नेह का और विषय तृष्णा का उपभोग करके उसके शान्त होजाने पर आत्मश्रेय करूँगा। मगर मनुष्य को ध्यान में रखना चाहिए कि विषय–तृष्णा मध्याह्नोत्तर काल की छाया के समान है। अर्थात् दुपहर के बादल की छाया जैसे क्रमशः बढ़ती ही जाती है, वैसे ही मोहजन्य संबंध और विषय तृष्णा भी बढ़ती जाती है। उसके परिणाम से जो कर्म बँधते हैं उनका फल जीव को अवश्य-मेव भोगना पड़ता है। कर्म को किसीकी शर्म नहीं आती है। इसी बात को विशेष रूप से स्पष्ट करनेवाली गाथा की ओर ध्यान दीजिए।

जे यावि बहुस्सुए सिया धम्मिय माहण भिक्खुए सिया।
अभिणूमकडेहिं मुच्छिए तिव्वं से कम्मेहिं किच्चति ॥७॥

भावार्थ—जो कोई मूर्च्छा सहित कर्म करता है उस को उन का फल अवश्यमेव भोगना पड़ता है। पीछे वह कर्म करने-

वाले चाहे साधु हो, बहुश्रुत–शास्त्रों का ज्ञाता–हो और चाहे सामान्य मनुष्य हो।

शास्त्रकार फरमाते हैं कि, कर्म की सत्ता का नाम ही संसार की सत्ता है, और कर्म के अभाव का नाम ही संसार का अभाव है। कलिकाल सर्वज्ञ श्रीहेमचंद्राचार्य भी कुमारपाल राजा को उपदेश देते हुए कहते हैं कि:—

" कर्म कर्तृ च भोक्तृ च श्राद्ध ! जैनेन्द्रशासने । "

इस वाक्य को यद्यपि जैन लोग खास करके स्वीकारते हैं, लेकिन दूसरे भी इसी न्यायकी सीधी सड़क पर आते हैं। देखो कई लोग श्रीरामचंद्रजी को ईश्वर का अवतार मानते हैं; मगर उन्हीं रामचंद्रजी को गद्दी बैठते समय ही, कर्म के कारण, वन में जाना पड़ा था। इस बात का पहिले विशेष रूप से उल्लेख किया जा चुका है।

राजा हरिश्चंद्र को भी कर्मने कैसी विडम्बना की थी ? कहा है:—

सुतारा विक्रीता, स्वजन विरहः, पुत्र मरणं;
विनीतायास्त्यागो रिपु बहुलदेशे च गमनम् ।
हरिश्चन्द्रो राजा वहति सलिलं प्रेतसदनं;
अवस्थाप्येकाहोऽप्यहह ! विषमाः कर्मगतयः ॥

भावार्थ—सुतारादेवी को बेचना, कुटुंब का विरह होना,

पुत्र का मरना, अयोध्या नगर को छोड़ना, बहु शत्रु पूर्ण देश में गुप्त रीति से विचरण करना और पेट के हेतु नीच के घर पानी भरना; यह सब क्या है ? कर्म की विचित्रता या कुछ और ? अहा ! एक ही भव में एक ही व्यक्ति की इस भाँति अवस्थाएँ ! अहो ! कर्म की गति बड़ी ही विषम है !

जिसके घर में सवेरे शाम छत्तीस राग रागनियों का गायन होता था, नाना भाँति का नृत्य होता था, हाथियों के मदझरने से जिस के घर के सामने कीचड़ हो जाता था; उसी घर का शून्य हो जाना किस के हृदय को नहीं घबरा देता है; किस को वैराग्य उत्पन्न नहीं करा देता है ? ऐसी कर्म की कीहुई विचित्रताएँ लोग हजारों स्थानों में देखते हैं; मगर फिर भी वे यह कह कर सन्तोष पकड़ लेते हैं कि ' ईश्वर की ऐसी ही मरजी थी । ' वे वास्तविक बात को जानने का प्रयत्न नहीं करते हैं ।

कर्म जो करता है वह दूसरा कोई नहीं कर सकता है । कर्म राजा भूमंडल में जीवों को, इच्छानुसार नवीन नवीन सांग बनवाकर, नाच नचाता है । कर्म एक प्रकार के नाटक का सूत्रधार है । दुनिया रंगमंडप है और जीव एक २ पात्र हैं । कर्म इन सबसे चौरासी लाख जीवयोनि रूपी नाटक का अभिनय कराता है । सबने इस सूत्रधार को माना है । जैन इस को कर्म के नाम से पहिचानते हैं । दूसरे इसको माया, प्रपंच, प्रारब्ध,

संचित, अदृश्य आदि नामों से पुकारते हैं। कर्म महावीर और रामचंद्र के समान समर्थ पुरुषों को भी भोगने पड़े हैं तब दूसरे सामान्य जीवों की तो बातही क्या है? कर्म धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझा देता है। यानी वह वास्तविक वस्तुओं को भी भुला देता है।

सम्यग्ज्ञान की आवश्यकता।

भगवान कहते हैं कि:—

> अह पास विवेगमुट्ठिए अ वितिन्ने इह भासइ धुवं।
> णाहिसि आरं कओ परं वेहासे कम्मेहिं किच्चति॥

भावार्थ—परिग्रह त्याग सहित कई संसार को छोड़कर खड़े होते हैं; परन्तु वे मुक्ति के वास्तविक मार्ग--ज्ञान, दर्शन और चारित्र से अनभिज्ञ होते हैं, इसलिए कल्पित योग मार्ग को ही मुक्ति का कारण बताते हैं, और मनमें समझते हैं कि हम जो कुछ कर रहे हैं वही मोक्ष का मार्ग है।

हे शिष्य! इसी तरह तू भी यदि उनके मार्ग पर चलेगा तो, तू भी संसार और मोक्ष, यह लोक और परलोक और साधुभाव व गृहस्थ भाव के ज्ञान से वंचित रहेगा यानी बीच में रहकर कर्म से पीडित होगा।

यह बात सत्य है, कि जबतक सम्यग्ज्ञान नहीं होता है, तब तक सारे कष्टानुष्ठान भवभ्रमण के कारण होते हैं। जो साधु सम्यग्ज्ञान विहीन होता है, वह व्यर्थ ही पूजा, स्तुति की अभिलाषा कर साधुता का गर्व करता है और अनेक प्रकार के कपट कर आजिविका चलाता है; धन संग्रह करता है। घुणाक्षर न्याय से कदाचित किसी को वास्तविक मुक्ति मार्ग का ज्ञान भी हो जाय और उसको वह सत्य भी मानने लगे तो भी उसके अन्तःकरण रूपी मंदिर में मिथ्यात्व वासना घुसी रहने से वह निरवद्य अनुष्ठान नहीं कर सकता है। वह सावद्य क्रिया—स्नानादि क्रिया को सुख का साधन समझकर करता है; वह स्वर्गादि सुखों की अभिलाषा से ऐसी क्रियाएँ करता है, संभव है कि उसकी साधना से उसको स्वर्गादि सुख प्राप्त हो जायँ—मगर मुक्ति तो उन से कभी नहीं मिलती है। हाँ संसार—भ्रमण की वृद्धि उन से अवश्य होती है।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि, कोई जैनेतर त्यागी, वैरागी निष्परिग्रही बनकर तप करे तो उसको मुक्ति मिल सकती है या नहीं? इस के समाधान में हम कह सकते हैं कि, यदि वह निर्ममत्व—मूर्च्छारहित—भाववाला होता है तो वल्कल ऋषि की भाँति उस को सम्यग्ज्ञान होकर मुक्ति मिल जाती है; परन्तु यदि वह ममत्वी कषाय करनेवाला होता है तो अग्निशर्मा की

भाँति अनेक भव तक संसार में भ्रमण करना पड़ता है । कहा है कि:—

जइवि य णिगणे किसे चरे जइवि य भुंजिय मासमंतसो ।
जे इह मायावि मिज्जइ आगंता गब्भाय णतंसो ॥ ९ ॥

भावार्थः— यदि कोई नग्न होकर फिरे; एक एक मास के अन्तर से पारणा करे और अपने शरीर को कृश बना दे मगर माया में लिप्त रहे तो उसे कभी मुक्ति नहीं मिलती है ।

कई तापसादि ऐसे हैं जो धन, धान्यादि बाह्य परिग्रहों को छोड़ कर, नग्न होजाते हैं; तपस्या कर करके अपने शरीर को सुखा डालते हैं; परन्तु माया कषायादि अन्तरंग परिग्रह से वे दूर नहीं होते हैं इसलिए उन के कष्टानुष्ठान केवल व्यर्थ ही नहीं जाते हैं बल्के उल्टे भवभ्रमण बढ़ानेवाले होजाते हैं । चाहे कोई खड़े खड़े अपना जन्म बिता दे, चाहे कोई गंगा नदी की सेवाल से अपना पेट भरे; चाहे कोई नर्मदा नदी की मिट्टी से अपने दिन निकाले; चाहे कोई महीने महीने के अन्तर से निरस और तुच्छ आहार ले और चाहे कोई एक पैर पर खड़े हुए एक हाथ ऊँचा कर कष्ट सहन करे । इन से कुछ नहीं होना जाना है । ये क्रियाएँ जब तक हृदय में माया—कपट का अधिकार है तब तक सब व्यर्थ हैं । माया के छूटे विना कोई जन्ममरण के फंदे से नहीं छूट सकता है । चाहे कोई वैष्णव हो; कोई बौद्ध हो;

और चाहे जैनी ही हो; जब तक सरल प्रकृति और सम्यग्ज्ञान नही होते हैं, तब तक उस का कल्याण नहीं होता है। इनके अभाव में उसकी की हुई क्रियाएँ भी सब निष्फल जाती हैं।

जहाँ कपट क्रिया होती है वहाँ क्रोधादि कषाय भी स्वय-मेव आ उपस्थित होते हैं। ये संयमधारी पुरुषों को भी, उन की धर्मक्रियाओं को नष्ट भ्रष्ट कर दुर्गति में पहुँचाती हैं, तब फिर अन्य लोगों की तो बात ही क्या है? इसी लिए भगवान उपदेश देते हैं कि:—

पुरिमो रम पावकम्मुणा पलियन्तं मणुयाण जीवियं।
सन्ना इह काममुच्छिया मोहं जंति असंवुडा नरा ॥१०॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! तुम पाप कर्म से मुक्त होओ; क्योंकि मनुष्यों की आयु उत्कृष्ट से तीन पल्योपम की होती है। उसमें से भी संयम के अधिकारी तो पूर्वकोटि वर्ष में थोड़ी आयुवाले ही होते हैं।

विचारने की बात है कि, भरतक्षेत्र में काल की अपेक्षा से मनुष्य की उत्कृष्ट आयु पूर्व कोटि वर्ष की थी; मगर पंचमकाल में तो व्यवहार से १०० सौ बरस की आयु ही मनुष्य की समझी जाती है। इतनी आयु भी कोई महान भाग्यवाला ही निश्चित और रोगरहित होकर भोगता है। अन्यथा आजकल तो जो कोई ५० या ६० बरस की आयु में मरता है उसको

भी लोग भाग्यशाली ही बताते हैं। कई बचपन ही में मर जाते हैं। कई अपने आयुष्य रूपी चंदन को विषय रूपी अग्नि से भस्मसात कर डालते हैं। उचित तो यह है कि आयुष्य रूपी चंदन को धर्मध्यान में उपयोग करना चाहिए। तुच्छ सांसारिक सुखों के लिए जो कष्ट सहा जाता है वही कष्ट यदि ज्ञान, दर्शन और चारित्र की अभिवृद्धि के लिए सहे जायँ, परिसह और उपसर्ग यदि आत्मकल्याण के लिए सहे जायँ तो अत्यंत उपकार हो सकता है। भगवान कहते हैं:—

णवि ता अहमेव लुप्पए लुप्पंति लोअंसि पाणिणो।
एवं सहिएहिं पासए अणिहेसे पुट्ठे अहियासए ॥११॥

भावार्थः—परिसहों और उपसर्गों से केवल मैं ही दुःखी नहीं हूँ; और भी अनेक जीव इस असार संसार में पड़, परवश हो, कष्ट उठाते हैं। इस प्रकार का विचार कर मनुष्य को अपने ऊपर आये हुए कष्टों को सहना चाहिए, क्लेश भावों को जरासा भी हृदय में स्थान नहीं देना चाहिए।

जो जीव कर्माधीन हैं उन्हें प्रतिक्षण दुःख होता है। मगर कई रातदिन होनेवाले दुःख ऐसे हैं कि जिन को जीव दुःख ही नहीं समझते हैं। कारण उनको सहते सहते वे उनके अभ्यासी बन जाते हैं। मनुष्य, देव, तिर्यंच और नरकगति के जीवों को अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं। मगर उन कष्टों को वे अज्ञानता

और परवशता से सहते हैं इसलिए उन से कुछ लाभ नहीं होता हैं। हाँ हानी उन से अवश्यमेव होती है। वेही कष्ट यदि ज्ञान पूर्वक वैराग्य और समता भावना से सहे जायँ तो उन से बहुत लाभ हो। कई अशक्त और धन की आशा रखनेवाले लोग बाह्य दृष्टि से दुर्जनों के वचन सहते हैं; कई विदेश जाने के लिए, या रोग के वश में होकर खिन्न चित्त से अपने घर का सुख छोड़ते हैं; परन्तु सन्तोष पूर्वक कोई ऐसा नहीं करता। इसी भाँति आशा की जंजीर में बंधे हुए कई जीव बड़ी ही भयंकर सादी, गरमी, विषैली हवा सहते हैं; समुद्रयात्रा की पीड़ा उठाते हैं; द्रव्य के लोभ में चंचल लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए दिनभर चिन्ता करते हैं; परिश्रम करते हैं और भूखे प्यासे रहते हैं। मगर वेही या इसी प्रकार के कष्ट यदि धर्म के निमित्त सहे जायं तो जीवों की सब आशायें स्वयमेव पूरी हो जायं। जो गुरु के कठोर--मगर हित-कारी--वचनों को आनंदसे सहते हैं; जो रूप, रस, गंध और स्पर्शादि विषयों को संतोष पूर्वक त्याग करते हैं और जो दूसरे जीवों को कष्ट न हो इस प्रकार के आचरण पूर्वक मुनिधर्म का पालन करते हैं; वे ही महा पुरुष होते हैं; वे ही परिसह और उपसर्ग सह सकते हैं; वे ही अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र को उज्वल बना सकते हैं और वे ही अपने दोनों लोक सुधारते हैं। यह सदा ध्यान में रखना चाहिए कि, सत्पात्र में जो अव-गुण जाता है वह भी सद्गुण बन जाता है। जैसे कि भिक्षा

माँगना बुरा है; परन्तु वही साधुओं के लिए भूषण है। भूमि पर सोना दरिद्रता का चिन्ह है; परन्तु साधुओं के लिए वह भूषणास्पद है। इसी भाँति की और भी कई बातें हैं जो गृहस्थावस्था में दुर्गुण समझी जाती हैं; परन्तु साधु–अवस्था में भूषण गिनी जाती हैं; इतना ही नहीं वह हित करनेवाली भी प्रमाणित होती है। मगर इस बात को बहुत ही कमलोग पसंद करते हैं। इस भव में और पर भव में जो दुःख देनेवाली बातें हैं उन्हीं को लोग ज्यादा पसंद करते हैं।

वस्तुतः सुख वही है जिस का अन्त सुख है और दुःख वही है जिस का अन्त दुःख है। जिस दुःख का अवसान सुख में होता है वही वास्तविक सुख है और जिस सुख का अवसान दुःख में होता है वही वास्तविक दुःख है। उदाहरणार्थ–मुनि धर्म द्रव्यसे–बाहिरसे-दुःख पूर्ण मालूम होता हैं; परन्तु भावसे–वास्तव में–वह सुखमय हैं। इसी लिए कहा है कि:—

नो दुष्कर्मप्रयासो न कुयुवतिसुतस्वामिदुर्वाक्यदुःखं,
राजादौ न प्रणामोऽशनवसनधनस्थानचिन्ता न चैव।
ज्ञानाप्तिर्लोकपूजा प्रशमसुखमयः प्रेत्य नाकाद्यवासिः।
श्रामण्येऽमी गुणाः स्युस्तदिह सुमतयस्तत्र यत्नं कुरुध्वम्॥

भावार्थ—साधु दशा में बुरे कर्म करने का प्रयत्न नहीं

होता; कुटिल स्त्री, अविनयी पुत्र और स्वामि के दुर्वचन का डर नहीं रहता; राजादि को प्रणाम नहीं करना पड़ता; और भोजन वस्त्र की चिन्ता नहीं रहती। वहाँ अभिनव–नये नये–ज्ञान की प्राप्ति होती रहती है; लोग पूजा करते हैं; उससे स्वर्गादि गति मिलती हैं और महान् प्रशम सुख–जो सम्राटों को और इन्द्रों को भी प्राप्त नहीं होता है–साधुओं को प्राप्त होता है। ऐसी साधुता प्राप्त करने के लिए हे सद्बुद्धि जीवो! तुम यत्न करो।

एक गुजराती कवि भी कहता है:—

> साधु स्हेजे सुखिया, दुखिया नहिं लवलेश;
> अष्ट कर्मने जीतवा, पहेर्यो साधुनो वेष.

भावार्थ—साधु अनायास ही–सहज ही में–सुखसे रहते हैं। उन्हें थोड़ासा भी कष्ट नहीं होता। उन्होंने आठों कर्मों को जीतने के लिए साधु का वेष पहना है।



तप विधान।

ऐसे साधुओं को खास तरहसे तप का गुण रखना चाहिए–तप करना चाहिए। कहा है कि:—

> धुणिया कुलियं च लेवयं किसए देहमणासणा इह।
> अविहिंसा मेव पव्वए अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो ॥१२॥

भावार्थ—जैसे भींत पर लगाये हुए चूने या मिट्टी के गिर जानेसे भींत पतली हो जाती है—कमजोर हो जाती है; इसी तरह अनशनादि छः प्रकार के बाह्य तपसे, शरीर कृश होने के साथ ही साथ कर्म भी कृश—कमजोर हो जाते हैं। फिर सर्वज्ञ, वीतराग प्ररूपित अहिंसा प्रधान सर्वोत्तम धर्म की प्राप्ति होती है।

त्यागियों के लिए तप का विधान श्रेष्ठ एवं आवश्यकीय है। तप के विना शुद्धतासे ब्रह्मचर्य पालना बड़ा कठिन होता है। गृहस्थ भी यदि भगवानप्ररूपित प्रौषधादिक, पाँचों तिथियों में नियमसे करते रहें तो उन के द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के रोगों की शान्ति हो जाय। द्रव्य रोग को शान्त करने के लिए आजकल बड़े बड़े डॉक्टर भी उपवास करने की शिक्षा देते हैं। अतएव शरीर की रक्षा के लिए भी तपस्या की खास जरूरत है। यदि धार्मिक—विचार दृष्टिसे देखेंगे तो भी तप की बात ठीक मालूम होगी। जिस शरीर के लिए दुनिया में बड़े बड़े अनर्थ होते हैं। वह शरीर यहीं पड़ा रह जाता है और आत्मा परलोक में जा कर दुःखी बनता है। आजकल किसी भी समय किसीसे भी पूछो कि वह क्या कर रहा है। तो उस का यही उत्तर मिलेगा कि मैं शरीर को सुखी करने के लिए अमुक क्रिया कर रहा हूँ। कोई कहेगा मैं शरीर में अमुक रोग है उस के लिए दवा कर रहा हूँ, कोई कहेगा मैं थक गया हूँ इस लिए घंटा भर आराम लेने के लिए सोजाता हूँ, कोई

कहेगा. मैं स्नान कर के भोजन की तैयारी करता हूँ। मगर कोई यह नहीं कहेगा कि–मैं अमुक आत्मिक क्रिया कर रहा हूँ; या दूसरे की भलाई के अमुक कार्य में लगा हूँ। इसी लिए शरीर को, धर्माचार्योंने, पाप का कारण बताया है। कोई मनुष्य एकवार किसीसे ठगा जाता है; तो फिर दुबारा कभी उसका विश्वास नहीं करता है। फिर कई भवोंसे इस शरीर के द्वारा ठगे जा कर भी जो आत्माएँ उस पर ममत्व रखती हैं; उस पर विश्वास करती हैं और उससे अपने हित का काम नहीं करवाती हैं। वे कैसी भोली–अज्ञान आत्माएँ हैं, पाठक इसका विचार करें।

यह शरीर थोड़ासा भी विश्वास करने योग्य नहीं है। क्यों कि कोई यह नहीं बता सकता कि न मालूम किस समय और कैसी स्थिति में यह शरीर रूपी दुर्जन, आत्मा रूपी सज्जन को छोड़ कर चला जायगा। इसी लिए मुनिजन शरीर रूपी दुर्जन को तपस्या द्वारा दुर्बल बना देते हैं। कल्याण की इच्छा रखनेवाले हरेक आदमी को शरीर के साथ व्यवहार करना चाहिए।

तपस्या करनेवाले को एक बात खास तरहसे ध्यान में रखनी चाहिए कि–तपस्या का फल क्षमा है। अतः तपस्या शान्तिपूर्वक दृढता के साथ करना चाहिए। कैसे ही क्रोध के कारण मिलने और कैसे ही दुःख गिरने पर भी तपस्या करनेवाले को

शान्तिरस में ही मत्त रहना चाहिए। प्रायः देखा जाता है कि-तपस्वियों के हृदय में पारणे के समय बहुत अशान्ति हो जाती है। आहार में थोड़ीसी देर हो जानेपर ही उनके आत्मप्रदेश संतप्त हो उठते हैं। मगर ऐसा न होना चाहिए। नंदन ऋषि का उदाहरण इसके लिए खास तरह से ध्यान में रखने योग्य है।

नंदन ऋषि का वृत्तान्त।

नंदन ऋषि गृहस्थ अवस्था में बहुत ही दुखी थे। मगर उनका पुरा वृत्तान्त न लिखा जाकर केवल उपयोगी वृत्तान्त ही यहाँ लिखा जायगा। कहा है कि:—

"दुःखगर्भं हि वैराग्यं योगबुद्धिप्रवर्द्धकम्।"

दुःख के गर्भ ही से-दुःख ही से-वैराग्य उत्पन्न होता है और योग में बुद्धि प्रवर्तती है। यह वाक्य सर्वथा ठीक है। इन मुनि का चरित उसका ज्वलंत उदाहरण है।

नंदन ऋषिने जबसे दीक्षा ली थी तबही से उन्होंने साधु-सेवा की प्रतिज्ञा ली थी और एक एक महीने के उपवास के बाद वे पारणा किया करते थे। उन्होंने कुल मिलाकर ११८०४९९ मासक्षमण किये थे। अपने पारणे के दिन भी

वे शान्ति और अपने साधु-सेवा के नियम को यथास्थित पालते थे। ऐसे पवित्र जीवनवाले व्यक्तियों की देव, दानवादि सेवा करें और उनके शीघ्र ही कर्म क्षय हो जायँ तो इस में कुछ आश्चर्य की बात नहीं है।

एकवार सौधर्मेन्द्र सभा में बैठा हुआ था। उसने अवधि ज्ञानद्वारा उक्त मुनि की पवित्रता, दृढता, शान्ति और तपस्या को देखा। इस से उसने अपना सिर धुना। यह देख, देवता हाथ जोड कर बोलेः—" हे महाराज! इस समय सिर धुनने का कोई कारण नहीं बना तो भी आपने सिर धुना। इस से हमारे हृदय में शंका उत्पन्न हुई है। कृपा करके सिर धुनने का कारण बताइए और हमारी शंका का निवारण कीजिए।"

इन्द्रने उत्तर दियाः—" हे महानुभावो! भरतक्षेत्र में मैंने अवधिज्ञानद्वारा, एक महापुरुष के दर्शन किये हैं। उस की अचल और दृढ प्रतिज्ञा देखकर मुझ को आश्चर्य हुआ। फिर मैंने मनपूर्वक उस को वंदना की। धन्य है ऐसे महापुरुषों को कि जिनकी स्थिति से मनुष्यलोक देवलोक से भी विशेष भाग्यवान हो गया है।"

उक्त प्रकार के इन्द्र के वचन सुन दो मिथ्यात्वी देव बोले "—महाराज! आप हमारे स्वामी हैं, इसलिए हम आप की हाँमें हाँ, भले मिला दें। मगर वास्तव में तो हमारा हृदय यह

विश्वास नहीं कर सकता कि, मनुष्यों में भी इतनी दृढता हो सकती है। हम उस महात्मा की परीक्षा लेंगे। यदि वह हमारी परीक्षा में पास होगा तो फिर आप की बात को हम सत्य समझेंगे।"

इतना कह कर वे इन्द्र की सभा से रवाना हुए। वह मुनि के पारणे का दिन था। मुनि आहार पानीला, आलोचना कर आहार करना ही चाहते थे कि उसी समय एक देव साधु का वेष करके उनके पास गया और बड़े रूखे स्वर में कहने लगा:—" हे दुष्ट! हे उदरंभरि! हे कपटपटु! इसी तरह से कपटाचरण करके ही क्या तू लोगों में अपनी कीर्तिलता का विस्तार करता है? बाहिर उपवन में एक साधु बड़ी ही खराब हालत में पड़ा है, मारे क्षुधा के उसके प्राण छट पटा रहे हैं। उसके औषध का, आहार का प्रबंध किये विना ही तू माल उड़ाने बैठा है! धिक्कार है! तेरे जन्म को धिक्कार है! तेरे इस मुनिपन को और धिक्कार है! तेरी प्रतिज्ञा को।"

आगत वेषधारी मुनि के वचन सुन कर नंदन ऋषिने अपने हाथ का नवाला जो, पहिले ही मुँह में रखने को उठाया था—वापिस पात्र में डाल दिया और कहा:—"महानुभाव, शान्ति रखिए। मैं आपके साथ चलता हूँ।"

पाठक, एक मास के पारणे के समय इस प्रकार के वचन

शान्ति से सुनना और पारणा न कर के चुपचाप सेवा के लिए चल खड़े होना कितना उत्कृष्ट त्याग है ! कितना अचल प्रतिज्ञा-पालन है ! कितना स्थिर शान्ति पर अधिकार है !

ऋषि आहार पानी झोली में रख, झोली को खूँटी पर टाँक, कृत्रिम मुनि के साथ चल दिये । वे जहाँ पीडित मुनि थे वहाँ पहुँचे । पीडित मुनिने दस बीस पुरी भली बातें सुनाई । मगर ऋषि को थोडासा भी क्रोध नहीं आया; शान्त—सुधा—सागर शान्त ही रहा; उल्टे वे यह सोचने लगे कि मैं इस साधु को किस तरह से शान्ति दूँ ? ऋषि उसी समय पीडित मुनिके लिए आहार और औषध लेने के लिए नगर में गये । मगर वह दूसरा देव प्रत्येक घर में जा जा कर आहार को अशुद्ध बना देने लगा । शुद्ध आहार के लिए, एक मास के उपवासी ऋषि बराबर एक प्रहर तक गाँव में फिरते रहे; तब कही जा कर उनको शुद्ध आहार मिला । वे आहार ले कर पीडित मुनि के पास आये । बनावटी मुनि क्रोध करके बोला:—“ आहार लाने में इतनी देर क्यों की ? ”

ऋषिने उत्तर दिया:—“ शुद्ध आहार लाने में देर हो गई । ”

तब उस कृत्रिम मुनिने—देवने—कहा:—“ वाहरे दुराचारी ! कपटी ! अपने लिए तो मनमाना आहार ले आना और दूसरों

के लिए शुद्ध आहार ढूँढना, कैसा अच्छा ढोंग है ? और भी कई तरह के मर्मभेदी शब्द उसने ऋषि को कहे मगर फिर भी उनके मनोमन्दिर में विराजमान शान्ति देवी जरासी भी विचलित नहीं हुई। देवने अपने विभंग ज्ञान से देखा। मगर मुनि के हृदय में उसे कुछ भी परिवर्तन नहीं मालूम हुआ। ऋषिने कहा:– " हे महानुभाव ! आप नगर में चलिए। वहाँ औषध आहार आदि का अच्छा सुभीता होगा।"

यह सुन कर पीडित साधु बोला:–" स्वार्थी मनुष्य को दूसरे के सुखों का ध्यान थोड़ा ही रहता है। यह देख रहा है कि मेरे में एक कदम चलने जितनी भी शक्ति नहीं है तो भी यह अपने सुभीते के लिए मुझ को नगर में चलने के लिए कह रहा है। ऐसे स्वार्थांध साधु को किसने वैयावच्च–सेवा शुश्रूषा करनेवाला बनाया है ? जान पड़ता है कि, स्वयमेव वैयावच्च कर्ता बन बैठा है।"

ऐसी बातें सुन कर भी धीर, वीर और गंभीर हृदयी महामुनि के मन में विकार नहीं उठा। बल्के उन्हों ने सामने-वाले विकृत भाववाले साधु को शान्त करने की ओर मन को लगाया। वे बोले:-" महाराज ! आप मेरे कंधे पर बैठिए। मैं आप को किसी भी तरह का कष्ट पहुँचाये विना उपाश्रय में ले जाऊँगा।"

कृत्रिम पीडित साधु कंधे पर चढ़ गया। दूसरा कृत्रिम साधु उनके साथ साथ चला। जैसे जैसे ऋषि आगे बढ़ने लगे वसे ही वैसे कृत्रिम साधु अपनी देवी शक्ति द्वारा भार बढ़ाने लगा। मारे भार के नंदनऋषि की कमर एकदम झुक गई तो भी अपने मनोबल से वे हार न मान आगे बढ़ते ही गये। चलते हुए वे शहर के मध्य भाग में पहुँचे। वहाँ हजारों लोगों का आनाजाना था। बड़े सेठ साहुकारों की दूकानें थीं। वहाँ पहुँचते कृत्रिम पीडित मुनिने नंदनऋषि पर महान् दुर्गंध फैलाने वाली विष्टा कर दी। दूसरे ऋषि का सारा शरीर खराब हो गया। दुर्गंध से व्याकुल हो, अपना धंधा छोड़ लोग भागने लगे। चारों तरफ बड़ी घबराहट मच गई। मगर नन्दनऋषि कुछ भी विचलित नहीं हुए। वे सोचने लगे—" अहो! ये मुनि बहुत रोगी हैं। इसी लिए रोग की पीड़ाने इनको क्रोधी बना दिया है। वास्तव में तो ये क्रोधी नहीं हैं। क्या प्रयत्न करने से इनका रोग शान्त हो जायगा ? " ऐसे सोचते हुए मुनि वहाँ से आगे बढ़े। देव उनको स्थिर देख कर बड़े चकित हुए। पीडित मुनि स्कंध से कूद पडे। देव अपना दिव्य रूप धारण कर सामने खडे हो गये और कहने लगे:—" हे महामुनि! हम सुधर्मा देवलोक के देव हैं। अब तक हमने आप का तिरस्कार किया और आप को सताया इसके लिए आप हमें क्षमा कीजिए। सौधर्मेन्द्रने आप की प्रशंसा की थी। हमने उनकी

बात सत्य न समझी। इस लिए हम आप की परीक्षा के लिए यहाँ आये। यद्यपि उत्तम पुरुष परीक्षणीय नहीं होते हैं; तथापि हमारे समान अल्पज्ञों को प्रत्यक्ष देखे बिना विश्वास नहीं होता है इसी लिए इतनी धृष्टता की थी।"

फिर उन्हों ने मुनि के शरीर पर जो विष्टा रूप पुद्गल थे उनको सुगंधित चन्दन के रूप में बदल, मुनि को प्रणाम कर, निज देवलोक को प्रयाण किया।

तत्पश्चात् मुनि समभाव सहित, हर्षशोक विहीन–समानभाव सहित उपाश्रय में जा, मास क्षमण का पारण कर धर्म–ध्यान में लीन हुए।"

उक्त जो दृष्टान्त दिया गया है, वह इस बात को पुष्ट करता है कि, शान्ति के साथ किया गया तप ही वास्तविक फल का देनेवाला होता है। शान्ति के साथ तपस्या करनेवाले साधु ही कर्मों को क्षय कर सकते हैं। इसी लिए भगवान फर्माते हैं कि:—

सउणी जह पंसुगुंडिया विहुणिय धंसयइ सियं रयं।
एवं दविओवहाणवं कम्मं खवइ तवस्सी माहणे॥ १९॥

भावार्थ—जैसे पक्षी अपनी शरीर पर लगी हुई धूल को पंख फड़फड़ा कर दूर कर देते हैं, वैसे ही मुक्ति गमन योग्य

साधु भी तपस्या के द्वारा पूर्व जन्ममें बाँधे हुए कर्मों को क्षय कर देते हैं ।

पक्षियों के शरीर पर चाहे कितनी ही धूल जमी हो; पाँखों के फड़फड़ाते ही उन की धूल उड़ जाती है; और मैल के दूर हो जानेसे वे स्वच्छ और सुन्दर मालूम होने लगते हैं । इसी भाँति जो मुनि जिनोक्त मुक्ति पहुँचानेवाली नाना भाँति की क्रियाएँ करते हैं; स्थिरता के साथ तप करते हैं, उन को प्रतिकूल तो क्या मगर अनुकूल उपसर्ग भी—जो अच्छे क्रिया-वानों को भी धर्मभ्रष्ट बना देते हैं—उन को विचलित नहीं कर सकते हैं ।

अनुकूल उपसर्ग ।

उपसर्ग दो तरह के हैं—अनुकूल और प्रतिकूल । अनुकूल उपसर्ग प्रतिकूल उपसर्गोंसे विशेष बलवान होते हैं । बड़ा भारी शक्तिशाली व्यक्ति भी अनुकूल उपसर्गोंसे हार जाता है । क्यों कि मोहनीय कर्म अनादि कालसे जीवों को संसार की ओर खींचता आ रहा है । इस का स्वभाव ठीक चुम्बक के समान है । जैसे चुम्बक हरेक तरह के लोहे को अपनी ओर खींचता है वैसे ही मोहनीय कर्म भी जीवों को अपनी ओर

खींचता है। हाँ, यदि चुम्बक पत्थर छोटा और लोहे का टुकड़ा बड़ा होता है तो वह उस को अपनी ओर नहीं खींच सकता है। इसी भांति जिस का आत्म-वीर्य प्रकट हुआ होता है उस को मोहनीय कर्म संसार की ओर नहीं खींच सकता है। इतना होने पर भी असर अवश्यमेव होती है। आत्मवीर्य विकसित आत्मा को भी माता पिता आदि का स्नेह होता है; परन्तु वह उस को अपने कर्तव्यसे—धर्मसे—च्युत नहीं कर सकता है।

उट्ठियमणगारमेसणं समणं ठाणं ठियं तवस्सिणं।
डहर वुड्ढा य पत्थए अवि सुस्से ण य तं लभेज्ज णो ॥

भावार्थ—संसार छोड़ कर साधु धर्म पालने को खड़े हुए, निर्दोष आहार का भोजन करनेवाले और अनेक प्रकार के तप करनेवाले अनगार को, अनुकूल उपसर्ग संयम के उत्तरोत्तर स्थानसे, लेशमात्र भी नहीं गिरा सकते हैं।

कुटुंबी यदि कहें कि हम तुम्हारे आधार पर हैं; तुम हमारे पालन करता हो; हम को अनाथ स्थिति में छोड़ जाना आप के लिए ठीक नहीं है। आदि बातें कहें तो भी साधु अपने भाव चारित्रसे च्युत नहीं होते ह। स्त्री पुत्र आदि भी इसी प्रकारसे अनुकूल उपसर्ग करते हैं। कहा है कि:—

जइ कालुणियाणि कासिया जइ रोयति पुत्तकारणे।
दवियं भिक्खुमसमुट्ठियं णो लब्भंति ण सठवित्तए ॥ १७ ॥

जइ विय कामेहिं लाविया जइ णं जाहिण बंधओ घरं ।
जइ जीवित नावकंखए णो लब्भंति ण संठवित्तए ॥ १८ ॥

भावार्थ—जो साधु माता पितादि के करुणाजनक वचन सुन कर और उन का रुदन सुन कर भी उन की ओर ध्यान नहीं देता है, वही साधु अपने चारित्र से भ्रष्ट नहीं होता है और वही मुक्ति में भी जाता है ।

साधु के संबंधी उस को इन्द्रिय विषयों को तृप्त करने की लालच दिखा कर, उसे अपने वश में करना चाहें; न माने तो वे उस को बांध कर अपने घर ले जायँ और वहां उस को नाना भांति की पीड़ाएँ दें, तो भी वीर्यवान साधु अपने संयमसे भ्रष्ट न होवे । यानी वह असंयत बनना न चाहे । मृत्यु आती हो तो उस को स्वीकार कर ले; परन्तु स्वीकृत चारित्र को न छोडे । और इस तरह स्वजनों को अनुकूल उपसर्ग कर के निराश होना पडे । और भी कहा है किः—

सेहंति य णं ममाइणो माया पिया य सुया य भारिया ।
पोसाहिण पासओ तुमं लोगपरंपि जहासि पोसणो ॥१९॥

भावार्थ—जो नव दीक्षित हो या दीक्षा लेने को तत्पर हो उस को, उस के माता, पिता, पुत्र और स्त्री कहते हैं कि—" तु हमारा है; हम दुःखियों की तरस खा; तु विचारशील है;

जो लाभकारी कार्य हो वह कर । यदि तू हम को छोड़ देगा तो तू दोनों लोकसे छोड़ दिया जायगा । "

इस भांति अनेक तरेहसे अनुकूल उपसर्ग कर के माता पितादि नव दीक्षित साधु को पुनः संसार में ले जाने का प्रयत्न करते हैं । सूत्रकारने दूसरे अध्ययन के प्रारंभसे तीसरे अध्ययन के अन्त तक इस का विवेचन किया है । हम यदि उस का यहां पर दिग्दर्शन करा दें तो वह अनुपयुक्त न होगा । दीक्षा के संबंध में कई लोग कई बार साधुओं पर चीढ जाते हैं और उन को गालियां देते हैं । मगर हमें इस में कुछ आश्चर्य नहीं है । क्यों कि यह बात कोई नवीन नहीं है । वीर प्रभु के समय में भी ऐसी बातें होती थीं । भगवान के वचनों पर विश्वास रखनेवाले भी, पुत्रस्नेह के कारण इसी तरह करते थे । इस तरह के स्नेहवश–रागवश–ही अवंति सुकुमाल को उन की माता भद्राने कहा थाः—

" कोणे तने भोळव्यो, कोणे नाखी भुरकी रे । "

(तुम को किसने भ्रम में डाला है, किसने तुम पर भुरखी डाल दी है !) आदि । मोह, अज्ञान मनुष्य से जितने चेष्टाएँ करवाता है, उतनी ही थोड़ी हैं । दीक्षा लेने को तैयार या नवदीक्षित मनुष्य पर, उसके भावों से गिराने के लिए उसके माता, पिता, पुत्र आदि अनेक प्रकार के अनुकूल उपसर्ग करते

हैं। यदि वह अनुकूल उपसर्गों से नहीं मानता है तो फिर वे उस पर प्रतिकूल उपसर्ग करते हैं। अठारहवी गाथा में उसके संबंध में कुछ संकेत किया जा चुका है। उसका यहाँ विशेष उल्लेख न करेंगे। तीसरे अध्ययन के दूसरे उद्देश में अनुकूल उपसर्गों की कई बातें लिखी हैं। सामान्य और भद्रिक प्रकृति के पुरुषों की भलाई के लिए उनका हम यहाँ उल्लेख करेंगे।

नव दीक्षित को अथवा दीक्षा लेने की इच्छा रखनेवाले को उसके माता, पिता आदि परिवार उसको घेर कर खड़े हो जाते हैं, रोने लगते हैं और कहते हैं कि—"हे पुत्र! हमने कई कष्ट सह कर तुझ को बचपन से पाला है। तुझे नाना भाँति के सुख दिये हैं और इतना बड़ा किया है। अब तू हमारा पालन करने योग्य हुआ है, अतः हमें पाल। हमें इस दशा में छोड कर कहाँ जाता है? तेरे विना हमें कौन पालेगा?।

माता कहती है:—"हे पुत्र! तेरे पिता वृद्ध हुए हैं। थोडे ही दिनों के अब ये महमान हैं। तेरी बहिन कुमारी है। तेरे भाई बहुत छोटी छोटी आयुके हैं। मेरी भी स्थिति बहुत खराब हो गई है। ऐसी दशा में हमारा पोषण करनेवाला तेरे सिवा कौन है? इस लिए हमारा पालन कर, जिससे इस भव में

भी तुझे कीर्ति मिले और परभव में तेरा भला हो। नीतिशास्त्र में लिखा है कि—

गुरवो यत्र पूज्यन्ते यत्र धान्यं सुसंस्कृतम् ।
अदन्तकलहो यत्र तत्र शक्र ! वसाम्यहम् ॥

भावार्थ—लक्ष्मी इन्द्र से कहती है:—हे इन्द्र ! जहाँ माता पितादि गुरुजनों की पूजा होती है; जहाँ शुद्ध किया हुआ धान्य होता है; और जहाँ घरेलु झगडे नहीं होते हैं, वहीं मैं रहती हूँ।

ऊपर लिखी हुई तीन चीजें जहाँ होती हैं, वहीं लक्ष्मी का निवास होता है। हे पुत्र ! तू हमारे घर का रत्न है। यदि तू जायगा तो हमें सदैव क्लेश उठाना पडेगा। क्लेश के कारण हमारे घर से लक्ष्मी चली जायगी। परिणाम यह होगा कि हम सदा के लिए बरबाद हो जायँगे।

हे पुत्र ! तेरे नन्हे नन्हे बालक हैं उनका कौन पालन करेगा ? तेरी स्त्री नवयौवना है उसकी कौन रक्षा करेगा ?। तू उसको छोडके जाता है, वह यदि अपने को न सँभाल सकेगी तो लोगों में तेरी और हमारी बदनामी होगी।. अपने ऊपर कलंक लगेगा। यद्यपि तू पापभीरु है; संसाररूपी काराग्रहसे तेरा मन उद्विग्न हो रहा है; इसी लिए तू जाना चाहता है; तथापि हमें खराब स्थिति में छोड कर जाना सर्वथा नीतिविरुद्ध है।

इस लिए तू वापिस घर चल। तू घर में रह कर भी धर्म-साधन कर सकता है। आरंभ समारंभ से सर्वथा दूर रहना। नीतिपूर्वक कार्य करना। कार्य करने में यदि किसी तरह की अड़चन पड़ेगी तो हम सब लोग मिल कर तेरी सहायता करेंगे। एकबार ही में कार्यसे घबरा कर घर छोड़ देना सर्वथा अनुचित है इस लिए घर चल कर फिरसे कार्य में लग। "

संबंधी और भी कहते हैं:—" हे पुत्र! एक वार घर चल। अपने स्वजन संबंधियोंसे मिल कर फिर वापिस चले आना। वे लोग तेरे लिए तरस रहे हैं। घर जा कर वापिस आ जाने में कुछ तेरा साधुपन नहीं बिगड़ जायगा। वहाँ रह कर भी तू घर का कुछ कार्य न करना। इच्छित धर्मानुष्ठान करते हुए तुझे कौन रोक सकता है? एक बात यह भी है। यदि तू योग्य समय पर दीक्षा लेगा तो कामादि विकार भी तुझ को नहीं सता सकेंगे। हे पुत्र! हम जानते हैं कि, तू कर्जसे डर कर घर छोड़ रहा है; परन्तु तुझे इस की चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमने सारा कर्जा चुका दिया है। तुझे व्यापार करने के लिए जो द्रव्य चाहिए वह भी हम तुझे देंगे। तू किसी प्रकार का मन में भय न कर। "

धर्म में दृढ़ता ।

इस प्रकार के अनेक अनुकूल उपसर्गों के होने पर भी दृढ़ धर्मी और शूरवीर मनुष्य ऐसे उपसर्गोंसे चलायमान नहीं होते हैं। जो कायर मनुष्य ऐसे उपसर्गोंसे डर, वापिस अपने घर की तरफ दौड़ते हैं, उन्हें दोनों तरफसे अपमानित होना पड़ता है; और दुर्गति का भागी बनना पड़ता है। यह अधिकार सूत्रकृतांग के अंदर आया है।

श्री ऋषभदेव के ९८ पुत्रों को जिस समय वैराग्य हुआ था, उसी समय उन्होंने दीक्षा ले लीथी। वे किसीसे आज्ञा लेने नहीं गये थे। भक्त के और जगत् के अनादिकाल का वैर है। जगत भक्त के कार्य में विघ्न डालता है। सारे आस्तिक शास्त्रकार वैरागी पुरुष को, इस प्रश्न का—कि विद्वान को सबसे पहिले क्या करना चाहिए, उत्तर देते हैं कि—' संसार संतति का छेद करना चाहिए, इस में विलंब नहीं करना चाहिए ' कहा है कि—

त्वरितं किं कर्तव्यं विदुषा, संसारसन्ततिच्छेदः ।

(विद्वान् को जल्दीसे क्या करना चाहिए? संसार सन्तति का विच्छेद।)

जैनशास्त्र ही इस बात का उपदेश नहीं देते हैं, वेद मतानुयायी भी इसी तरह का उपदेश देते हैं । वे कहते हैं:—

यदहरेव विरज्येत तदहरेव प्रव्रज्येत ।

(जिस समय विरक्ति के भाव आवें उसी समय सन्यासी हो जाना चाहिए ।)

वैरागी पुरुष को दीक्षा लेनेमें बिल्कुल देर न करना चाहिए । वैराग्य आते ही उस को संसारसे बाहिर निकल जाना चाहिए । ऐसे कई उदाहरण हमने देखे हैं कि, जिस में वैराग्य आने पर लोगोंने 'क्या होगा ?' 'कैसे होगा ?' आदि विचार कर के वैराग्य वृत्ति को छोड़ दिया है । और वे वापिस संसार में फँस गये हैं । यहाँ एक दृष्टान्त दिया जाता है ।

" एक खाई थी । उस को दो आदमी लाँघना चाहते थे । कई विचारों के बाद उन्होंने उस को कूद जाने का निश्चय किया । दूर जा कर फिर वेग के साथ दौड़ कर एक खाई को कूद गया । दूसरा भी दौड़ा । मगर दौड़ते हुए उसने सोचा कि, मैं इस को कूद सकूंगा ? इस शंका के विचारसे उस का वेग रुक गया । और आखिर इसी पार उस को किनारे पर खड़ा हो जाना पड़ा । "

इस भाँति वैराग्य के वेग में जो दीक्षा ले लेता है वह तो संसार के पार हो जाता है और जो शंकाशील हो जाता है वह

संसार में ही रह जाता है । फिर उस की ली हुई कठिनसे क-ठिन वाधाएँ भी धीरे धीरे नष्ट प्राय: हो जाती है । इसी लिए शास्त्रकारोंने विराग पदवी प्राप्त करने में विलंब नहीं करने की सूचना दी है । सांसारिक ऐसे मनुष्यों के संबंध में, जो अनु-कूल उपसर्गोंसे पराभूत हो कर धम छोड़ देते हैं—कहा गया है कि—

अन्ने अन्नेहिं मुच्छिया मोहं जंति नरा असुंवडा ।
विसमं विसमेहिं गाहिया ते पावेहिं पुणो पगब्भिया ॥२०॥

भावार्थ—अल्प पराक्रमवाले जीव माता पितादिसे और परिवारसे उपद्रवित हो कर मोह मे पड़ जाते हैं । और समस्त प्रकार की मर्यादा छोड कर गृहवास को स्वीकार कर लेते है । गृहवास में जा कर क्रूर कृतियों द्वारा विषम कर्मों का बंध करते हैं । अर्थात् फिरसे जो अवस्था होती है उस के अंदर वे पूर्वा-वस्थासे भी विशेष मी . बन जाते हैं ।

यह बात तो प्रसिद्ध ह कि, ऊँची भूमि पर चढ़ा हुआ मनुष्य जब गिरता है तब उस के विशेष रूपसे चोट लगती है । इसी तरह जो ग्यारवें गुणस्थान में चढ़ कर गिरता ह वह पहिले मिथ्यात्व गुणस्थान में आ कर ठहरता है । संयमसे गिरा हुआ जीव प्राय: श्रावकों के व्रतसे भी पतित हो जाता है । इसी लिए सूत्रकार अपने धर्म में स्थिर रहने के लिए इस प्रकार उपदेश देते हैं:—

तम्हा दवि इक्ख पंडिए पावाओ विरतेभिनिव्वुडे ।
पणए वीरे महाविहिं सिद्धिपहं नेआउयं धुवं ॥

भावार्थः—अनुकूल उपसर्ग कायर पुरुषों को धर्म ध्यान से भ्रष्ट कर देते हैं, इसलिए हे मुक्तिगमन योग्य साधो ! तू तत्वा-तत्व का विचार कर । संसारस्थ जीव महाकर्म करते हैं । उनके अतिकटु विपाक को देख पापकर्म से अलग रह; शान्त हो । प्राणातिपात आदि आश्रवों से, जो पाप के कारण हैं—तू निवृत्त हो । इसी भाँति सदसद् विचार में कुशल बनकर कर्म शत्रुओं का नाश करने के लिए वीरव्रत धारण कर; और युक्तियुक्त जो मुक्ति का मार्ग है उस में लीन हो । यानी सदनुष्ठान में स्थिर रह । अगली गाथा में भी यही बात कही गई है:—

वेयालिय मग्गमागओ मणवयसाकायण संवुडो ।
चिच्चावित्तं च णायओ आरंभं च सुसंवुडे चरेज्जासि ॥२२॥

भावार्थः—साधु कर्म का नाश करनेवाले ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप मुक्ति के मार्ग को प्राप्त होने पर मन, वचन, काया के दंड से रहित होकर, परिग्रह और कुटुंब को वैराग्य भावना से छोडकर, सावद्य व्यापार का त्याग कर, एवं इन्द्रियों के विकार से रहित बनकर के विचरे । इस तरह सुधर्मास्वामी जंबूस्वामी को कहते हैं ।

श्रीवीर भगवान का उपदेश केवल मोक्ष के लिए है। सूय-गडांग सूत्र के दूसरे अध्ययन के प्रथम उद्देश की २१ वीं और २२ वीं गाथा में जो उपदेश दिया गया है, वह आदरणीय और माननीय है। उसमें 'इक्खु' शब्द आया है। वह रहस्यपूर्ण है। उसका अर्थ 'देख' यानि 'विचारकर' ऐसा होता है। संसार में जीव अपने कृतकर्मानुसार चौरासी लाख जीवयोनि में भ्रमण करते हैं। सारे दर्शनवाले 'कर्म' और उसके अनुसार फल को मानते हैं। न्याय दर्शन औरों से भिन्न मानता है। वह कहता है कि, कर्मानुसार फल ईश्वर देता है। और सब ही फल कर्मानुसार मानते हैं। वास्तविक बात भी ऐसी ही है। ईश्वर राग, द्वेष, मोह, माया, काम, क्रोध आदि दूषणों से रहित है। इसलिए वह दुनिया का व्यापार अपने सिर नहीं लेता है। ले भी नहीं सकता है। क्यों कि जिन कारणों से दुनिया का व्यापार अपने सिर लिया जाता है, उन कारणों का उसको अभाव होता है। और इस अटल सिद्धान्त को हरेक मानता है कि, कारण के बिना कार्य नहीं होता है। कहा है कि:—

यादृशं क्रियते कर्म तादृशं भुज्यते फलम्।
यादृशमुप्यते बीजं तादृशं प्राप्यते फलम् ॥

भावार्थ—जैसा कर्म किया जाता है वैसा ही फल मिलता है। जैसे कि—जैसा बीज बोया जाता है वैसा ही फल मिलता है।

इसलिए कर्म बाँधते समय विचार रखना चाहिए। यानी कोई ऐसी कृति नहीं करना चाहिए कि, जिससे उसके विपाकोदयके समय हाय, वोय न करना पड़े। शास्त्रकार अनेक युक्तियों से जीवों को पुकारकर समझाते हैं कि:—" हे जीव! जरा तत्त्वदृष्टि से अपने हित का विचार कर। जो शुभ और अशुभ कर्म तूं करेगा उनके फल तुझ ही को भोगने पड़ेंगे। दूसरा उसमें कोई साथी नहीं होगा। पापसे तू जो धन इकट्ठा करेगा उसको लेनेवाले तो बहुतसे मिल जायँगे; परन्तु पाप से जो दुःख होगा उसे लेनेके लिए कोई भी तैयार नहीं होगा। शायद कोई तुझ को प्रेम के वश कहेगा कि, मैं तेरे दुःखका आधा हिस्सा ले लूँगा; परन्तु वह ऐसा कर नहीं सकेगा। क्योंकि कृत का नाश और अकृत का आगमन सत्य मार्ग में नहीं होता है। इसलिए हे मुनि! जगत् का प्रत्यक्ष जो विचित्र भाव है उसको देख ले।"

इस अपार असार संसार में जीव आधि व्याधि और उपाधि में गूँथे हुए हैं। इससे उनका जीवन दुःख के साथ बीतता है। यदि यही जीवन ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्न-त्रय के आराधन में बिताया जाय तो, कल्याण-मार्ग की प्राप्ति में कुछ भी देर न लगे।"

मगर मोह रूपी मातंग—हाथी—जब तक जीवों के सिर पर

होता है, तबतक उनको आगे बढ़ने का विचार नहीं होता है। संसार में रहनेवाले जीव क्या संसार को ठीक समझते हैं? कदापि नहीं। तो भी वे मोह महामल्ल के आधीन होते हैं। इसलिए वह जैसे वेष पहिनाता है, वैसे वे पहिनते हैं, जैसे वह नाच नचाता है, वैसे ही वे नाचते हैं; और जैसे वह बोलता है वैसे ही वे बोलते हैं। अर्थात् मोहाधीन मनुष्य के लिए कोई भी बात न करने योग्य—न आदरने योग्य नहीं होती है। वह तो सबको करने योग्य समझता है। इसीलिए सूत्रकारोंने 'पंडित' शब्द बीच में दिया है।

पंडित कौन होता है?

विचार मात्र ही से कोई काम नहीं होता। केवल विचार ही से मोह—मातंग भी निर्बल नहीं होता। वास्तविक तत्त्वों का ज्ञान होने पर मनुष्य मोह के मर्मों और उस की चेष्टाओं को समझने लगता है। तत्पश्चात् यदि वह, कल्याणाकांक्षी और वीर होता है तो, स्वसत्ता का उपयोग करता है और परसत्ता का त्याग करता है। ऐसा करने पर वह 'पंडित' कहलाता है। जो ऐसा नहीं करता है, वह पंडित नहीं कहलाता है। शास्त्रकार स्पष्ट कहते हैं कि:—

' यः क्रियावान स च पण्डितः । '

(जो कियावान् होता है वही वास्तविक पण्डित होता है।) अन्य तो केवल नाम ही के पंडित होते हैं। इसी बात को उपदेश शतक के कर्ता इस तरह कहते हैं:—

विद्वांसो न परोपदेशकुशलास्ते युक्तिभाषाविदो,
नो कुर्वन्ति हितं निजस्य किमपि प्राप्ताः पराभ्यर्थनाम्।
तस्मात् केवलमात्मनः किल कृतेऽनुष्ठानमादीयते,
मर्त्यैर्यैः सुकृतैकलाभनिपुणैस्तेभ्यो नमः सर्वदा ॥

भावार्थ—जो केवल दूसरों को उपदेश देनेही में कुशल होते हैं उन्हें विद्वान् नहीं समझना चाहिए। वे तो केवल युक्ति और भाषा के जानकार मात्र हैं। जो अपना कुछ भी आत्म-हित नहीं करते हैं वे दूसरों की अभ्यर्थना पाते हैं यानी दूसरों के किंकर बनते हैं इसलिये सुकृत के असाधारण लाभ में जो चतुरपुरुष, केवल आत्मकल्याण के लिये शुभानुष्ठान स्वीकारते हैं वे पुरुष सचमुच वंदनीय हैं। शास्त्रकार कहते हैं कि—वैसे पुरुषों को मेरा सर्वदा नमस्कार हो।

पंडित वही गिना जाता है जो क्रियावान होता है। केवल पुस्तक पढ़कर कुतर्क करनेवाला या दूसरों को उपदेश देकर आप उसके अनुसार नहीं चलनेवाला पंडित नहीं होता है। शतककार और भी कहते हैं कि:—

हितं न कुर्यान्निजकस्य यो हि,
परोपदेशं स ददाति मूर्खः ।
ज्वलन्न मूलं स्वकपादयोश्च,
दृश्येत मूढेन परस्य गेहम् ॥

भावार्थ—जो अपना हित न कर दूसरोंको उपदेश देता है वह मूर्ख है । मूढ अपने पैरों में जलती हुई दावानल को तो नहीं देखता मगर दूसरों के जलते हुए घर को देखता है ।

तात्पर्य यह है कि जो अपनी आत्मा का विचार न कर दूसरों को उपदेश देता है वह पंडित नहीं है । पंडित वही होता है जो अपना कल्याण करता हुआ दूसरों के कल्याण का उद्यम करता है । मोह को भी ऐसा ही मनुष्य जीत सकता है । इसी हेतु से गाथा में ' वीर ' विशेषण दिया गया है । अन्य प्रकार के वीरों की अपेक्षा इस प्रकार का वीर वास्तविक वीर होता है । जो जगत को जीतने वाले देव नामधारी कई देवों को अपने वश में करता है; और जो मुक्ति–सोपान पर चढ़ने वाले मुमुक्षु मनुष्यों को संसारार्णव में फेंक देता है, उस मोह राक्षस को जीतनेवाला ही वास्तविक ' वीर ' कहलाता है । अन्य वीर पाप में आसक्त होते हैं, मगर इस वीर के लिए तो विशेषण दिया गया है–' पावाओ विरए ' (पाप कर्म से विरक्त–कोई पाप नहीं करनेवाला) संसार में एक भी जीव ऐसा नहीं है

कि जो पाप नहीं करता है; परन्तु वीर प्रभु के कई अणगार ऐसे हैं कि, जिन से नवीन कर्मों का आना बंद होता है और पुराने कर्मों का क्षय होता है ।

प्रश्न—ऊपर कहा गया है कि, संसार में कोई जीव ऐसा नहीं है कि, जिसको प्रतिक्षण कर्म का बंध नहीं होता है । इस लिए एवंभूतनय की दृष्टि से जब तक कोई सिद्ध नहीं हो जाता है तब तक उसके नवीन कर्मों का बंध होता ही रहता है । श्री वीर प्रभु के साधु भी संसार में हैं । और जब वे संसार में हैं तब उनके नवीन कर्मों का बंध भी जरूर होता ही है । यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो यह बात मिथ्या हो जायगी कि, संसारस्थ जीवों के कर्म का बंध अवश्यमेव होता है।

उत्तर—श्री वीरप्रभु के साधु भी कर्मबंध करते हैं । परन्तु उनके जो बंध पड़ता है वह अल्पतर होने से अबंध रूप ही होता है । जैसे केवली पहिले समय में सातावेदनी को बाँधते हैं, और दूसरे ही समय में उसको भोग लेते हैं इस लिए वह बंध, बंध रूप नहीं समझा जाता है । इसी भाँति शुभाशयवाले, अकषायी, ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रय के आराधक, अप्रमत्त भावों में विचरण करनेवाले मुनि अल्पतर कर्म बाँधते हैं और विशेषतर कर्मों की निर्जरा करते हैं, इसलिए उनके बंध को, अबंध कहने में कोई हानि नहीं है ।

कर्म दो प्रकार के हैं। शुभ और अशुभ। यहाँ अशुभ कर्म से मुक्त होना साधुओं के लिए कहा गया है। शुभ से नहीं। शुभ कर्म तो किसी रूप में थोड़ा बहुत मुक्ति का साधक भी होता है। अनुत्तर विमान के देवों का नाम सप्तलवा है। इसका कारण यह है कि, वे श्रेणी में आरूढ हुए हैं। यदि सातलव आयु ही शेष रही होती तो वे अवश्यमेव मुक्ति नगरी में निवास करते। परन्तु पुण्य का पुंज उनके बाकी होने से उनकी आयु सातलव की अवशेष न हो कर, तेतीस सागरोपम की हुई है। यहाँ पुण्य मुक्ति का प्रतिबंधक हुआ है; परन्तु उसने एकावतारी बना, मुक्ति की छाप लगा दी है। अर्थात् वे देव गति से चव मनुष्य पर्याय पा, अवश्यमेव मोक्ष में जायँगे।

इन्द्रादि पदवी पुण्य से मिलती है। इन्द्रादिकों के और त्रिषष्ठिशलाका पुरुषों के पुण्य की छाप लगी हुई है। इसी लिए मुक्ति मिलने में पुण्य भी शुभ साधन है। अन्तमें तो उसका क्षय हो जाता है। मनुष्य गति भी मुक्ति का कारण है; परन्तु अन्त में उसका भी क्षय हो जाता है। अभिप्राय यह है कि, अन्त में क्षय होनेवाला भी मुक्ति का कारण हो सकता है। अक्षय ज्ञान, दर्शन और चारित्र भी कारण हैं, और पुण्य भी परंपरा से कारण है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र अनंतर कारण हैं। इसी लिए 'पाप से विरत' विशेषण दिया है। यदि पुण्य

बंध का त्याग बताना होता तो 'कर्म से विरत' विशेषण बताते। अभिनिवृत्ति का अर्थ होता है-क्रोध, मान, माया और लोभ आदि से शान्त बना हुआ। जो मनुष्य क्रोधादि कषायों से अशान्त होता है वह कभी पापसे निवृत्त नहीं हो सकता है। पूर्वोक्त विशेषण विशिष्ट पुरुष न्याययुक्त और युक्तियुक्त मुक्ति मार्ग को प्राप्त होता है। इसलिए उसको 'पणए' विशेषण दिया गया है। इसका अर्थ होता है-सत्य मार्ग को पाया हुआ। या समस्त प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर वैराग्यवृत्ति को अनुसरण करनेवाला।

मुनियों की महिमा।

पाठकों को समझना चाहिए कि आत्मकल्याण रूप के लब्धियाँ रूप फूल लगते हैं। वे फूल आत्म-ऋद्धि समझे जाते हैं। किसी सांसारिक कार्य के लिए लब्धियों का उपयोग नहीं करते हैं। उनकी लब्धियाँ केवल शासनोन्नति के ही कार्य में आती हैं। उनका-ऋद्धियों का यहाँ थोड़ासा दिग्दर्शन कराया जाता है। तपस्वी मुनिवरों की नासिका का मैल औषध रूप होता है। जैसे चंद्र की कान्ति से पर्वत की वनस्पतियाँ औषध रूप हो जाती हैं इसी तरह से मुनियों के श्लेष्मादि भी उनके तप के

प्रभाव से औषध रूप बन जाते हैं। कुष्ट युक्त शरीर भी उसके संबंध से कंचन तुल्य हो जाता है। यानी उनके श्लेष्मादि से कोढ भी मिट जाते हैं और कोढी शरीर स्वर्ण के समान उज्ज्वल हो जाता है जैसे कि, कोटिरस से तांबा भी सोना हो जाता है। उनके कान, नेत्र और शरीर से उत्पन्न हुआ हुआ मैल सब रोगों को नष्ट करने में समर्थ होता है। भाव कहने का यह है कि, मुनियों के स्पर्श मात्र ही से प्राणियों के सब तरह के रोग नष्ट हो जाते हैं। जैसे बिजली के स्पर्श से वायु रोग नष्ट हो जाता है और गंधहस्ति के मद की गंध से अन्य हाथी भाग जाते हैं वैसे ही चाहे कैसा ही विषमिश्रित अन्न उन मुमुक्षुओं के पात्र में आता है तो वह अमृत के समान हो जाता है। जैसे मंत्राक्षर के स्मरण से जहर नष्ट हो जाता है वैस ही, मुनियों के वचनों को सुन कर बड़ी से बड़ी व्याधि भी मिट जाती है। नख, केश, दाँत और शरीर के दूसरे अवयव भी औषध रूप हो जाते हैं। स्वातिनक्षत्र का पानी सीप में पड़ने से मोती, सर्प के मुख में पड़ने से जहर और बाँस में पड़ने से वंशलोचन हो जाता है। इस का कारण पात्र है। यानी स्वातिजल जैसे पात्र में पड़ता है, वैसे ही रूप को धारण कर लेता है। इसी भांति शरीर के अवयव यद्यपि स्वभाव ही से असुंदर होते हैं, तथापि तप के तेजसे वे पूर्वोक्त अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। इस में ऐशमात्र

भी शंका को स्थान नहीं है । आजकल के लोग इस बात को सुन कर हँसेंगे; परन्तु जब वे योग के माहात्म्य का विचार करेंगे तब उन का हँसना बंद हो जायगा और वे इस बात की सत्यता को समझने लगेंगे । सब दर्शनकारोंने योग की महिमा का वर्णन किया है । उन्होंने भी अणिमादि आठ सिद्धियां बताई हैं । मगर प्रत्यक्ष प्रमाणसे व्यवहार करनेवाले लोगों की समझ में ये नहीं आतीं । ये बुद्धिगम्य नहीं हैं । तो भी वस्तुतः हैं ये सच्ची । इस लिए शास्त्रकारोंने यथामति इन का वर्णन किया है । इन के नाम मात्र यहां लिखे जायंगे । उन की सत्यता के विषय में इतना कहना आवश्यकीय है कि—शास्त्रों में पदार्थ दो प्रकार के बताये हैं । (१) हेतुसिद्ध और (२) हेतुगम्य रहित । जो पदार्थ हेतुगम्य नहीं हैं उन में पामर जीवों की बुद्धि काम नहीं देती । हमें पहिले यह सोचना चाहिए कि, इन शास्त्रों के लिखनेवाले कौन हैं ? यह बात यदि हमारे समझ में आ जाय तो सिद्धियों की बात हमें अक्षरशः सत्य मालूम होने लगे ।

इन अणिमादि आठ सिद्धियों को बतानेवाले, राग, द्वेष रहित सर्वज्ञ और सर्वदर्शी श्रीमहावीर देव हैं । और उन्हीं का अनुकरण बुद्ध और पातञ्जल आदिने भी किया है । वे भी योगरूपी कल्पवृक्ष के पुष्प अणिमादि आठ सिद्धियों को

मानते हैं। और उस का वास्तविक फल केवलज्ञान बताते हैं। उस फल का आस्वादन अविनाशी निवृत्ति है।

अणिमा, महिमा, प्राकाम्य, इशित्व, वशित्व, लघिमा, यत्रकामावसायित्व और प्राप्ति ये आठ सिद्धियां योगियों को मिलती हैं। इन के सिवा अन्य भी मिलती हैं; परन्तु यहां केवल इन्हीं आठ का वर्णन किया जाता है।

१ अणिमा, इससे बड़ा स्वरूप भी छोटा बनाया जा सकता है। यानी सुईमेंसे तागे के समान निकल जावे इतना छोटा रूप इस के द्वारा बनाया जा सकता है। २–महिमा, इससे मेरुसे भी उच्चतर शरीर बनाने की शक्ति आती है। ३–प्राकाम्य, इससे भूमिकी भांति ही जल में भी चलने की शक्ति आती है। ४–इशित्व–इससे तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि की ऋद्धि प्राप्त करने का बल मिलता है। ५–वशित्व, इस के द्वारा क्रूर जन्तु भी वश में आ जाते हैं। ६ लघिमा, इस के द्वारा शरीर वायुसे भी हलका हो जाता है। ७–यत्रकामावसायित्व, इस के द्वारा इच्छानुसार नाना प्रकार के रूप बनाने का सामर्थ्य आता है। ८–प्राप्ति, इस के द्वारा मेरु पर्वतादिसे, और सूर्यमंडलसे स्पर्श करने का बल आता है।

इन के सिवाय दूसरी भी अनेक ऋद्धियां हैं। उनका विस्तार जानने की इच्छा रखनेवालोंको, योगशास्त्र और ऋषभ-

देव भगवान के चरित्र को देखना चाहिए। अब दूसरे उद्देश का वर्णन किया जायगा।

मदादि का त्याग।

प्रथम उद्देश में श्रीऋषभदेव भगवानने अपने पुत्रों को जो उपदेश दिया था, उसी को विशेष रूपसे पुष्ट करने के लिए और उपशम भाव की विशेष रूपसे वृद्धि करने के लिए सूत्रकार दूसरे उद्देश को प्रारंभ करते हुए फरमाते हैं:—

तय सं च जहाइ सेरयं इति संखाय मुणींण मज्जइ।
गोयन्नतरेण माहणे असेयकरी अन्नेसिं इंखणी ॥ १ ॥
जे परिभवइ परं जणं संसारे परिवत्तइ महं।
अदु इंखणिया उ पाविया इति संखाय मुणी ण मज्जइ ॥२॥

भावार्थ—जैसे सर्प अपनी कांचली छोड़ कर उससे अलग हो जाता है वैसे ही मुनि भी कर्मों का त्याग कर देते हैं। कारण नहीं होनेसे कार्य भी नहीं होता है, ऐसा समझ कर मुनि, गोत्र, जाति, कुल और रूप आदि के मदमे उन्मत्त नहीं होते हैं। वे दूसरों की निंदा भी नहीं किया करते हैं। (१) जो जीव अन्यों का तिरस्कार करते हैं, वे संसार रूपी वन के

अन्दर दीर्घकाल तक भ्रमण करते रहते हैं। परनिंदा महान पाप का कारण है। इसी लिए इस को 'पापिनी' का विशेषण दिया गया है। इस लिए मुनियों को परनिन्दा नहीं करनी चाहिए।

हे भव्यो! श्री वितराग प्रभु का उपदेश वास्तव में ध्यान देने योग्य है। वे क्या कहते हैं? वे कहते हैं,—कांचली त्याग करने योग्य होती है। इस लिए सर्प उस का त्याग कर देते हैं। यदि वे ऐसा नहीं करते है तो उन की दुर्दशा होती है। इसी तरह कर्म भी नष्ट करने योग्य हैं। मुनियों को उन्हें नाश करना चाहिए। क्रोधादि कषायों को मुनि कर्म का कारण समझते हैं। कर्म और कषाय का अन्वय—व्यतिरेक संबंध है। यानी कषायों के होने पर कर्म होते हैं और कषायों के नष्ट होने पर कर्म भी नहीं रहते हैं। इस बात को समझ कर मुनि कषायों का त्याग करते है और आठ मदों को अपने मनो मंदिर में स्थान नहीं देते हैं।

श्री तीर्थंकरोंने कर्मनिर्जरा के मद का भी निवारण किया है, फिर दूसरे मदों की तो बात ही क्या है! मुनियों को दूसरों की निन्दा भी नहीं करनी चाहिए। परनिंदा का समय को उपस्थित करनेवाला मद है। जब मन में उत्कर्षता का—अपने आप को दूसरोंसे बड़ा समझने का—विचार आता है, तब ही

दूसरों की निन्दा की जाती है। दुनिया में परनिंदा के समान और कोई दूसरा पाप नहीं है। दूसरों की निन्दा करनेवाला महा निन्द्य कर्म बांधता है और फिर उन के कारण वह संसार-कान्तार में–दुनिया रूपी जंगल में पशु की तरह भटकता फिरता है; और अनन्त जन्म, मरणादि के कष्टों को सहता है। इसी लिए सूत्रकारोंने निन्दा को ' पापिणी ' का विशेषण दिया है।

हे महानुभावो ! यदि तुम्हें आत्मकल्याण की अभिलाषा हो तो, जागृतावस्था की बात तो दूर रही, मगर स्वप्नावस्था में भी परनिंदा न करो। यदि निन्दा करने की तुम्हारी आदत ही पड़ गई हो तो, किसी दूसरे की निंदा न कर स्वयं अपनी ही निंदा करो, जिससे किसी समय तुम्हारा उद्धार भी हो सके। वास्तविक रीत्या तो आत्म–निंदा करना भी अनुचित है। क्योंकि आत्मा तो स्वभाव से ही निर्मल है; परन्तु वैभाविक दशा के कारण से वह जड़ीभूत हो गया है। इस लिए साधुओंने मन, वचन और काया से परभावों को छोड़ना चाहिए। अपने मनमें यह न सोचना चाहिए कि, मेरे समान कोई सूत्र सिद्धान्तों का जाननेवाला नहीं है; मेरे समान कोई तप करनेवाला नहीं है; मेरे समान कोई उच्च कुलवान नहीं है और मेरे समान कोई रूपवाला नहीं है। आदि मन ही क्या न जबान ही से ऐसे शब्दों का उच्चारण करना चाहिए और न शरीर ही

से इस प्रकार की कोई चेष्टा करनी चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से बहुत बुरे कर्मों का बंध होता है। सूत्रकार इसी बात को दृढ़ करने के लिए और कहते हैं:—

जे यावि अणायगे सिया जे विय पेसग पेसए सिया।
जे मोणपयं उवट्ठिए, णो लज्जे समयं सया यरे॥ ३॥
समअन्नयरम्मि संजमे संसुद्धे समणे परिव्वए।
जे आवकहा समाहिए दविए कालमकासि पंडिए॥ ४॥

भावार्थ—यदि स्वयं नायक अर्थात् नायकरहित चक्रवर्तीने और दासानुदास व्यक्तिने मुनिपद धारण किया हो, तो वे लज्जा को छोड़ शिष्ट व्यवहार का पालन करें। अर्थात् यदि रंक व्यक्तिने चक्रवर्ती से पहिले दीक्षा ली हो तो, चक्रवर्ती उसको नमस्कार करे। (३) सामायिक छेदोपस्थापनीय—आदि चारित्र के स्थान में रह, सम्यक प्रकार से शुद्ध भाववाला बन, द्रव्य और भाव परिग्रह से मुक्त हो, सुसमाहितादि विशेषण विशिष्ट बन, लज्जा, मद आदि का त्याग कर मुनि चारित्र धर्म की पालना करे। (४)

प्रथम की गाथा से जैन शासन की अपूर्व उदारता और निष्पक्षपातता दृष्टिगत होती है। वस्तुतः तीर्थकर महाराज के शासन में पक्षपात को जलांजुली दी गई है। जैन शासन जाति प्रधान नहीं, गुण प्रधान है। जो मनुष्य पवित्र जैन धर्म का

सम्मान करता है–जैन धर्मानुसार चलता है वह जैन जाति के अन्तर्भूत हो सकता है। धर्माधिकार सबका समान है। मनुस्मृति कहती है कि–"शूद्रों को धर्मोपदेश नहीं करना चाहिए।" ऐसी कपोलकल्पित बातें वीतराग के शासन में नहीं हैं। जन शासन में चाहे कोई चक्रवर्ती हो या रंक, दोनों का दर्जा एकसा है। और दोनोंमें से जो पहिले ज्ञान, दर्शन और चारित्र को स्वीकार करता है वही वंदनीय होता है। व्यवहार भी इसी के अनुसार होता है। इस में जाति, धन या वय की प्रधानता नहीं है। गुण की प्रधानता है। क्षत्रिय जाति सर्वोत्कृष्ट गिनी गई है। इस का कारण उन का आत्म–वीर्य है। यदि वह आत्म–वीर्य हीन हो, तो वह केवल नाम की बड़ी है। कई धर्मों में अमुक जाति के सन्यासी को–चाहे वह कैसा ही महात्मा हो–धर्म सुनाने का या सुनाने का अधिकार नहीं है। वह केवल ॐकार का ही ध्यान कर सकता है। ऐसी अनेक बातें है। ब्राह्मणोंने समय पा कर अपनी एक हत्थी सत्ता प्राप्त कर ली थी, उस का अब ह्रास होने लग रहा है। लोग तत्त्वज्ञान को समझने लग रहे हैं। कई जिज्ञासु बने है। वे पक्षपात का तिरस्कार करते है। वास्तव में देखा जाय तो पक्षपात अधोगति में डालनेवाला है। पक्षपात शब्द यदि पक्षियों के लिए लागु करेंगे तो इस का अर्थ होगा पक्ष–पंख, का पात–गिरना। पंख का गिरना पक्षी का ही नीचे गिरना है। क्योंकि पक्षी विना पक्षों के उड़ नहीं सकते

हैं। भारतभूमि में भी आज यही दशा है। पक्षपात के कारण भारत नीचे गिरता जा रहा है। कहा है कि:—

पक्षपातो भवेद्यस्य तस्य पातो भवेद् ध्रुवम्।
दृष्टं खगकुलेष्वेवं तथा भारतभूमिषु॥

भावार्थ—जिस को पक्षपात होता है, उसका निश्चयतः पतन होता है। पक्षिकुल में यह बात देखो। भारत में भी यही बात हो रही है।

इसलिए पक्षपात नहीं करना चाहिए। सूत्रकार लज्जा और मद को छोड़ने का उपदेश दे, प्रकारान्तर से और भी वही बात कहते हैं:—

दूरं अणुपस्सिया मुणी तीतं धम्ममणागयं तहा।
पुट्ठे परुसेहिं माहणे अविहण्णु समयम्मि रीयइ॥ ५॥
पण्ण समत्ते सया जए समताधम्ममुदाहरे मुणी।
सुहमे उ सया अलूसए णो कुज्झे णो माणि माहणे॥ ६॥

भावार्थ—सम्यक् धर्म के विना मोक्ष नहीं मिलता है। इसका, और बीते हुए काल में और भविष्य काल में जीवों का शुभाशुभगति का विचारकर, ब्रह्मचारी मुनियों को, म्लेच्छों के कठोर वचनों से या उनके प्रहार से लेशमात्र भी कषाय नहीं करना चाहिए और खंदक ऋषि के शिष्यों की भाँति शान्ति के साथ जैन शासनानुसार विचरण करना चाहिए। (१) सुंदर

बुद्धिवाले संयम के आराधक साधु को चाहिए कि वह सदा भाव शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे। इस प्रकार वह प्रश्न कर्ता के सामने भी नीचा न देखे। कुशलता के साथ–युक्ति पूर्वक–शान्त भावों से अहिंसादि लक्षणयुक्त धर्म का प्रकाश करे; सूक्ष्मदृष्टि से अपने आत्मभावों को देखे; यदि कोई मारे तो भी उस पर क्रोध न करे और यदि कोई पूजा करे तो भी वह अभिमान न करे। (२)

सूत्रकारने ' दूर ' शब्द का अर्थ मोक्ष किया है। यह बिल्कुल ठीक है। मोक्ष वास्तव में दूर ही है। श्री वीतराग प्रभु की आज्ञानुसार तप, जप, ज्ञान, ध्यान, परोपकार दया आदि किये जाते हैं तब ही मुक्ति नगर का शुद्ध मार्ग—जो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यगूचारित्र रूप है—मिलता है। जबतक भूत भविष्यत काल संबंधी जीवों की शुभाशुभ प्रवृत्ति का ज्ञान नहीं होता है, तबतक अपने कर्तव्य में दृढ नहीं हुआ जाता। इसीलिए सूत्रकार कहते हैं कि—जीवों की कर्मकृत शुभाशुभ गति और विचित्र वर्ताव को तू देख। जगत और भगत में अनादि काल से वैर चला आरहा है। इसलिए यदि साधु को कोई कठोर वचन कहे या कोई उसे मारे तो भी साधु को उसके प्रति द्वेष भाव नहीं करना चाहिए और निम्नलिखित भावना भानी चाहिए। यदि कोई विना कारण साधु को कष्ट दे तो उस को विचारना चाहिए कि,—" मेरे भाग्य का उदय हुआ है, कि जिससे अनायास ही मेरे कर्म की निर्जरा होगी। लोगों को मेरा

तिरस्कार करने से आनंद मिलता है; इसलिए उनसे भी मुझ को ज्यादह आनंद है। क्यों कि उनके किये हुए तिरस्कार को मैं थोड़ी देर शान्ति के साथ सहन कर सकूँगा तो, मेरे चिरकाल के दुःखदायक क्लिष्ट कर्म नष्ट हो जायँगे। मुझ को मारने से लोगों को सुख होता है तो वे भले सुखी हों। एक को दुःख होने से यदि सैकड़ों को सुख होता है तो कौन ऐसा मूर्ख है जो सैकड़ो को सुख न होने देगा ! ये कठोर वचन कहनेवाले मेरे वास्तविक बंधु हैं। क्यों कि कर्म रूप दृढ़ गाँठ जो मेरे हृदयकोश में बँधी हुई है, उसके ये लोग खारे वचन रूप औषध से काट रहे हैं। ये लोग मेरा खूब ताड़न, तर्जन करें। इससे मेरा लाभ ही है। स्वर्ण पर लगा हुआ मैल अग्नि के विना साफ नहीं होता है, इसी तरह आत्मा के ऊपर लगा हुआ कर्म–मेल भी उपसर्ग, परिसह रूपी अग्नि के विना नष्ट होनेवाला नहीं हैं। द्रव्य से दुःख देनेवाले और मेरे भाव रोग को हरनेवाले मेरे मित्रों पर यदि मैं क्रोध करूँ तो कृतघ्न कहलाऊँ। क्यों कि वे स्वयं दुर्गति के खड्डे में उतरकर मुझ को उस से बाहिर निकाल रहे हैं। अपना पुण्य धन खर्च करके जो मेरा अनादिकाल का ऋण चुका रहे हैं उन पर मैं क्रोध कर सकता हूँ ! वध बंधनादि मेरे हर्ष के लिए हैं; क्यों कि वे तो मुझ को संसार रूपी जेलखाने से निकालने के प्रयत्न हैं। मुझे अफसोस है तो केवल इतना ही कि, मुझ को जेलखाने से छुड़ानेवाले मेरे हितुओं की संसार–वृद्धि

हो रही है। दूसरों को संतुष्ट करने के लिए कई लोग अपने धन और शरीर का त्याग करते हैं। मैं यदि सन्तोष पूर्वक मारन ताडन सह कर यदि मुझे मारनेवालों को सन्तुष्ट कर सकूँ तो इसके सिवा और अच्छी बात मेरे लिए क्या हो सकती है ? लोगों के सन्तोष के सामने मेरे पर पड़ने वाली मार मेरे लिए तुच्छ है।"

मुमुक्षु को विचारना चाहिए कि,—"अमुकने मेरा तिरस्कार ही किया है, मुझ को मारा तो नहीं है।" मारा हो तो सोचना चाहिए कि—" इसने मुझ को पीटा ही है, मेरे प्राण तो नहीं लिये हैं। यदि प्राण ले लेगा तो भी मेरा धर्म तो नहीं ले सकेगा।"

तात्पर्य कहने का यह है कि, कल्याणार्थी पुरुषों को सम-भावों से वध, बंधन, ताडन, तर्जन और आक्षेपादि को सहन करना चाहिए। इस तरह करने से साधुओं को कषायों का उद्भव नहीं होता है। खंधक मुनि के ४९९ शिष्यों को एक अभव्यने जिन्दा ही घानी में पील डाले तो भी उन्होंने कषायें नहीं कीं। इसी तरह से जो साधु संयम का पूर्णतया आराधन करते हैं वेही वास्तविक अहिंसा धर्म को पालनेवाले और अहिंसा के उपदेशक होते हैं। क्यों कि साधु, धर्म का उपदेशक होना चाहिए।

सूत्रकार आगे कहते हैं:—

बहुजणणमणम्मि संवुडो सव्वट्ठेहिं णरे अणिस्सिए ।
हरए व सया अणाविले धम्मं पादुरकासि कासवं ॥ ७ ॥

बहवे पाणा पुढो सिया पत्तेयं समयउवेहिया ।
जे मोणपदं उवट्ठिते विरति तत्थ अकासि पंडिए ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह रहित होता है; जिसका हृदय स्वच्छ सरोवर के समान सदा निर्मल होता है; जो अनेक धर्मों के बीच में समाधि पूर्वक आर्हत धर्म का प्रकाश करता है; जो सोचता है कि—"अपने कर्मानुसार प्रत्येक प्राणी भिन्न भिन्न स्थिति में है; वे सबही सुख को चाहते हैं व दुःख से द्वेष करते हैं," और जिनेंद्र धर्म को स्वीकार कर नियम करता है कि, मैं न किसी जीव को मारूँगा, न किसी को मरवाऊँगा और न किसी मारनेवाले को भला समझूँगा, वही पंडित होता है ।

सच्चा धर्मात्मा कौन होता है?

सूत्रकारने साधु को महाहृद के समान निर्मल बताया है सो यथार्थ है । महाहृद में मच्छ, कच्छपादि अनेक जीव रहते हैं; परन्तु वह लेश मात्र भी मलिन नहीं होता और न वह क्षुब्ध ही होता है । इसी भाँति उपसर्गों और परिसहों से महामुनि लेश मात्र भी क्षुब्ध नहीं होते हैं । दुनिया में अनेक प्रकार के धर्म विद्यमान हैं, तो भी मुनि क्षमा आदि दश धर्मों का प्रकाश

करते हैं, जिससे वास्तविक धर्म का साधन कर स्वर्ग और मोक्ष सुख को पाते हैं। दुनिया में वास्तविक धर्म साधकों की अपेक्षा अवास्तविक धर्म के साधक बहुत ज्यादा मनुष्य हैं। शास्त्रों में इसके लिए एक दृष्टान्त दिया गया है।

" मगध देश में राजगृही नगरी थी। उसमें श्रेणिक राजा राज्य करता था। एक दिन वह अपने कुमार अभयकुमार सहित सभा में बैठा था। सभा में अनेक प्रकार की बातें हो रही थीं। बातों में धार्मिक चर्चा भी चली। सभास्थित कई लोगों ने कहा कि, संसार में धर्मी मनुष्य कम हैं और अधर्मी मनुष्य विशेष हैं। सारी सभाने यह बात स्वीकार कर ली मगर चतुर, बुद्धिमान अभयकुमारने यह बात न मानी। उसने कहा कि–' हे सभाजनो ! संसार में धर्मी मनुष्य विशेष है और अधर्मी कम। अभी तुम मेरी बात न मानोगे, मगर परीक्षा करने पर मानने लग जाओगे। '

सभाने प्रसन्नता पूर्वक परीक्षा करने की स्वीकारता की। परीक्षा के लिए अभयकुमारने नगर के बाहिर दो तंबू लगवाये; एक काला और एक सफेद। तत्पश्चात् नगर में ढिंढोरा पिटवा दिया कि–'कल सब लोग नगर के बाहिर जायँ और जो धर्मात्मा हों वे सफेद तंबू में और बाकी के काले तंबू में जा कर बैठे, ' ऐसाही हुआ। सब लोग सफेद तंबू में आकर बैठे केवल दो श्रावक काले तंबू में बैठे।

अभयकुमार, राजा श्रेणिक और अन्यान्य सभाजन–जो परीक्षक बने थे, वहाँ गये। सफेद तंबू के दर्वाजे पर खड़े हो गये। और प्रत्येक को बुला बुला कर प्रश्न पूछने लगे कि– तुमने क्या सुकृत किया है? और करते रहते हो?

एकने उत्तर दियाः—" मैं किसान हूँ। खेती करता हूँ। मेरे धान का नुकसान करनेवाले कई जीवों को मैं मारता हूँ। कई भूखों को अन्न देता हूँ। "

दूसरेने कहाः—" मैं ब्राह्मण हूँ। षट्कर्म में मैंने प्रसिद्धि पाई है। वेद की आज्ञानुसार कर्म करता हूँ, और कराता हूँ। कई पशुओं को मरवा कर उन्हें और मारनेवालों को स्वर्ग का अधिकारी बनाता हूँ। "

तीसरा बोलाः—" मैं वणिकपुत्र हूँ। व्यापार करके अपने कुटुंब का पालन पोषण करता हूँ। "

चौथा बोलाः—" मैं भंगी हूँ। अपने कुलाचार को पालता हूँ। अनेक मांसाहारी पशु पक्षियों को मुझसे सुख पहुँचता है। मुझसे मांस प्राप्त करके वे अपने जीवन की रक्षा करते हैं। इसलिए मैं धर्मात्मा हूँ। "

इस तरह सबने अपनी अपनी कल्पना के अनुसार धर्म बताया और अपने को धर्मात्मा साबित किया। तत्पश्चात् वे परीक्षक काले तंबू के सामने गये। उसमें से केवल दोही श्रावक

बाहिर निकले। क्योंकि उसमें उन दो के सिवा तीसरा कोई भी नहीं था। राजा, मंत्री और अन्यान्य लोग यह देख कर आश्चर्यान्वित हुए। वे मन ही मन सोचने लगे–"ये दोनों वास्तविक धर्मात्मा होने पर भी इस काले तंबू में क्यों बैठे हैं?" फिर उन्हों ने श्रावकों से पूछाः–"तुमने क्या अधर्म किया है?"

वे दोनों भाई साश्रुनयन बोलेः—

अवाप्य मानुषं जन्म लब्ध्वा जैनं च शासनम्।
कृत्वा निवृत्ति मद्यस्य सम्यक् सापि न पालिता॥

भावार्थ—अति दुर्लभ मनुष्य जन्म को और जैनधर्म को प्राप्त करके हमने मद्यपान का–शराब पीने का–त्याग किया था। मगर खेद है कि, हम उसको भली प्रकार से न पाल सके।

अनेन व्रतभङ्गेन मन्यमाना अधार्मिकम्।
अधमाधममात्मानं कृष्णप्रासादमाश्रिताः॥

भावार्थ—इस व्रत का भंग किया, इससे हमने अपने आप को अधर्मी समझकर अधमाधम जान कर इस काले प्रासाद में–तंबू में प्रवेश किया है।

शास्त्रकारोंने, जिसने व्रत भंग किया हो उस मनुष्य के जीवन को व्यर्थ प्रायः बताया है। यथाः—

वरं प्रवेष्टुं ज्वलितं हुताशनं,
न चापि भग्नं चिरसञ्चितं व्रतं।

वरं हि मृत्युः सुविशुद्धचेतसो,
न चापि शीलस्खलितस्य जीवनम् ॥

भावार्थ—जलती हुई अग्नि में प्रवेश करना अच्छा है; परन्तु चिरसंचित–बहुत दिनों के पाले हुए–व्रत को भंग करना अच्छा नहीं है। विशुद्ध अन्तःकरण सहित मर जाना अच्छा है, मगर शीलभ्रष्ट हो कर जीवित रहना खराब है।

ऐसे शास्त्रीय वाक्यों के अनुसार हम अधर्मी हैं इसी लिए हम काले तंबू में बैठे हैं। "

संसार में वास्तव में तो धर्मात्मा मुनिवर्ग ही है। दूसरे जो अपने आप को धर्मात्मा बताते हैं यह उनका ढोंग है। आजकल का जमाना महात्मा को अमहात्मा बताता है और अमहात्मा गृहस्थों को महात्मा की पदवी प्रदान करता है। अर्थात् गृहस्थों को महात्मा कह कर पुकारता है। कलिकाल का कैसा माहात्म्य है कि गृहस्थ आजकल धर्म के सर्वस्व बन बैठे हैं।

इस गाथा में दीपिकाकारने स्पष्ट लिखा है कि, गाथाओं में गिनाये हुए गुणों को धारण करनेवाले साधु ही धर्मोपदेश देने के अधिकारी हैं। गृहस्थी नहीं। यह बात युक्ति पूर्वक सब को माननी पड़ेगी कि, जो लोग त्यागी होंगे वे ही त्याग का वास्तविक स्वरूप बता सकेंगे अन्य नहीं। मोक्ष में

आने के लिए त्याग धर्म के सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है। मगर आजकल की रीति तो उल्टी ही हो रही है।

यहां हम साधुओं को भी सूचित करना चाहते हैं कि— हे मुनिवरो! गुरुकुल में रहते हुए अपने आत्मश्रेय का प्रयत्न करो; और आत्मश्रेय के साथ ही श्री वीर प्रभु के शासन की उन्नति करने में आत्मभोग दो।

अब प्रभुने साधुओं को क्या उपदेश दिया है? इस का विचार किया जायगा।



मूर्च्छाका त्याग।

धम्मस्स य पारए मुणी आरंभस्स य अंतए ठिए।
सोयंति य णं ममाइणो णो लब्भंति णियं परिग्गहं ॥९॥
इह लोग दुहावहं विऊ परलोगे य दुहं दुहावहं।
विद्धंसणधम्ममेव तं इति विज्जंको गारमावसे ॥१०॥

भावार्थ—जो श्रुतधर्म और चारित्रधर्म का पारगामी हो और जो आरंभ, समारंभ और संरंभसे दूर रहता हो वही

' मुनि ' कहलाने योग्य है। परन्तु जो ऐसे नहीं होते हैं, अर्थात् ऊपर बताये हुए धर्म को जो नहीं पालते हैं वे, मेरा मेरा कर, विनश्वर वस्तुओं में मुग्ध हो मरते हैं, और दुर्गति में जाते हैं। धन धान्यादि इस संसार में दुःख देनेवाले हैं। इतना ही नहीं परलोक में भी वे महान् दुःख के देनेवाले हैं। धर्म का नाश करनेवाला भी परिग्रह ही है। यह समझकर कौन बुद्धिमान् गृहवास का सेवन करना चाहेगा ?

पहिले के दो पदों में सत्य साधु का स्वरूप बताया गया है। उन में यह भी बताया गया है कि साधु वृत्तिवाले ही इस लोक में और परलोक में सुखी होते हैं। इससे विपरीत वृत्तिवाले जीव दुःखी हैं। अगले दो पदों में परिग्रह दुःख का कारण बताया गया है। इस बात को विशेष रूपसे स्पष्ट करने का प्रयत्न करना पिष्ट पेषण मात्र होगा। क्यों कि द्रव्य के उपार्जन करने में, उस की रक्षा करने में, और उस को खर्च करने में जो कष्ट होता है, उस को सब भली प्रकारसे जानते हैं। इसी लिए नीति के जाननेवाले पुरुषोंने ' अर्थ ' नाम के पुरुषार्थ को धिक्कारा है। कहा है कि:—

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् दुःख भाजनान् ॥

भावार्थ—धन को पैदा करने में दुःख होता है। और

पैदा किये हुए की रक्षा करने में दुःख होता है। जिस के आने में दुःख है जिस के जाने में दुःख है, ऐसे दुःख के भाजन अर्थ को धिक्कार है।

परिग्रह धर्म का भी नाश करनेवाला है। जैसे वक्रग्रह जिस के सिर पर आता है उस को अनेक प्रकार की विपदाएँ भोगनी पड़ती हैं, इसी तरह ममत्व रूप क्रूर ग्रह भी दुःख देनेवाला है। इतना ही नहीं अपने सबसे प्रिय जनसे वैर करा देनेवाला भी यही परिग्रह है। लोभाभिभूत मनुष्य अपने माता, पिता, भाई, बहिन आदि के प्राण भी क्षणवार में ले लेता है। इस के अनेक उदाहरण मौजूद हैं। परिग्रह रूपी ग्रह परलोक में भी जीव को शांति नहीं लेने देता है। विशेष क्या कहें ? तत्ववेत्ता लोग आशा को विष की बेल बताते हैं। मगर हम कहेंगे कि, यह विष की बेल से भी ज्यादा बुरी है। क्यों कि विष की बेल तो इसी भव में प्राण लेती है। मगर आशा इस भव और पर भव दोनों में दुःख देती है। लोभी लोग दुनिया के दास हैं। लोभी मनुष्य के लिए कोई भी अकृत्य नहीं है। इन सब बातों को जानते हुए भी कौन ऐसा विद्वान् मनुष्य होगा जो गृहस्थावस्था में रहेगा। और जान बूझ कर कोई भी जेलखाने में रहना पसंद नहीं करता है, और संसार संपूर्णतया जेलखाना है। कहा है कि:—

प्रिया स्नेहो यस्मिन्निगडसदृशो यामिकभटो-
पमः स्वीयो वर्गो धनमभिनवबन्धनमिव ।
महामेध्यापूर्णं व्यसनबिलसंसर्गविषमम् ,
भयं कारागेहं तदिह न रतिः क्वापि विदुषाम् ॥

भावार्थ—जहाँ स्त्रियों का स्नेह बेड़ी के समान है, कुटुंबी जन चौकीदार के समान हैं; धन धान्यादि बंधन रूप हैं, और विष्टा, मूत्रादिसे पूर्ण महान दुर्गंधवाला व्यसन रूपी खड्डा है; वहां—ऐसे संसार रूपी जेलखाने में रह कर क्या विद्वान पुरुषों को सुख मिल सकता है ? नहीं ।

इसी प्रकारसे ज्ञानी मनुष्योंने संसार को श्मशान रूप बताया है:—

महाक्रोधो गृध्रोऽनुपरतिशृगाली च चपला,
स्मरोलूको यत्र प्रकटकटुशब्दः प्रचरति ।
प्रदीप्तः शोकाऽग्निस्तत अपयशो भस्म परितः
श्मशानं संसारस्तदतिरमणीयत्वमिह किम् ॥

भावार्थ—जिस में महान क्रोध रूपी गीध पक्षी फिरता है; जिस में अशान्ति रूपी चंचल सियार रहता है; कामदेव रूपी उल्लू जिस में दुस्सह कड़वे शब्दों का उच्चारण करता है; जिस में शोक रूपी महान अग्नि जल रही है; और जिस में अपमान

रूपी भस्म पड़ी हुई है, ऐसे श्मशान रूपी संसार में रमणीयता—सुन्दरता क्या है ?

संसार में क्या सुंदरता है सो कुछ मालूम नहीं, तो भी आश्चर्य है कि, इस में बुद्धिमान और निर्बुद्धि दोनों प्रकार के मनुष्य फँसते हैं। इस का कारण मोह के सिवा और कुछ नहीं है। मोह ही मनुष्य को उल्टे मार्ग पर चलाता है। कहा है कि:—

दाराः परिभवकारा बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः।
कोऽयं जनस्य मोहो ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा ॥

भावार्थ—स्त्रियां पराभव करनेवाली हैं, बन्धुजन बंधन हैं, और विषयभोग विष के समान है, तो भी कौन ऐसा है, जो इन शत्रुओंसे भी मित्रता की आशा कराता है ? यह मनुष्य का मोह है।

यह सत्य है कि मिथ्याज्ञान सीप के अंदर भी चाँदी का भ्रम पैदा करता है। इस लिए साधु को चाहिए कि वह गृहस्थ धर्म में लिप्त न हो कर अपने साधु धर्म को भली प्रकार पाले। और किसी भी पदार्थ के ऊपर मूर्च्छा न रक्खे।

एकाकी रहना।

अब विशेष रूप से उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं कि:—

महयं पलिगोव जाणिया जा विय वंदणपूयणा इहं ।
सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे विउमंता पयहिज्ज संथवं॥ ११ ॥

एगे चरे ठाणमासणे सयणे एगे समाहिए सिया ।
भिक्खू उवहाणवीरए वइगुत्ते अज्झत्तसंवुडो ॥ १२ ॥

भावार्थ—लोकपूजा और वंदनादि मुक्ति मार्ग में कीचड़ के समान हैं। इस लिए साधु पुरुषों को चाहिए कि, वे उनको सूक्ष्म शल्य समझ कर उनसे दूर रहें, गृहस्थियों से ज्यादा परिचय न बढ़ावें और रागद्वेष रहित हो कर एकाकी भूमि पर विचरण करे। काउसग्ग के स्थान, आसन, शयन आदि प्रत्येक स्थान पर साधु समाहिति रहें, तपोविधान में आत्म-वीर्य का गोपन न करें और वचनगुप्ति पूर्वक अध्यात्म में चित्त लगावें।

सत्कार परिसह सहन करना बहुत कठिन है। लोकनिंदा का सहन करना सरल है; परन्तु पूजा और स्तुति का सहन करना बहुत ही कठिन है। इसी लिए सूत्रकारने अभिमान को मुक्ति के मार्ग में कीचड़ के समान बताया है। स्वाध्याय, जप, तप आदि उत्तम कार्यों को कलंकित करनेवाला भी अभिमान ही है। इस लिए साधुओं को वंदना और पूजनादि परिसह से दूर रहना चाहिए। और आसन, शयन आदि में अकेले रहना चाहिए। 'अकेले' शब्द का अर्थ समुदाय से दूर रहना नहीं

है। इसका अर्थ है रागद्वेष से दूर रहना। क्योंकि अकेले रहने में साधुओं को अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ता है।

श्री दशवैकालिकसूत्र में अपवाद पद से अकेला विचरने की आज्ञा दी गई है। मगर उसके साथ ही ये शब्द भी कहे गये हैं;—"यदि कोई समान गुणवाला या अधिक गुणवाला अच्छा सहायक न मीले तो कामदेव की तमाम क्रियाओं से दूरतर रह, आरंभ संरंभादि पाप के कारणों का त्यागकर विहार करे।" इस की मूल गाथा यह है:—

णया लभेज्जा निउणं सहायं गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
इक्को वि पावाइं विवज्जयंतो, विहरिज्जकामेसु असज्जमाणो ॥

(श्री दशवैकालिक सूत्र, द्वितीय चूलिका)

उक्त प्रकार की स्थिति हो तो, योग्य साधु गुरु की आज्ञा ले कर, एकाकी विचरण करे। प्रत्येक के लिए एकाकी विचरन की प्रभु की आज्ञा नहीं है। ऐसा होने पर भी यदि कोई अपनी चतुराई दिखा कर एकाकी विचरण करने लगे तो उसको प्रभु की आज्ञा से बाहिर चलनेवाला समझना चाहिए। आज कल कई बहुल संसारी जीव समुदाय में न रहकर एकाकी विचरते हैं और बाह्य त्याग वृत्ति दिखा कर भद्रिक जीवों को अपने रागी बनाते हैं। इतना ही नहीं, वे समुदाय में रहनेवाले साधुओं को, उन पर असत्य दोष लगा कर, बदनाम करते हैं।

मगर ऐसे साधु स्वच्छंदी होने से अवंद्य हैं। उपाध्याय यशो विजयजी महाराज कहते हैं:—

समुदाये मनागूदोषभीतैः स्वेच्छाविहारिभिः।
संविग्नैरप्यगीतार्थैः परेभ्यो नातिरिच्यते॥
वदन्ति गृहिणां मध्ये पार्श्वस्थानामवन्द्यताम्।
यथाच्छंदतयात्मानमवन्द्यं जानते न ते॥

कुछ वैराग्यवृत्तिवाले जीव, अशुद्ध आहारादि के और न्यूनाधिक क्रिया के अल्प दोषों से डरकर, स्वेच्छाविहारी बनते हैं। मगर ऐसे साधु अगीतार्थी हैं। वे शिथिलाचारियों से किसी तरह कम नहीं हैं। बल्के शिथिलाचारी ही हैं। वे गृहस्थों के सामने समुदाय में रहनेवाले नरम गरम साधुओं को अवंद्य बताते है। मगर आप स्वच्छंदी बनकर अवन्द्य हो जाते हैं, इसकी उनको खबर नहीं रहती है। विहार, गीतार्थ और गीतार्थ के आश्रय में रहकर करने की आज्ञा है। अन्य प्रकार के विहार के लिए प्रभु की आज्ञा नहीं है। जैन साधु भी यदि स्वच्छंदता से विचरण करने लग जायँ तो ९६ लाख साधुओं की जो बुरी दशा हम देख रहे हैं, वही दशा वीर के साधुओं की भी हो जाय, इसमें संदेह की कोई बात नहीं है। वर्तमान काल में कई अंशों के अंदर साधु वर्ग में क्रिया, यतना, भाषा, और श्रावकों के साथ का व्यवहार, कुछ विपरीत प्रकार

का हो रहा है । इससे गृहस्थ, साधुओं का जो विनय करना चाहिए, वह नहीं करते । उल्टे किसी मौके पर वे मन, वचन और काया से साधुओं की आशातना करते हैं । इतना ही नहीं वे अपना थोड़ासा अपमान होने पर साधुओं को दुःख देने और उनकी फजीहती करने को भी तैयार हो जाते हैं । इसी-लिए सूत्रकारने गृहस्थों का परिचय न बढ़ाने की—गृहस्थों से दूर रहने की आज्ञा दी है । साधु को रागद्वेष रहित होकर यथाशक्ति तप भी करना चाहिए । तप के विना कर्म का नाश नहीं होता है । तप के साथ वचनगुप्ति की भी रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि पुण्य की कमी के कारण तपस्या करनेवाले प्रायः जीवों को बहुत जल्द क्रोध हो आता है । इसलिए वचन पर अधि-कार रखना आवश्यक है ।

जिनकल्पी साधुओं का आचार ।

जैनशास्त्रों में दो प्रकार के साधु बताये गये हैं । (१) जिनकल्पी; और (२) स्थविरकल्पी। यहाँ जिनकल्पी साधुओं का थोड़ासा आचार बताया जायगा । सूत्रकार फर्माते हैं:—

णो पिहे ण या वपंगुणो दारं सुन्नघरस्स संजए ।
पुट्ठेण उदाहरे वायं ण समुच्छे णो संथरे तणं ॥ १३ ॥
जत्थत्थमए अणाउले समविसमाइं मुणी हियासए ।
चरगा य दुवावि भेरवा अदुवा तत्थ सरीसवा सिया ॥१४॥

भावार्थ—जिस शून्य गृह में साधु सोवे उसे उसका दर्वाजा न बंद करना चाहिए और न खोलना चाहिए। क्योंकि खोलने से या बंद करने से अचानक जीव हत्या होजाने की संभावना है। रस्ते चलते हुए साधु किसी के प्रश्न का उत्तर न दे। यदि उत्तर देने की बहुत ज्यादा आवश्यकता ही हो तो साधु असत्य बात न कहे। जो वास्तविक बात हो वही कहे। वह मकान में पड़ी हुई धूलि को न उठावे और न उस पर घास आदि ही बिछावे। चलते हुए जहाँ सूर्य अस्त हो जाय वहीं वह रह जाय। ध्यान करे। परिसह, उपसर्गादि से लेशमात्र भी न डरे। सागर के समान गंभीर रहे। जगह खड्डेवाली हो तो समभावों से उसकी तकलीफ़ को उठाले। इसी तरह दंश, मशक, भयंकर भूत, पिशाच, सर्पादि के परिसहों को भी समतापूर्वक सह ले। राग, द्वेष थोड़ासा भी न करे। सूत्रकार और कहते हैं कि:—

तिरिया मणुया य दिव्वगा उवसग्गा तिविहा हियासिया।
लोमादियं पि ण हरिसे सुन्नागारगओ महामुणी ॥ १५ ॥
णो अभिकंखेज्ज जीवियं नो विय पूयणपत्थए सिया।
अब्भत्थमुर्विति भेरवा सुन्नागारगयस्स भिक्खुणो ॥ १६ ॥

भावार्थ—सिंह, व्याघ्रादि तिर्यंच कृत उपसर्गों को, मनुष्य कृत प्रतिकूल और अनुकूल उपसर्गों को, और व्यन्तरादि देवकृत उपसर्गों को सूने घर में रहे हुए मुनि समभावों के साथ सहन

करे। अपना एक रोम भी न फरकने दे। उपसर्गों के समय में जीवन की आशा न रक्खे और न यही सोचे कि, इन उपसर्गों से मैं मर जाऊँगा। इसी तरह उपसर्गों से पूजा प्रभावना की भी इच्छा न करे। शून्य घर में होनेवाले, या श्मशानादि में होनेवाले उपसर्गों को मुनि बारबार समता पूर्वक सहन करें।

उक्त चार गाथाएँ **जिनकल्पी** साधुओं के लिए कही गई हैं। जिनकल्प व्यवहार में व्युच्छिन्न—नष्ट हो गया है। बलिष्ट कर्मों को नष्ट करने के लिए, प्रथम संहनन आदि के योगसे, मुनि-मतंगज पहिले जिनकल्पी बनते थे। अब तो केवल **स्थविरकल्प** ही बाकी रह गया है। व्यवहार सूत्र, बृहत्कल्प और प्रवचन-सारोद्धार के अंदर जिनकल्पका विशेष विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।

साधुओं को स्त्री, राजा आदि से दूर रहना चाहिए। इसके लिए सूत्रकार फर्माते हैं:—

स्त्री आदि के संसर्ग त्याग।

उवणीयतरस्स ताइणो भयमाणस्स विविक्कमासणं।
सामाइयमाहु तस्स जं जो अप्पाण भएण दंसए ॥१७॥
उसिणोदगतत्तभोइणो धम्मठियस्स मुणिस्स हीमतो।
संसग्गिअसाहु राईहिं असमाही उ तहागयस्स वि ॥१८॥

भावार्थ—जिसने ज्ञान, दर्शन और चारित्र के अंदर अपने

आत्मा को प्राप्त किया है; जो निज, परका रक्षक है; जो स्त्री, पशु और नपुंसक रहित स्थान में रहता है और जो उपसर्ग परिसह आदि से नहीं डरता है; उसी साधु को सामायिक रूप चारित्र की प्राप्ति होती है। जो चारित्र धर्म में स्थिर होते हैं; जो असंयम से लज्जित होते हैं; तीन बार उबाला हुआ–अचित्त जल काम में लेते हैं, ऐसे साधु भी राजादि का संसर्ग करने से असमाधि को पाते हैं। अर्थात् असंग साधु किसी गृहस्थ का विशेष परिचय न करे, राजा का तो खास करके। क्योंकि साधु को राजा के दाक्षिण्य से धर्मक्रिया का समय भी कभी खोना पड़े।

ज्ञान, दर्शन और चारित्रयुक्त पुरुषों को भी उत्तम कारण –उत्तम परिस्थिति में रहने की भी वीतराग प्रभुने आज्ञा दी है। उन्होंने कहा है कि–स्त्री, पशु और नपुंसक रहित स्थान में रहो। मगर आजकाल के शुष्क ज्ञानी स्त्री के पास रह कर ब्रह्मचर्य पालन करने की सूचना देते हैं। यह कैसा मिथ्यात्व है ? श्री स्थूलिभद्र, सुदर्शनसेठ और विजयशेठ के समान स्त्रीके पास रह कर ब्रह्मचर्य पालनेवाले आज निकल सकते हैं क्या ? दशवैकालिक सूत्र के आठवें अध्ययन में ९२९–२८ वें पृष्ठ पर क्या लिखा है ?

जहा कुक्कुडपोअस्स निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स इत्थीविग्गहओ भयं ॥ ५४ ॥

चित्तभित्तिं न निज्झाए नारिं वा सुअलंकियं ।
भक्खरं पिव दट्ठूण दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥ ९९ ॥
हत्थपायपलिच्छिन्नं कन्ननासविगप्पियं ।
अविवाससयं नारिं बंभयारी विवज्जए ॥ ९६ ॥

भावार्थ—जैसे मुर्गे के बच्चे को बिल्ली का सदा भय रहता है; इसी तरह ब्रह्मचारी पुरुषों को स्त्रीके शरीर का भय रहता है। इसलिए चित्राम की स्त्रियों को भी नहीं देखना चाहिए। यदि किसी कारण से, अचानक स्त्री पर दृष्टि पड़ जाय तो, दृष्टि को तत्काल ही वापिस ऐसे ही खींच लेनी चाहिए कि, जिस तरह सूर्य पर से दृष्टि खींच लेते हैं। जिस के हाथ, पैर, कान और नाक कटे हुए हों; और जिसकी सौ बरस की अवस्था हो गई हो; उस स्त्रीके साथ भी ब्रह्मचारी को परिचय नहीं करना चाहिए। हाथ, पैर, नाक, कान विहीन सौ बरस की स्त्रीके साथ परिचय करने की भी जब भगवान सूत्रकार मनाई करते हैं, तब जवान स्त्री की तो बात ही क्या है? भागवत और मनुस्मृति भी इस बात को स्वीकार करते हैं। भागवत के ग्यारह वें स्कंध के चौदहवें अध्ययन में और मनुस्मृति में कहा है कि:—

स्त्रीणां स्त्रीसंगिनां संगं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् ।
क्षेमे विविक्तआसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः ॥
मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

भावार्थ—स्त्रियों के और स्त्रियों का संसर्ग करनेवाले पुरुषों के संग को दूर ही से छोड़ कर कल्याण में आत्म सत्तावाला बन, एकान्त में बैठ, मेरा ध्यान कर। माता, भगिनी और पुत्री के साथ भी एक आसन पर न बैठ; क्योंकि इन्द्रियों का समूह बलवान होने से, वह विद्वानों को भी विषयवासना की ओर खींचता है।

भागवत और मनुस्मृति के उक्त श्लोक सर्वथा ठीक कहते हैं कि जहाँ स्त्री रहती हो वहाँ ब्रह्मचारी वास न करे। मगर जैनधर्म तो इनसे भी आगे बढ़ता है। वह तो पशु और नपुंसक के सहवास की भी मनाई करता है। क्योंकि, पशुओं को यह ज्ञान नहीं रहता है कि, ये महात्मा बैठे हैं, इसलिए इनके सामने विषय-सेवन न करूँ। वे तो अनादिकाल से उनके सिर पर लगी हुई मैथुन संज्ञा के आधीन होकर चेष्टाएँ करेंगेही। मगर अपूर्ण तत्वज्ञानीयों को उन चेष्टाओं को नहीं देखना चाहिए। पूर्ण तत्वज्ञानी-सर्वज्ञ तो सारे जगत को देखते हैं। मगर रागद्वेष के नहीं होने से उनको किसी प्रकार का दोष नहीं लगता है। अन्य महापुरुषों को संसारी जीवों की अपेक्षा रागद्वेष कम होने से, वासनाओं का कम डर रहता है, तो भी पूर्णतया रागद्वेष के नष्ट न होनेसे विप्रतिपत्ति का भय रहता है। इसीलिए श्रीवीत-राग प्रभुने तत्वदृष्टि से देखकर, स्त्री, पशु और नपुंसकहीन स्थान में रहने की आज्ञा दी है। यह बात जरा विपरीत मालुम

देगी कि, एक तरफ से तो व्याघ्रादि से नहीं डरने का उपदेश दिया जाता है और दूसरी तरफसे स्त्रियों से और नपुंसकादि से इतना भयभीत रहना बताया जाता है। सोचने से मालूम होगा कि यह बात बिलकुल ठीक है। क्योंकि, व्याघ्रादि तो इसी द्रव्य शरीर को नष्ट करनेवाले हैं; परन्तु स्त्रियाँ आदि तो भावप्राणों को नाश कर देनेवाले हैं। इसी हेतु से ऐसा उपदेश दिया गया है। साधुओं को गरम जल पीने की आज्ञा दी गई है। वह जैसे तैसे गरम किया हुआ नहीं होना चाहिए। वह ' त्रिदंडो-त्कालिक—तीनवार उबाल आया हुआ होना चाहिए। नाम मात्र को गरम किया हुआ, या रात को चूल्हे पर रक्खा हुआ जल सवेरे नहीं पीना चाहिए। विज्ञानवेत्ता लोग भी अमुक डिग्री तक आग के परमाणु पहुँचने पर जल को निर्जीव मानते हैं। सूत्रकार का यथार्थ तात्पर्य समझ कर टीका करनेवाले धुरंधर विद्वान आचार्योंने, टीकाद्वारा उसे समझाया है। इसीलिए टीका-कारों को भी भगवान की उपमा दी गई है। मगर अफसोस है कि आजकल अगुरुकुल सेवी सूत्रों का अपनी इच्छानुरूप अर्थ कर, पर को दूषित करने का प्रयत्न करते हैं। आत्मार्थी पुरुषों को ऐसे लोगों के चक्कर में न आकर सत्य की शोध करनी चाहिए। सोचो कि, सूत्रों की टीकाएँ लिखनेवाले कौन थे? और वे कैसे समय में हुए थे? वाद के लिए कोई कह बैठे कि—टीकाएँ लिखनेवाले तो शिथिलाचारी थे। यद्यपि यह

कथन उपेक्षा योग्य—ध्यान नहीं देने योग्य है, तथापि 'तुष्यति दुर्जनः' इस न्याय को सामने रखकर, ऐसा कहनेवाले से हम पूछते हैं कि यदि टीकाकार शिथिलाचारी थे तो उन्होंने तीन बार उबाल आया हुआ जल पीने के लिए क्यों कहा ? क्योंकि शिथिलाचारी तो इन्द्रियों की लालसाओं को तृप्त करनेवाले होते हैं और तीन बार उबाले हुए पानी में से तो उसका स्वाद बिलकुल चला जाता है। फिर उनकी लालसा उससे कैसे तृप्त हो सकती है।

वर्तमान में शिथिलाचारी साधुओं को देखो। वे ठंडा पानी ही पीते हैं। गरम पानी नहीं पीते। उल्टे वे अपनी चतुराई कर गरम पानी को दूषित बताने का प्रयत्न करते हैं। अस्तु। हम इतना ही कहना चाहते हैं कि—भाइयो ! शीलांगाचार्य के समान महान पुरुषों के ऊपर दोष न लगाओ। अपने कर्मों के दोषों को समझो। पूर्व पापोदय के कारण तुम अभक्ष्य को भक्ष्य और अपेय को पेय समझने लगे हो। जो ऐसा मानते हैं वे क्या चारित्रवान कहे जा सकते हैं ? आचार्य तीर्थंकरों के समान समझे जाते हैं। जो आचार्य सम्यक् प्रकार से जैनमत के प्रचारक हुए हैं, उनके वचनों को माने विना दूसरी कोई गति नहीं है। क्योंकि सूत्र तो अल्प है और ज्ञेय पदार्थ अनन्त हैं। आज तक एक भी तीर्थंकर के समय में सारी बातें सिद्धान्तों में नहीं गूँथी जा सकी हैं। संविग्न—अशठ गीतार्थ की प्रवृत्ति

और आचरण भी मार्ग प्रकाशक हैं। जैसे जिनवचन मार्गप्रवर्तक है, उसी तरह गीतार्थ की प्रवृत्ति भी सर्वथा मान्य है। यह कहना बुरा नहीं होगा कि, जिसने गीतार्थ की प्रवृत्ति का सन्मान नहीं किया उसने तीर्थंकर के वचनों का भी अनादर किया है। श्रीमद् उपाध्याय यशोविजयजी महाराज कहते हैं:—

द्वितीयानादरे हन्त ! प्रथमस्याप्यनादरः ।
जीतस्यापि प्रधानत्वं सांप्रतं श्रूयते यतः ॥

भावार्थ—दूसरे प्रमाणों का अनादर होने से पहिले जो जिनवचन हैं, उनका भी अनादर होता है। क्योंकि वर्तमान में जीत–कल्पकी प्रधानता है।

इसी प्रकार का कथन धर्मरत्न प्रकरण में भी हैं:—

" मग्गो आगमणीई अहवा संविग्गबहुजणाइणत्ति। "

(मार्ग आगमानुसार जानना। अथवा संविग्न बहुजनों से आकीर्ण जानना) उक्त कथनानुसार मूल सूत्र को प्रमाण माननेवाले बालजीव मूल सूत्र का अनादर करनेवाले हैं। वीतराग के शासन में सुविहीताचार्यों का ऐसा मत है कि–जिन बातों का सूत्रों में निषेध और विधान नहीं है; मगर चिरकाल से जिनको जनसमुदाय मानता करता आया है उनको गीतार्थ मुनि–जिन्हों ने अपनी मति से दोषों को दूर कर दिया है–

अपनी बुद्धि से दूषित नहीं करते हैं। दूषित करने से उक्त महान दोषों का डर रहता है। इसलिए वीतराग की आज्ञानुसार धर्माचरण करनेवाले, असंयम से घृणा करनेवाले मुनियों को चाहिए कि वे स्वमति–कल्पना को छोड़, राजादि के संसर्ग से दूर रह आत्मकल्याण करें। मगर यह कथन एकान्त नहीं है। गच्छनायक, कवित्व शक्तिवाले और वादलब्धि संपन्न राजा के साथ मेल जोल कर सकते हैं। सिद्धसेन दिवाकर और मल्ल-वादी आदि कई ऐसे महात्मा हो गये हैं कि जिन्होंने, राजाओं के साथ मेल जोल करके उनको सत्यमार्ग पर चलाया है और वीर शासन की प्रभावना की है। यहाँ हम सिद्धसेन दिवाकर का थोड़ासा हाल लिखना उचित समझते हैं:—

" ग्रामानुग्राम विहार करते हुए एकवार सिद्धसेन दिवाकर महाराज उज्जयनी नगरी में गये। रागद्वेष के वश में पड़े हुए कुछ ब्राह्मण उस समय जैनमंदिर की प्रतिष्ठा करने में विघ्न डालते थे। वहाँ के श्रावक लोग आचार्य महाराज के पास गये। उनसे विनती की:—" आप स्वपर समय को पूर्ण जाननेवाले हैं। आप की कवित्व शक्ति अपूर्व है। आप तत्व–विद्या के समुद्र हैं। इसलिए आप राजा को समझाइए। द्वेषीवर्ग के कथन से राजा के हृदय में जैनधर्म प्रति जो विपरीत भाव हो गये हैं उनको निकालिए और राजा को सत्य–धर्म मार्ग दिखा कर हमारा क्लेश शान्त कीजिए। "

श्रावकों के वचन युक्तियुक्त समझ चार श्लोक बना, उन्हें ले राजद्वार पर पहुँचे। नियमानुसार द्वारपालने आचार्य महाराज को अंदर जाने से रोका। आचार्य महाराजने एक श्लोक लिख कर द्वारपाल को दिया और कहाः—"यह श्लोक ले जा कर राजा विक्रमादित्य को देदे।" वह श्लोक यह थाः—

दिदृक्षुर्भिक्षुरेकोऽस्ति वारितो द्वारि तिष्ठति।
हस्तन्यस्तचतुः श्लोकः किंवाऽऽगच्छतु गच्छतु ?॥

भावार्थ—एक साधु आपसे भेट करने की इच्छा कर आप के द्वार पर खड़ा है। वह चार श्लोक भी आप को सुनाने के लिए लाया है। वह अंदर आवे या चला जाय ?

इस श्लोक को पढ़ कर गुणज्ञ राजा विद्वत्ता से प्रसन्न हुआ और उसने यह श्लोक लिख कर द्वारपाल को दियाः—

दीयतां दशलक्षाणि शासनानि चतुर्दश।
हस्तन्यस्तचतुःश्लोको यद्वाऽऽगच्छतु गच्छतु॥

भावार्थ—दश लाख सोनामहोरें और चौदह शासन उसको दो, तत्पश्चात् चार श्लोक लेकर आये हुए साधु को कहो कि—यदि उसकी इच्छा हो तो आवे और उसकी इच्छा हो तो चला जाय।

इस प्रकार का राजा विक्रमादित्य का औदार्य और वचन चातुर्य देख आचार्यपुंगव को बहुत प्रसन्नता हुई। वे द्वारपाल को

यह कह कर राजसभा में गये कि, मुझे द्रव्य या शासन की—हुकूमत की—कुछ परवाह नहीं है। सभा में जाकर आचार्य महा-राजने राजा को चार द्वारवाले सिंहासन पर बैठे देखा। राजा उस समय पूर्व दिशा की ओर मुँह करके बैठा था। राजा को देख कर आचार्य महाराज बोले:—

> अपूर्वेयं धनुर्विद्या भवता शिक्षिता कुतः।
> मार्गणौघः समभ्येति गुणो याति दिगन्तरम् ॥

भावार्थ—हे राजन्। आप ऐसी अपूर्व धनुर्विद्या कहाँ से सीखे हैं? कि जिससे मार्गणों का समूह—याचक—रूपी बाण आपके पास आते हैं और गुण—रूपी चिल्ला दिग्दिगान्तरों में चला जाता है। अर्थात् तीरों को दूर जाना चाहिए सो वे तो आपके पास आते हैं और चिल्ले को पास में रहना चाहिए वह दिशाओं में व्याप्त हो गया है। (यहाँ आचार्य महाराजने याचकों को तीर और उदारतादि गुणों को चिल्ला बता कर कवि कल्पना का चमत्कार दिखाया है।)

इस श्लेषार्थी श्लोक को सुन कर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। वह पूर्व दिशा छोड़ कर दक्षिण दिशा की तरफ़ जा बैठा। यानी पूर्व दिशा का राज्य उसने आचार्य महाराज को दे दिया। आचार्य महाराज दक्षिण दिशा की तरफ जाकर यह श्लोक बोले:—

सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या संस्तूयसे बुधैः ।
नारयो लेभिरे पृष्ठं न चक्षुः परयोषितः ॥ २ ॥

भावार्थ—हे राजा ! पंडित लोग तेरी स्तुति कर कहते हैं कि, तू सदैव सब को उन की इच्छानुकूल देता है सो मिथ्या है। क्योंकि रण में शत्रु तेरी पीठ चाहते हैं और परस्त्रियाँ तेरी दृष्टि चाहती हैं; मगर उनकी इच्छाओं को तो तू कभी पूर्ण नहीं करता है।

इस श्लोक को सुनकर, राजा दक्षिण दिशा को छोड़ कर पश्चिम दिशा की ओर जा बैठा। सूरीश्वर पश्चिम दिशा की ओर जाकर यह श्लोक बोले:—

आहते तव निःस्वाने स्फुटितं रिपुहृद्घटैः ।
गलिते तत्प्रियानेत्रे राजंश्चित्रमिदं महत् ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे राजा ! यह तो बड़े आश्चर्य की बात हुई कि, तेरी यात्रा के लिए बजे हुए बाजों को सुनकर तेरे शत्रुओं के हृदयरूपी घड़े फूट गये; जिससे शत्रुओं की स्त्रियों के नेत्रों में पानी भर गया।

इस श्लोक को सुनकर राजा पश्चिम दिशा छोड़कर पूर्व दिशा की ओर जा बैठा। सूरी महाराजने उस तरफ जाकर कहा:—

सरस्वती स्थिता वक्त्रे लक्ष्मीः करसरोरुहे ।
कीर्तिः किं कुपिता राजन् ! येन देशान्तरं गता ॥४॥

भावार्थ—आप के मुख में सरस्वती बसती है; और कर-कमल में लक्ष्मी का निवास है। यह देखकर हे राजन्! तेरी कीर्ति क्या तुझ से नाराज हो गई है, जिससे वह देशान्तरों में चली गई है?

राजा सिंहासन से उतर गया। उस को चारों श्लोकों से अवर्णनीय आनंद हुआ। उसने समस्त राज्य आचार्य महाराज को अर्पण कर, उन के चरणों में सिर नवाँ, कहा:—"मैं आपका सेवक हूँ। जो कुछ आज्ञा हो कीजिए।"

आचार्य महाराज बोले:—"हे विक्रमार्क! हमारे लिए मणि और काच, पत्थर और कंचन सब समान हैं। हमें राज्य क्या करना है? मैं तो—

पद्भ्यामध्वनि संचरेय, विरसं भुञ्जीय भैक्षं सकृ—
ज्जीर्णं सिग् निवसीय भूमिवलये रात्रौ शयीय क्षणम्।
निस्संगत्वमधिश्रयेय समतामुल्लासयेयाऽनिशं,
ज्योतिस्तत्परमं दधीय हृदये कुर्वीय किं भूभुजा॥

भावार्थ—पैदल चलता हूँ। दिन में एकवार विरस भोजन करता हूँ। जीर्ण वस्त्र पहनता हूँ। रात के समय थोड़ी देर के लिए भूमि पर सोता हूँ। असंग भावना का आश्रय लेता हूँ। रातदिन समता देवी को प्रसन्न करता हूँ और परमज्योति को हृदय में धारण करता हूँ। फिर मैं राजा बन के क्या करूँगा?

शास्त्रों में मुनियों के आचार का बहुत विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। मगर मैं तुम को संक्षेप में बताता हूँ:—

पद्भ्यां गच्छनुपानद्भ्यां संचरन्तेऽत्र ये दिवा।
चारित्रिणस्त एव स्युर्न परे यानयायिनः ॥

भावार्थ—जो महा पुरुष दिन में नंगे पैर, उपयोग रख कर, प्रयोजन होने पर गमनागमन—जाना आना—करते हैं, वे ही चारित्र पात्र होते हैं। वाहन पर चढ़ कर गमनागमन करनेवाले चारित्रवान नहीं हैं।

और भी कहा है कि:—

केशोत्तारणमल्पमल्पमशनं निर्व्यञ्जनं भोजनं
निद्रावर्जनमह्नि मज्जनविधिस्त्यागश्च भोगश्च न।
पानं संस्कृतपाथसामविरतं येषां किलेत्थं क्रिया
तेषां कर्ममयामयः स्फुटमयं स्पष्टोऽपि संक्षीयते ॥

भावार्थ—जो शास्त्रविधि के अनुसार केशलोच करते हैं; जो शाक रहित अल्प भोजन करते हैं; जो दिन में नहीं सोते हैं; जो स्नानविधि और भोग का त्याग करते हैं; और जो तीन-बार उबला हुआ पानी पीते हैं। इस प्रकार की क्रिया करने-वाले अपने विद्यमान अष्टविध कर्म रोग को नष्ट कर देते हैं।"

इस तरह से अपना आचार सुनाया तो भी राज्य ग्रहण करने का आग्रह राजाने नहीं छोड़ा, तब आचार्य महाराजने

कहा:—" हे राजन्! हमें जब उत्तम भोजन लेने की भी इच्छा नहीं है तब राज्य की इच्छा तो हो ही कैसे सकती है? कहा है कि:—

शमसुखशीलितमनसामशनमपि द्वेषमेति किमु कामाः ? ।
स्थलमपि दहति झषानां किमङ्ग ! पुनरुज्ज्वलो वह्निः ॥

भावार्थ—जिन का मन शम—सुख से युक्त होता है उनको भोजन से भी द्वेष होता है तो फिर कामवासना की तो बात ही क्या है? क्यों कि जब केवल स्थल ही मछलियों को जलानेवाला, दुःख देनेवाला होता है तब फिर उज्वल अग्नि की तो बात ही क्या है?

हे राजन् हम तुम्हारे राज्य से भी अधिक सुखी हैं। स्वतंत्र और स्वाभाविक सुख को छोड़ कर परतंत्र और वैभाविक सुख की कौन बुद्धिमान इच्छा कर सकता है? साधु की अवस्था में कैसे सुख हैं? इस की लिए श्रीभर्तृहरि कहते हैं कि:—

मही रम्या शय्या, विपुलमुपधानं भुजलता,
वितानं चाकाशं, व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः ।
स्फुरद्दीपश्चन्द्रो, विरति वनिता सङ्गमुदितः
सुखं शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ॥

भावार्थः— राजा के समान अतुल ऋद्धिवाले शान्त मुनि सुख के साथ सोते हैं। सोते समय राजा को चिन्ता होती है;

परन्तु मुनि निश्चिन्त हो कर सोते हैं। राजा के सुख के साथ तुलना करते हुए यदि कोई शंका करे कि राजा तो शय्या पर सोता है, मुनि को शय्या कहाँसे मिल सकती है ? इसके उत्तर में कवि कहता है कि, राजा की शय्या तो जब नौकर तैयार करते हैं तब ही होती है; परन्तु मुनियों के लिए पृथ्वी रूपी मनोहर शय्या हमेशा के लिए ही तैयार रहती है।

प्र०—राजा के तकिये होते हैं, मुनियों को कहाँसे मिल सकते हैं।

उ०—भुजलता ही मुनियों का तकिया है कि, जो सोते समय मुनियों के सिरके नीचे रहता है। राजा के तकिये में तो खटमल आदि जानवर पड़ जाते हैं, मगर मुनियों के इस तकिये में तो किसी की शंका भी नहीं है।

प्र०—राजा की शय्या पर तो रंगबिरंगी चाँदनी-चंदोवा होती है। मुनियों को वह कहाँ से प्राप्त हो सकती है ?

उ०—तारा, नक्षत्रादि विचित्र रंगवाला आकाश ही मुनियों के लिए चाँदनी है। राजाओं की चाँदनी मलिन हो जाती है। मगर मुनियों की यह चाँदनी कभी खराब नहीं होती।

प्र०—राजा के यहाँ पंखे चलते हैं, मगर मुनियों के पास कहाँ हैं ?

उ०—दशो दिशाओं का अनुकूल मंद पवन ही मुनियों

का पंखा है। राजाओं के पंखे तो, पंखा खींचनेवालों के अभाव से किसी समय बंद भी हो सकता है; परन्तु मुनियों का पंखा कभी बंद नहीं होता।

प्र०—मुनियों के पास दीपक कहाँसे आ सकता है ? दीपक विना सब अंधेरा।

उ०—देदीप्यमान चंद्रमा मुनियों के लिए दीपक है। यदि चंद्रमा को सदा रहनेवाला दीपक मानने में आपत्ति हो, तो तत्वार्थ बोध को उनका दीपक समझो। वह सदैव उनको प्रकाश देता रहता है। राजा का दीपक जमीन को काली करनेवाला और प्रयत्न साध्य है। मगर मुनियों का दीपक उससे उल्टे गुणवाला है।

प्र०—राजा की सेवा में कामिनी—वर्ग रहता है, वह मुनियों के पास कैसे हो सकता है ?

उ०—विरति, शान्ति, समवृत्ति, दया, दाक्षिण्यता आदि कामिनी वर्ग सदा मुनियों की सेवा में रहता है। उससे मुनि सदैव सुखी रहते हैं। राजा को तो कईवार स्त्री वर्ग से दुःख भी होता है। यदि कोई स्त्री रूस जाती है, तो खुशामद के वचनों द्वारा उसको प्रसन्न करना पड़ता है। और कहीं स्त्रियों के आपस में झगड़ा हो जाता है तो राजा के बुरे हाल होते हैं। एक कविने ठीक कहा है कि:—

बहुत वणिज बहु बेटियाँ दो नारी भरतार ।
उसको है क्या मारना, मार रहा किरतार ॥

कर्म राजा से मरे हुए को क्या मारना ? मुनियों को ऐसा दुःख कभी नहीं होता । मुनि राजा की अपेक्षा कई दरजे अधिक सुखी हैं । इसलिए हे राजन् ! हम राज्य ले कर क्या करेंगे ? "

इत्यादि कथन से आचार्य महाराजने राजा को अपना भक्त किया । नगर में द्वेषीवर्गने जिनमंदिर का बनना रोका था उसके बनने की राजा से आज्ञा दिलाई । और इस तरह उन्होंने वीर शासन की विजयपताका फहराई । ऐसे प्रभावशाली पुरुषों को राजा की संगति फलदायिनी है; परन्तु सामान्य प्रकृतिवालों को तो राजा की संगति हानिकर ही होती है । उक्त गुणधारी महापुरुष कईवार लोगों की दृष्टि में, शिथिलाचारी भी मालूम पड़े मगर समय पड़ने पर वे पुनः वैसे के वैसे ही शूरवीर दृष्टि में आने लग जाते हैं । अशक्तों को, राजा के संसर्ग करने की इस लिए मनाई की गई है कि, यदि थोड़ासा भी उनका सन्मान हो जाय तो वे अन्त में राजा के किंकर—राजा के आज्ञापालक और सर्व प्रकार से पतित हो जाते हैं । कई पंडित तो राजा की दाक्षिण्यतासे—अनुकूलतासे—निजधर्म को छोड़ कर हिंसा रूप अधर्म को भी स्वीकार करते हैं । मगर वास्त-

विक तत्त्ववेत्ता पुरुष तो शान्ति के साथ राजा को हितकर वचन कहते ही हैं। पीछे राजा चाहे माने या न माने; राजा को अच्छे लगें या न लगें। कहा है कि:—

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।

(हितकर और मनोहर वचन दुर्लभ होते हैं।) बस इसी लिए आत्मसाधक मुनियों को राजादि का संसर्ग नहीं करना चाहिए। ऐसा सूत्रकारोंने फर्माया है।

वचनशुद्धि।

अहिगरणकडस्स भिक्खुणो वयमाणस्स पसज्झ दारुणं।
अट्ठे परिहायति बहु अहिगरणं न करेज्ज पण्डिए ॥१९॥
सीओदग पडिदुगञ्छिणो अपडिणस्स लवावसप्पिणो।
सामाइय साहु तस्स जं जो गिहिमत्तसणं न भुञ्जति ॥२०॥

भावार्थ—क्लेश करनेवाले और क्लेश के कारणभूत वचनों को बोलनेवाले साधु चिरकाल से उपार्जन किये हुए मुक्ति के कारण को—चारित्र को नष्ट कर देते हैं। इसीलिए भलाई बुराई को समझनेवाले मुनि को कभी क्लेश नहीं करना चाहिए। चारित्रवान साधु वही होता है जो कभी सचित्त जल को काम में नहीं लाता है; नियाणा नहीं करता है; और कर्मबंध से

करता है। अर्थात् जो कार्य कर्मबंध के कारण होते हैं उनको वे नहीं करते हैं। वे गृहस्थ के बर्तनों में भोजन भी नहीं करते हैं।

जिन्होंने आधि, व्याधि और उपाधि का त्याग कर दिया है; और जो मात्र आत्मश्रेय के लिए ही वैराग्यवृत्ति में प्रवृत्ति करते हैं, उनके लिए क्लेश होने का कोई कारण नहीं है। इतना होने पर भी यदि वे क्लेश करें या करावें तो उनको महान मोह का उदय समझना चाहिए। इसीलिए तो शास्त्रकारोंने कहा है कि, जो क्रोध करता है, वह अपने पूर्वकोटि बरस तक पाले हुए संयम का नाश करता है। सज्जन पुरुष कभी अपने मुखकमल से कठोर वचन नहीं निकालते हैं। अगर उनके मुँहसे कठोर वचन निकलने लग जाय तो उनके मुँह को मुखकमल न समझकर मुखदावानल समझना चाहिए। कठोर वचन सामनेवाले मनुष्य के हृदयकमल को जलाकर उस को मृत्यु के मुख में डालते हैं। शस्त्रों के घाव समजाते हैं; मार्मिक वचन घाव कभी नहीं समते। जब सज्जनों की पंक्ति में रहे हुए मनुष्यों के लिए भी कठोर वचन का बोलना अनुचित है, तब साधुओं के लिए तो कठोर वचन बोलना ठीक होही कैसे सकता है? साधुओं को बहुत विचार के साथ वचन वर्गणा निकालनी चाहिए। साधुओं को ऐसे वचन बोलने चाहिए कि जो कषाय कलुषित मनुष्यों को शान्ति देने में चंदन के समान हों; जो क्रोध रूपी

अग्नि को शान्त करने में जल के समान हों, जो संमोह रूपी धूल को उड़ाने में वायु के समान हों और जो मोह महामल्ल को नाश करने में शस्त्र के समान हों। हाँ, साधु 'महानुभाव' 'देवानुप्रिय' 'हे भद्र' 'हे धर्मशील' आदि जो वचन उचारते हैं वे असत् रूप न होकर परमार्थ होने चाहिए। थोड़ी गंभीरता से विचार किया जाय तो, मालूम होजाय कि **'मुनि'** शब्द का अर्थ ही मौन की सूचना करता है। अर्थात् मुनि विना प्रयोजन न बोलें और अगर बोलें तो, हित, मित और तथ्य इन विशेषणों से विशिष्ट वचन बोले। पन्नवणा सूत्र में भाषापद के अंदर भाषा बोलनेवाले के लिए सूक्ष्मता से विचार कियागया है।

मणक नामा एक मुनि के लिए शय्यंभवसूरिने सिद्धान्तो में से सार खींचकर, दशवैकालिक सूत्र में भाषा के संबंध में जो सातवाँ अध्ययन दिया है, उस में स्पष्ट लिखा है किः—

"चोर को चोर और काने को काना भी नहीं कहना चाहिए। क्योंकि उनसे सुननेवाले को दुःख होता है इसलिए वह मृषावाद रूप हैं।"

तत्पश्चात् इसी सूत्र के आचारप्रणिधि नामा आठवें अध्ययन में लिखा है कि—"जिस वचन से सामनेवाले को अप्रसन्नता हो यानी जिस वचन से सुननेवाले को क्रोध आ जाय, साधु ऐसा अहितकर वचन न बोले।"

अपत्तिअं जेण सिआ आसु कुप्पिज्ज वा परो ।
सव्वसो तं न भासिज्ज भासं अहिअगामिणिं ॥ ४८ ॥
(दशवैकालिक अध्ययन ८ वाँ)

ऊपर इसी गाथा का अर्थ दिया गया है। नीति में भी 'वाग्भूषणं भूषणं' इत्यादि युक्तियुक्त कथन है। क्लेश करनेवाला और क्लेश कर वचन बोलनेवाला मनुष्य दूसरों के लिए अहितकर होता है। इतनाही नहीं वह आप भी चारित्ररत्न को नष्टकर दुर्गतिगामी बनता है। इसीलिए सूत्रकार कहते हैं कि— "पंडित वही होता है जो कलह न करे, न करावे और कलह में अनुमोदना भी न दे। वह केवल साधुपन में रहकर कर्म की निर्जरा करे।"

अज्ञानजन्यप्रवृत्ति।

णय संखयमाहु जीवियं तह विय बालजणो पगब्भइ।
बाले पापेहिं मिज्जति इति संखाय मुणि ण मज्जति ॥२१॥

छंदेण पाले इमा पया बहुमाया मोहेण पाउडा।
वियडेण पलिंति माहणे सीउण्ह वयसा हियासए॥ २ ॥

भावार्थ—बालजीव जानते हैं कि, टूटे हुए जीवन को साँधने का कोई उपाय नहीं है, तो भी बालजीव ढिठाई करके, पापकर्म करते हैं और डूबते हैं। यह जानकर मुनि को कभी

क्रोध नहीं करना चाहिए। लोग अपने ही अभिप्रायों से शुभा-शयवाले बनते हैं। कई जीवहिंसा में धर्म मानते हैं, कई आरंभादिसे द्रव्य उपार्जन कर कुटुंब का पालन करने में धर्म मानते हैं और कई माया, प्रपंच करके लोगों को ठगनाही धर्म समझते हैं। मगर हे मुनि! तुझे तो निर्मायी–मायाविहीन–होकर वर्ताव करना चाहिए और मन, वचन व काया से शीत उष्णादि परिसह सहने चाहिए।

चंचल द्रव्य के लिए कई पुरुष विकट अटवी में जाते हैं; कालेपानी को लाँघते है; वचन क्रम को छोड़ते हैं; असेव्य को –नहीं सेवन करने योग्य को–सेवते हैं और अकृत्य को भी कृत्य समझते हैं। इतना ही नहीं। जहाँ रहते हैं वहाँ बहुत बड़ी चिन्ता का भार लेकर रहते हैं। उदाहरणार्थ–एक आदमी रेल या जहाज में सफर कर रहा है। उस के पास कुछ द्रव्य है। तो उस की रक्षा के लिए वह बिलकुल नहीं सोवेगा। यदि कहीं अचानक नींद आगई तो वापिस जल्दी ही से जाग कर वह अपनी कमर और जेब सँभालेगा। विश्वासपात्र मनुष्यों के बीच में सोने पर भी उस को धैर्य नहीं रहेगा। वह अपनी चीजें देख लेगा कि हैं या नहीं। देखो, इस चंचल द्रव्य के लिए कितना खयाल रखना पड़ता है? तो भी मनुष्य उसे रखता है। मगर जो जीवन कोटि रुपये खर्चने पर भी एक घड़ीभर के लिए भी

नहीं मिलता उसके लिए मनुष्य कभी खयाल नहीं करता। जीवन प्रमाद, विकथा और विनोदादि में योंहीं चला जाता है। यह बात कितने खेद की है कि जो जीवनमुक्ति रूपी नगर में पहुँचने का साधन है उसके लिए मनुष्य बिलकुल बेपरवाह रहता है। और इसीलिए सूत्रकारने 'बाल' शब्द दिया है। सूत्रकार कहते हैं कि—'बाल' की अज्ञानजन्य क्रियाओं को देखकर, उनका विचार कर मुनि को बाल नहीं बनना चाहिए। लोग अधर्म को धर्म समझ कर हिंसा करते हैं और मोह के कारण कुटुंब पोषण को सुपात्र दान समझते हैं। ये भी मिथ्या है। कई लोग भद्रिक पुरुषों को ठगते हैं; परन्तु वास्तव में तो वे ही ठगे जाते हैं। इसलिए हे साधु। तू थोड़ी सी भी माया न कर। मायाचारी के हजारों कष्टानुष्ठान भी वृथा होते हैं। साधु को निर्मायी बन समभाव पूर्वक सुख और दुःख को सहन करना चाहिए। सुख आने पर जीवन की और दुःख आने पर मरण की आशा नहीं करना चाहिए। शीत, उष्णादि परिसह सहन करने चाहिए।

अब सूत्रकार उदाहरण के साथ, साधुओं को श्रीवीतराग के धर्मपर दृढ रहने का उपदेश देते हैं।

कुजए अपराजिए जहा अक्खेहिं कुसलेहिं दीवयं।
कडमेव गहाय णो कलिं नो तियं नो चेव दावरं ॥ २३ ॥

एवं लोगंमि ताइणा बुइए जे धम्मे अणुत्तरे।
तं गिण्ह हियं ति उत्तमं कडमिव सेसवहाय पंडिए ॥२४॥

भावार्थ—पासों से और कोडियों से खेलता हुआ द्यूतकार अन्य द्यूतकार से नहीं जीता जाता है। क्यों कि जिस दाव से उस की जीत होती है, उसी दाव को वह स्वीकार करता है। उदाहरणार्थ— यदि वह चौक से जीता होता है, तो दुआ तीआ के ऊपर कभी दाव नहीं लगाता है। अर्थात् जैसे जुआरी जीते हुए दाव ही को ग्रहण करता है; वैसे ही साधु भी उसी धर्म को स्वीकार करता है जो अहिंसा प्रधान है; जो वीतराग प्ररूपक है; जो क्षमादि दश प्रकार के धर्म युक्त है और जीससे अनंत जीव विजयी हुए हैं, होते हैं और होंगे। जैसे जुआरी चौकके विना दूसरे दावों को छोड़ देता है; वैसे ही साधु भी केवल अहिंसादि गुणगण विभूषित धर्म का स्वीकार करता है और गृहस्थ धर्म, पासत्थादि का धर्म और मिथ्यामार्गानुगामी के धर्म को छोड़ देता है।

उच्च, नीच सब ही जातियाँ 'धर्म' शब्द का व्यवहार करती हैं। आस्तिक और नास्तिक सब ही धर्म के लिए लड़ते हैं। इसी के खंडन मंडन के लिए लाखों, करोडों ग्रंथों की रचना हुई है। तो भी जगत के जीव अबतक सत्य धर्म की परीक्षा नहीं कर सके। और जिसने परीक्षा करली है, समझना चाहिए कि

उसके राग द्वेषका ही अभाव हो गया। जिसके राग द्वेष का अभाव हो जाता है, वह अपने भाषा–पुद्गलों को क्षय करने के लिए उपदेश देता है। वह इस बात की परवाह नहीं करता कि, सारे जीव सत्य धर्म–गामी होते हैं या नहीं। उसके उपदेश को सुनकर कई सद्भाग्यवाले भव्य होते हैं वे तो मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व दशा को प्राप्त कर लेते हैं और कई दुर्भव्य होते हैं वे उल्टे द्वेषानल में गिर, सत्य धर्म की निंदा करते हैं और प्रगाढ़ मिथ्यात्वी बनते हैं। जगत् में हमेशा से सत्यान्वेषियों की संख्या कम होती है और मिथ्याडंबरियों की ज्यादा। मिथ्याडंबरी अपनी बात को सही करने के लिए मिथ्याशास्त्रों की रचना भी करते हैं। उन मिथ्याशास्त्रों का प्रचार करने के लिए सत्य का अपलाप किया जाता है। हम यहाँ एक दृष्टान्त देंगे। **मनुस्मृति** के पाँचवें अध्याय में एक श्लोक है:—

> न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
> प्रवृत्तिरेषाभूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥

भावार्थ—मांस खाने में, शराब पीने में और मैथुन करने में कोई दोष नहीं है। प्राणियों की यह प्रवृत्ति है। निवृत्ति से महान् फल की प्राप्ति होती है।

इस श्लोक का पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध–दोनों आपस में एक

दूसरे के विरुद्ध हैं। उत्तरार्द्ध में 'निवृत्ति' को महान् फल देनेवाली बताई है। मगर इस में सोचने की बात यह है कि, यदि प्रवृत्ति में दोष न हो तो फिर निवृत्ति में महान् फल कैसे मिल सकता है ? संसार दोषग्रस्त है इसीलिए निर्वाण दोष मुक्त साबित होता है। विषय दुर्गति का कारण है इसीलिए ब्रह्मचर्य स्वर्ग का कारण होता है। इसी तरह प्रवृत्ति दोषपूर्ण मानी जायगी तब ही निवृत्ति महान् फल देनेवाली साबित होगी। यह बात ठीक उसी समय हो सकती है जब कि, श्लोक के पूर्वार्द्ध का अर्थ बालबुद्धि से न किया जाकर तत्त्वदृष्टि से किया जाय। जैसे—

'न मांसभक्षणे दोषो' इस पद में 'मांसभक्षणे' और 'दोषो' ऐसे दो शब्द हैं। इन दो शब्दों के बीच के लुप्त 'अकार' को मिलाकर इसका अर्थ करना चाहिए। अकार मिल जाने से इस पद का अर्थ होगा—"मांस खाने में अदोष नहीं है। दोष ही है।" इसी तरह मद्यपान में भी 'अदोष' नहीं है दोष ही है और इसी भाँति मैथुन में भी 'अदोष' नहीं है दोष ही है। क्योंकि प्राणियों की प्रवृत्ति अनादिकाल से अज्ञान-जन्य है। इसलिए उससे निवृत्ति करे तो महान् फल मिले। इस तरह अर्थ करने से ठीक होता है। यदि कदाग्रह करके कहाजाय कि, मनुजी का वाक्य है कि, 'प्रवृत्तिरेषाभूतानां

निवृत्तिस्तु महाफला। ' और इस वाक्य का अर्थ ऐसा ही है कि, ' प्रवृत्ति में दोष नहीं है, और निवृत्ति में महाफल है।' तो वह वाक्य तटस्थ मनुष्य के मनोमंदिर में स्थान न पा सकेगा। इस प्रकार का अर्थ कियाजाकर, मनुजी का कथन प्रामाणिक माना जाय तो फिर कोई मध्यस्थ पुरुष निम्न लिखित श्लोक कहे तो वे भी प्रामाणिक क्यों न गिने जायँ ? जैसेः—

क्रोधे लोभे तथा दम्भे चौर्ये दोषो नहि नृणाम्।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ १ ॥
पैशुन्ये परनिन्दायां माने दोषभ्रमोऽपि न।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ॥ २ ॥
असत्ये दोषसत्ता न देवाज्ञाखण्डने तथा।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ३ ॥
कृतघ्नत्वे न वै दोषो मिथ्या धर्मोपदेशके।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ४ ॥
शूद्रवृत्तौ न वै दोषो म्लेच्छवृत्तौ तथैव च।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ५ ॥
विप्रघाते च नो दोषो गोवधे नृवधे तथा।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ६ ॥
शंकरोत्थापने दोषो नहि पितृवधे तथा।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ७ ॥

श्राद्धाऽकृतौ न स्याद् दोषो विस्मृते चात्मनिकर्मणि
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ८ ॥
कियद् वच्मि महाभाग ! पापे नैवास्ति दूषणम् ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ९ ॥

इत्यादि श्लोक क्या प्रामाणिक गिने जा सकते हैं ? यदि ये श्लोक प्रामाणिक गिने जायँ तो फिर संसार से पाप बिल्कुल ही उठ जाय और केवल पुण्य ही पुण्य बाकी रह जाय। मगर हम न ऐसा देखते हैं और न अनुभव ही करते हैं। जगत् को हम विचित्र ढंगवाला देखते हैं। और जैसा कृत्य करते हैं वैसे ही फल का अनुभव करते हैं। इसीलिए जिस में हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और सस्पृहता है वह अधर्म है और इससे जो विपरीत है वह धर्म है। यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि, खंडन, मंडन और बखेडों से कभी धर्म की प्राप्ति नहीं होती है। कोई प्रश्न करेगा कि—**न मांसभक्षणे दोषो** इत्यादि वाक्यों को लेकर अबतक जितना कुछ कहा है वह खंडन नहीं है तो और क्या है ? हम उस को कहेंगे कि, हमने खंडन नहीं किया है। हमने तो श्लोक का वास्तविक अर्थ बताया है। धर्मी वर्ग हिंसा करने में खुश नहीं है तो भी यदि कोई मनुष्य ऐसे वाक्यों पर विश्वास करके धर्मच्युत होता हो तो उस को धर्म में स्थित करने के लिए हमारा यह प्रयत्न है। इतना होने पर भी अंध

श्रद्धा को आगे करके यदि कोई हिंसादि दुष्कृत्य करे तो उसके भाग्य की बात है। इसीलिए श्रीवीतराग प्रभुने साधुओं को दृष्टान्त सहित विशुद्धमार्ग को ग्रहण करने का उपदेश दिया है।



विशुद्धमार्ग सेवन।

विषय त्याग।

उत्तरमणुयाण आहिया गामधम्मा इह मे अणुस्सुयं।
जंसि विरता समुट्ठिया कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥२५॥
जे एयं चरंति आहियं नाएणं महया महेसिणा।
ते उट्ठिय ते समुट्ठिया अन्नोन्नं सारंति धम्मओ ॥२६॥

भावार्थ—सुधर्मास्वामी जंबूस्वामी से कहते हैं कि हे जंबू! पहिले ऋषभदेव भगवानने जो बात अपने पुत्रों को कही थी। वही बात श्रीमहावीरस्वामीने मुझ से कही। अब वह बात मैं तुझे कहता हूँ। वह यह है,–इन्द्रिय विषय मनुष्यों के लिए दुर्जय हैं। शब्दादि के २३ विभाग किये गये हैं। जो व्यक्ति उन विषयों से विरक्त हो उसी को जिनोक्त धर्म का पालनेवाला समझना चाहिए। जो पूर्वोक्त ग्राम धर्मों को ज्ञानपूर्वक छोड़ते हैं वही काश्यप धर्म की सेवा करते हैं। यानी उनको

श्रीऋषभदेव और श्रीमहावीरस्वामी के अनुयायी समझना चाहिए;–उन्हीं को संसार से उद्विग्न बने हुए अत्यंत वैराग्य के रंग में रँगे हुए और भली प्रकार से उठे हुए समझना चाहिए। वे परस्पर सारणा, वारणा, चोयणा, परिचोयणा इत्यादिक करें।

इन्द्रियाँ पाँच हैं। (१) स्पर्शनेन्द्रिय, (२) रसनेन्द्रिय (३) घ्राणेन्द्रिय (४) चक्षुरिन्द्रिय, और (५) श्रोत्रेन्द्रिय। इन पाँच इन्द्रियों के योग से जीव को पंचेन्द्री की संज्ञा मिलती है। न्यून इन्द्रियवाले जीव अनुक्रम से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रियादि संज्ञा को धारण करते हैं। इन्द्रियों के नाम पहिले बताये गये हैं। उन्हीं के क्रमसे सब की संज्ञा जाननी चाहिए। जैसे एकेन्द्रिय के केवल रसनेन्द्रिय होती है। द्वीन्द्रिय के रसना और घ्राणेन्द्रिय होती है। त्रीन्द्रिय के स्पर्श रसना और घ्राणेन्द्रिय होती है। चतुरेन्द्री के स्पर्श, रसना, घ्राण और चक्षुरिन्द्रिय होती है। और पंचेन्द्री के स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। कई जीवों के कान की जगह बिन्दु के समान एक गुंडीसी होती है। लोगोंमे कहावत है, कि–' मींडा उसके इंडा ' और ' कान उसके थान ' होते हैं। जीवों के अनेक भेद होते हैं। यह तो हम नहीं कह सकते कि, यह बात तीर्थकरों के सिवा अन्य के शास्त्रों में है ही नहीं, मगर यह जरूर कहा जा सकता है कि, तीर्थंकरों के सिवा अन्य के

शास्त्रों में यह बात विस्तार के साथ नहीं बताई गई है। वास्तव में देखा जाय तो जब तक जीव और अजीव का ज्ञान नहीं होता है, तब तक कोई जीवदया का हिमायती नहीं हो सकता है। क्योंकि जब तक कारणशुद्धि का ज्ञान नहीं होता तब तक कार्य की शुद्धि होना अति कठिन है। सबसे पहिले तो सूक्ष्मदृष्टि के साथ यह विचार करना चाहिए कि जगत में जीव कितने प्रकार के हैं? केवल स्थूल दृष्टि से चौरासी लाख जीव कैसे होते हैं? इसका विस्तार वेदों में नहीं है। थोड़ा बहुत पुराणों में है।

हमारी ऐसी मान्यता है कि, पुराणों के अंदर जीवों का जो थोड़ा बहुत भेद बताया गया है वह जैनशास्त्रानुसार है। उनमें जो असंभव बातें हैं वे मनःकल्पित होंगी। आजकल वेदानुयायी लोगों की श्रद्धा पुराणों से हटती जाती है। इसका कारण पुराणों के कर्ताओं का अप्रामाणिक होना जान पड़ता है। तीर्थंकर महाराज का उपदेश, निर्विकारी, परस्पर अविरुद्ध और आत्मश्रेय कर्त्ता है। उसमें बताया गया है कि, कर्म कितनी तरहके हैं? कर्म आत्मा के साथ कैसे संबंध करते हैं? और कैसी कृति करने से उन कर्मों का नाश होता है? जैनशास्त्र उन्हीं वीतराग प्रभु के उपदेशों का संकलन है। मगर अफसोस है कि, वर्तमानकाल में जीव इन्द्रिय सुख में लंपट बन, थोड़े से कठिन आचरणों को देख घबरा जाते हैं। वे सोचने लगते हैं

कि, ऐसी कठिन क्रिया करने से क्या होगा ? इसका परिणाम क्या अच्छा होगा ? भाइयो ! विषयों को छोड़े विना क्या सुंदर और अच्छा परिणाम हो सकता है ? नहीं। इसी लिए श्री वीतरागप्रभुने शब्दादि विषयों को जीतने का साधुओं को उपदेश दिया है। यानी साधु वे ही कहे जा सकते हैं जो शब्दादि विषयों को जीतते हैं इसके सिवाय परस्पर में धर्म की चर्चा करने का उपदेश दिया गया है। यह बात भी बहुत अच्छी है। जिस गच्छ में सारणा—वारणा न हो वह गच्छ साधुओं को छोड़ देना चाहिए। जिस गच्छ में सारणा-वारणादिक हो उस में यदि गुरु दंड दे तो भी साधु को उस गच्छ का त्याग नहीं करना चाहिए। यदि सारणा वारणा न हो तो वर्तमान में जो दशा हिन्दु बावाओं की हो रही है वही दशा वीतराग के शासन में प्रवृत्ति करनेवाले साधुओं की भी हो जाय। इसलिए हितशिक्षापूर्वक अवश्यमेव धर्मचर्चा होनी चाहिए।

विषय के त्याग के लिए उपदेश करते हुए सूत्रकार और भी कहते हैं कि:—

मा पेह पुरा पणामए अभिकंखे उवहिं धुणित्तए।
जे दूमण तेहिं णो णया ते जाणंति समाहिमाहियं ॥२७॥

णो काहिए होज्ज संजए पासणिए ण य संपसारए।
नच्चा धम्मं अणुत्तरं कयकिरिए ण यावि मामए ॥२८॥

भावार्थ—तत्वों को जाननेवाले कहते हैं कि—पहिले के भोगे हुए कर्मों का विचार न कर, भविष्य के लिए विषय–प्राप्ति की अभिलाषा न कर और माया को दूर कर। जो मनुष्य दुष्ट मनसहित विषयाधीन नहीं होते हैं, वे सर्वोत्तम समाधि धर्म को जानते हैं। गोचरी के लिए गये हुए साधु को गृहस्थों के घरमें बातचीत नहीं करनी चाहिए। उसको प्राश्निक भी नहीं बनना चाहिए। यानी कोई प्रश्न पूछे तो उसका उत्तर न दे कर कहना चाहिए कि, गुरु आदि भली प्रकार से इसका उत्तर देंगे। यदि कोई चीजों के भाव के लिए पूछे या पानी के लिए पूछे तो उसका भी उत्तर नहीं देना चाहिए। श्रीतराग के धर्म को सर्वोत्कृष्ट समझ, साधु को चाहिए कि, वह सम्यग् अनुष्ठान में तत्पर होवे और शरीरादि में ममत्वभाव न रक्खे।

इस सामान्य नियम को सब ही समझते हैं कि जिस पदार्थ का चिन्तवन करने से या जिसको देखने से मनोवृत्ति विपरीत हो उस पदार्थ का न विचार करना चाहिए और न उसको देखना ही चाहिए। खास करके शब्दादि विषय आत्म शत्रु हैं। वे शाश्वत आत्म–ऋद्धि के चोर हैं इसलिए उन पर थोड़ासा भी दृष्टिपात नहीं करना चाहिए। उनका स्मरण भी नहीं करना चाहिए। इस बात की भी सावधानी रखनी चाहिए कि भविष्य में उनका संबंध न हो। माया और आठ तरह के कर्मों को

दूर करना चाहिए। तात्पर्य कहनेका यह है कि, कर्म का कारण माया है, इसलिए माया को दूर करने से उसका कार्य कर्म भी स्वयमेव दूर हो जाता है। समाधि धर्म के जाननेवाले और शूरवीर संसार में वे ही लोग समझे जाते हैं कि, जो बुरे विचारों से विषय–विवश नहीं होते हैं। साधु को गृहस्थ के घरमें बातचीत करने की मनाई की गई है। इसका अभिप्राय यह है कि, साधु गृहस्थ के घरमें जा कर विकथा, या बे मतलब की गपशप न करे। यदि साधु को धर्मकथा करने का मौका पड़े तो वह उस समय करे जब दूसरे एक दो साधु उसके साथ हों, कई स्त्रियाँ हों और गृहस्थ पुरुष भी वहाँ मौजूद हो। यदि ऐसा न हो तो साधु धर्मकथा भी न करे। प्रश्न का उत्तर देने की शक्ति होने पर भी आप उत्तर न देकर, गुरु का मान रखने के लिए, उसको गुरु के पास आने के लिए कहे। यदि कहीं ऐसा अवसर आ जाय कि प्रश्न का उत्तर न देने से शासन की निंदा होती हो, या लोग अनेक प्रकार की कल्पना करते हों तो, साधु शान्ति के साथ गंभीरतापूर्वक प्रश्न का उत्तर दे। मगर वृष्टि आदि सावद्य प्रश्नों का उत्तर तो साधु सर्वथा न दे। ऐसे प्रश्नों में अनेक प्रकार के अनर्थ रहे हुए हैं। क्योंकि शुभाशुभ बतानेवाला प्रत्यक्ष आर्तध्यानी होता है।

उदाहरणार्थ—साधु कहे कि, अमुक दिन वर्षा होगी।

मगर उस दिन वर्षा न होतो साधु को अत्यंत दुःख होता है। अपने बताये हुए दिन के पहिले दिन और उस दिन आकाश की ओर दृष्टि लगी रहती है। नगर या ग्राम के बाहिर जाकर पवन की भी परीक्षा करनी पड़ती है। इसी प्रकार वस्तुओं का भाव बतानेवाला भी दुर्ध्यानी रहता है। अपना वचन सत्य करने में हजारों जीवों की हानी होगी, इस बात की ओर उस का लक्ष्य नहीं रहता है। अपने वचन की सिद्धि बताने के लिए एकाग्र चित्त से मंत्रादि का भी जप करना पड़ता है। वैसा ही ध्यान यदि आत्मा के लिए किया जाय तो अनादिकाल से पीछे लगे हुए रागद्वेष शत्रु नष्ट हो जायँ। मगर ऐसा भाग्य लावें कहाँसे ? इससे तो मन, वचन और कायका योग उसी ओर लगता है जिससे रागद्वेष की अभिवृद्धि होती है। इसीलिए जिनराजदेवने साधुओं को भविष्य का शुभाशुभ बताने की मनाई की है। यदि साधु हरेक बात जानता हो तो भी उसे कहना नहीं चाहिए। जो अपने शरीर की भी परवाह नहीं रखते हैं; जो वास्तविक साधु होते हैं वे, यशोवाद की कुछ परवाह नहीं करते हैं। उन्हें इस बात का भी आग्रह नहीं होता है कि, ये मेरे भक्त हैं और मैं उनका गुरू हूँ।

साधुओं को कपट का त्याग कर आत्महित करने के लिए सूत्रकार फरमाते हैं:—

निष्कपटभाव ।

छन्नं च पसंस णो करे न य उक्कोस पगास माहणे ।
तेसिं सुविवेगमाहिए पणया जेहिं सुजोसिय धुयं ॥२९॥
अणिहे सहिए सुसंवुडे धम्मट्ठी उवहाण वीरिए ।
विहरेज्ज समाहि इंदिए आत्तहिअं खु दुहेण लब्भइ ॥३०॥

भावार्थ—(लक्षण से लक्ष्यार्थ का बोध कराने के लिए उपदेश करते हैं) प्रथम छन्न यानी माया। क्योंकि मायावी मनुष्य अपने अभिप्राय को छिपा हुआ रखता है, इसलिए हे मुनि ! तू माया न कर। प्रशस्य यानी लोभ । जगज्जीव लोभ को मान देते हैं इसलिए इसका नाम प्रशस्य है, उसको भी हे मुनि ! तू न कर। इसीतरह उत्कर्ष मान को कहते हैं इसलिए हे मुनि ! उस को भी तू न कर । जिसके उदित होने से मुख विकारादि चेष्टाएँ होती हैं। वह प्रकाश यानी क्रोध है। उसको भी हे मुनि ! तू न कर। उक्त माया, लोभ, मान और क्रोध जो नहीं करते हैं उन्हें सुविवेकी जानना चाहिए। समझना चाहिए कि उन महापुरुषोंने संयम की सेवा की है । अस्नेह यानी ममत्वरहित या परिसहादि से अपराजित; अथवा अणह अर्थात् अनघ–निष्पाप, ज्ञानादि गुणयुक्त इसीतरह स्वहित यानी आत्म-हितकारक। भली प्रकार का संवृतेन्द्रिय और मनोविकार रहित। धर्मार्थी, उपधान, सूत्रविधि के अनुसार योगवहनादि क्रिया करने-

वाला और वशीकृतेन्द्रिय—वश में की हैं इन्द्रियाँ जिसने होकर पृथ्वीतल में विचरण करे। क्योंकि आत्महित बहुत ही दुर्लभ है। माया महादेवीने अनन्त जीवों का भोग लिया है। तो भी वैसी ही तृष्णावाली है। श्रीयशोविजयजी महाराज आठवें पापस्थान का वर्णन करते हुए कहते हैं:—

केशलोच मलधारणा, सुणो संताजी,
भूमिशय्या व्रतयाग, गुणवंताजी;
सुकर सकल छे साधुने, सुणो संताजी,
दुकर मायात्याग, गुणवंताजी।

नयन वचन आकारनुं, सुणो संताजी,
गोपन मायावंत, गुणवंताजी;
जेह करे असतीपरे, सुणो संताजी,
ते नहि हितकर तंत, गुणवंताजी।

इत्यादि कथन का विवेकी पुरुषों को विचार करना चाहिए। केशलोच को कई वैराग्य रंग में रंगे हुए अन्तःकरणवाले भी नहीं कर सकते हैं। मलधारण अति दुःसह है। भूमि पर सोना और व्रत को पालना। ये सब बातें कठिन हैं। मगर इनका करना सरल बताया है। परन्तु माया को छोड़ना तो बहुत ही कठिन बताया गया है। बात है भी ठीक। आत्मा का अनादि शत्रु मोहराजा अपने मंत्री मान को मनुष्य रूपिणी अपनी

प्रजा के पास भेजता है। यह मानमंत्री अपनी पुत्री माया के साथ लोगों की घनिष्ठता करवाकर निश्चिन्त होजाता है। कोई कितनाही त्यागी होता है, उसे भी मायादेवी एकबार तो चक्कर खिला ही देती है। इसीलिए शास्त्रकर्ता बार बार मायादेवी से दूर रहने का उपदेश देते हैं। मगर जब तक मनुष्यों को कीर्ति, पूजादि की अभिलाषा रहती है तब तक उनकी उत्कृष्ट क्रियाएँ संसार क्षय के बजाय संसार—वृद्धि करती हैं। उनकी वे सब क्रियाएँ लोकरंजन के लिए होती हैं। साधु को अपना व्यवहार शुद्ध रखना चाहिए। लोग चाहे पूजें या न पूजें। साधु को इसकी कुछ परवाह नहीं करनी चाहिए। कोई भी क्रिया लोगों के लिए न कर अपने आत्महित के लिए करनी चाहिए। इसीलिए तो साधु एक वृत्तिवाले बताये गये हैं। एकान्त में हो या जन-समुदाय में हों; ग्राम में हों या अरण्य में हों; साधुओं को सब जगह समभाव भावितात्मा रहना चाहिए। अन्यथा क्रिया कष्ट रूप है। उसके लिए यहाँ एक दृष्टान्त दिया जाता है।

"कुसुमपुर में एक शेठ के घर दो साधु गये। एक ऊपर की मंजिल में गये और दूसरे नीचे की मंजिल में रहे। ऊपर की मंजिलवाले साधु पंचमहाव्रतधारी, शुद्धाहारी, पादचारी, सचित्तपरिहारी, एकलविहारी आदि गुणगण विशिष्ट थे। मगर उनके वे सारे गुण लोकैषणा के उपयोग में आते थे। दूसरे

शिथिलाचारी होने पर भी गुणानुरागी और निर्मायी-निष्कपटी थे। भक्त लोग नीचे की मंजिलवाले साधु को वंदना कर ऊपर की मंजिल में गये। ऊपर की मंजिलवाले साधु को यह बात मालूम हुई। वह नीचेवाले साधु की निंदा करने लगा और कहने लगा:—" पासत्था को वंदना करने से पाप लगता है; प्रभु की आज्ञा का भंग होता है।" आदि; जो कुछ मुँह में आया वही नीचेवाले साधु के लिए कहा। श्रावक सुनने के बाद वापिस नीचे आये और नीचेवाले साधु को ऊपर के समाचार सुनाये। गृहस्थ नमक मिरच लगाकर एक दूसरे की बात कहने में बहुत ज्यादह चतुर होते हैं। मगर नीचे की मंजिलवाले साधु गुनानुरागी थे। इसलिए उन्होंने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया:—" हे महानुभावो, ऊपर की मंजिलवाले पूज्यवर ठीक कहते हैं। बेशक मैं अवंदनीय हूँ। वे भाग्यशाली हैं। सूत्रसिद्धान्तों के जानकार हैं; चारित्रपात्र हैं और शुद्ध आहार लेनेवाले हैं। मैं तो महावीर के शासन को लज्जित करनेवाला केवल वेषधारी हूँ।"

इस तरह की बातें सुन, इधर की बातें उधर करनेवाले श्रावक बहुत चकित हुए। इतने ही में एक केवलज्ञानी साधु वहाँ आगये। श्रावकों ने दोनों साधुओं का वृत्तान्त सुनाकर पूछा:—" हे भगवन्! दोनों में से अल्पकर्मी कौन है ?"

ज्ञानी पुरुषने उत्तर दिया:—" निन्दा करनेवाला दंभी

बहुत भव करेगा। दूसरा सरल स्वभावी परिमित भवों में कर्मों को नाश कर मोक्ष में जायगा।"

पाठको ! माया महादेवी का चरित्र हजारों पृष्ठों में लिखा जाय तो भी वह पूरा न हो। मात्र तत्वज्ञानी से ही वह पूरा हो सकता है। माया का जनक अभिमान मोह का मंत्री है। मंत्री वश में आजाय तो राजा भी वश में आजाता है। इसी तरह लोभ और क्रोध भी आत्मा के शत्रु हैं। और मोह राजा के शत्रु हैं। विवेकी पुरुषों को शत्रु की सेवा नहीं करनी चाहिए। सूत्रकारोंने आत्महित अति कठिन बताया है। भवभ्रमण करते हुए इस जीवने अनन्त जन्म मरणादि के असह्य दुःख सहे हैं। कईवार वह अपमानित हुआ है, कौड़ी के अनन्तवें भाग में बेचा गया है। और चारों गतियों में पुण्य के अभाव से भव परंपरा पाया है। कहा है कि:—

अस्मिन्नसारसंसारे निसर्गेणातिदारुणे।
अवधिर्नहि दुःखानां यादसामिव वारिधौ ॥

भावार्थ— जैसे समुद्र में जलजन्तु असंख्य हैं; इसी तरह स्वभाव से ही अति भयंकर इस असार संसार में दुःख भी सीमा रहित हैं।

संसार में यदि कोई सुखी है तो वह जिन—अणगार ही है। उसके विना दूसरा कोई सुखी नहीं है। सुखी पुरुष प्रायःधार्मिक

क्रियाओं में चित्त लगा सकता है । वर्तमानकाल की स्थिति को देखकर कोई मध्यस्थ पुरुष शंका करेगा कि,–सुखी पुरुष कभी धर्म नहीं करते हैं । जितने धर्म करनेवाले हैं वे सब दुःखी हैं । अपने दुःख को मिटाने के लिए वे धर्म करते हैं । " मगर हम जड़ पदार्थों पर प्रेम करनेवाले और जगत को सुखी दिखनेवालों को सुखी नहीं बताते हैं । हम तो उसी को वास्तविक सुखी बताते हैं जो संकल्प विहीन होता है । और वही धार्मिक सुखी पुरुष धर्म-क्रिया करने में विजयी बनता है । इसीलिए तो आचार्योंने पुण्यानुबंधी पुण्य को कथंचित् मुक्ति का कारण माना है । साक्षात् मुक्ति का कारण तो पुण्य पापका अभाव है । ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रय की आराधना करते कर्म की निर्जरा होती है । तीर्थंकरों के पुण्यानुबंधी पुण्य होता है, इस-लिए सामान्यकेवली भी उनके समवसरण में आते हैं । वे कृत-कृत्य होते हैं; तीर्थंकर के समान ज्ञानवान होते हैं; तो भी व्यव-वहारनय का मानते हैं । केवली की परिषद् के आगे छद्मस्थ भाववाले गणधर बैठते हैं । इसके दो कारण हैं: प्रथम तो वे ही प्रश्नोत्तर करनेवाले होते हैं दूसरे वे पदस्थ होते हैं । इस सारे व्यवहार का कारण पुण्यानुबंध है । कई ग्रंथकार ग्रंथ के अन्त में स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि–"इस ग्रंथ को लिखने से मुझ को जो पुण्यबंध हुआ है उससे मेरे अनादिकाल के वास्तविक शत्रु राग, द्वेषादि नष्ट होवें । " कई आचार्य लिखते हैं कि–" इस

ग्रंथ को लिखने से जो पुण्य हुआ है; उससे भव्य जीव सुखी होवें ।'' पुण्य और पाप के लिए चतुर्भंगी इस तरह बताई गई है:— **पुण्यानुबंधी पुण्य, पापानुबंधी पुण्य, पापानुबंधी पाप** और **पापानुबंधी पुण्य** । जैसे अध्यवसायों से-भावों से क्रिया होती है वैसा ही कर्मबंध होता है । इसीलिए प्रभुने बार बार साधुओं को उपदेश दिया है कि—" तुम कभी टंटा बखेड़ा न करो । सदा अप्रमत्त भावों में विचरण करो; इसी से आत्म–कल्याण होगा । आत्मकल्याण बड़ी कठिनता से होता है । " अब उद्देशे की समाप्ति करते हुए सूत्रकार कहते हैं:—

णहि णूण पुरा अणुस्सुतं अदुवा तं तह णो समुट्ठियं ।
[अदुवा अवितहणो अणुट्ठियं] (इति पाठान्तरम्)
मुणिणा सामाइ आहितंनाएणं जगसव्वदंसिणा ॥ ३१ ॥
एवं मत्ता महंतरं धम्ममिणं सहिया बहू जणा ।
गुरुणो छंदाणुवत्तगा विराया तिन्न महोघमाहिर्त्ति ॥ ३२ ॥

भावार्थ—समभाव लक्षणवाला सामायिक (चारित्र)—जिसको सर्वदर्शी और सर्वज्ञ श्री वीतरागने बताया है—पूर्वकाल में कभी प्राणियों के सुनने में नहीं आया । यदि किसीने सुना भी होगा तो उसने यथास्थित उसका अनुष्ठान नहीं किया । (पाठान्तर— यथार्थ अनुष्ठान नहीं होने से आत्म—हित होना प्राणियों के लिए दुर्लभ है ।) इसप्रकार आत्महित दुर्लभ समझकर मनुष्यत्व

आर्य देश इत्यादि को सदनुष्ठान का कारण समझकर, धर्म-धर्म में बड़ा अन्तर है। इसलिये ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप विशेष धर्म को पालन करनेवाले गुरु के आज्ञा वशवर्ती हजारों जीव संसार महासागर से पार हुए, ऐसा मैं तुझे कहता हूं, ऐसा नहीं, परन्तु श्री ऋषभादि तीर्थंकर कह गये हैं ऐसा कहता हूं। यह बचन महावीर का है। इसको लेकर सुधर्मास्वामी जंबूस्वामि को कहते हैं।

केवल उन्हीं लोगों का उपदेश तत्वपूर्ण होता है जो जगज्जीवों के हितैषी होते हैं। इस अवसर्पिणी काल में चौबीस तीर्थंकर हो गये हैं। उन सबका उपदेश एकसा हुआ है। शब्द रचना में परिवर्तन होसकता है। भाव एक हैं। शब्द रचना तो देश, कालके अनुसार होती है। भगवान श्री महावीर स्वामी संस्कृत भाषा को जानते थे। वे सब भाषाओं के ज्ञाता थे। तो भी उन्होंने बालक, स्त्रियाँ, चारित्रधर्माभिलाषी और मंदबुद्धि लोगों के हितार्थ उपदेश भाषा में दिया। कहा है कि:-

बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणां।
अनुग्रहार्थं तत्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः॥

उक्त हेतुसे सिद्धान्त प्राकृत भाषा में निबद्ध हुए। श्रीमहावीर स्वामी के उपदेश में शान्ति की वृद्धि के सिवा अन्य उपदेश नहीं है। श्री महावीर स्वामी का शासन अबतक भी

विरोध भाव रहित बराबर चलरहा है। जो मतमतान्तर और गच्छादि हुए हैं वे प्रायः पदार्थ विलोपी नहीं हैं। क्रियाकांड में भेद है, सो भले स्वगच्छानुसार किया जाय। जिसकी कृति कषायभाव रहित होगी उसको अवश्यमेव फल मिलेगा। आत्मकल्याण के लिए जो क्रिया की जाति है, वह सकाम निर्जरा बताई गई है। उसका करनेवाला चाहे सम्यक्त्वी हो चाहे मिथ्यादृष्टि। सम्यग्दृष्टि जो क्रिया करता है वह भी सकाम निर्जरा ही बताई गई है। हाँ, सकाम निर्जरा में न्यूनाधिक भेद अवश्य होंगे। जीव—चाहे वह कोई हो—यदि आग्रह और निदान रहित त्याग, वैराग्य, इन्द्रियनिग्रह और तपोविधानादि करेगा तो ये कर्ममल को नष्ट करने में अवश्यमेव जलका काम देंगे। ये फिर चाहे थोड़ी जलधार के समान कार्य करें और चाहे बड़ी जलधारा के समान। तत्ववेत्ताओं के वचन सरल, सुंदर और पक्षपात रहित होते हैं। जैनशास्त्रों में स्पष्ट लिखा है कि—"श्वेतांबर हो या दिगंबर, बुद्ध हो किंवा अन्य कपिलादि हो। चाहे कोई भी हो। जो समताभावों से आत्मचिंतवन करेगा, यानी कषाय भावों को जलाञ्जुली देगा वह अवश्यमेव मुक्तिगामी होगा।" इसी कारण से जैन सिद्धान्तों में पन्द्रह भेद से सिद्ध बताये गये हैं। अन्य लिंगी भी मोक्ष महल में पहुँच सकते हैं। क्योंकि वास्तव में तो देव, गुरु और धर्म की श्रद्धा व पदार्थ तत्त्व का यथार्थ ज्ञान ही मुक्ति रूपी वृक्ष का अवन्ध्य बीज है। वर्तमान में ४५

जैन सिद्धान्त बतानेवाले सूत्र उपलब्ध हैं। प्रायः कई सिद्धान्तों पर भिन्न २ आचार्योंने अनेक टीकाएँ बनाई हैं। मगर मूल सूत्रों के आशय की तो सबने एकसी प्ररूपणा की है। यद्यपि टीकाकारोंने अपने क्षयोपशम के अनुसार न्यूनाधिक युक्तियों का विस्तार किया है; तथापि किसीने मूल सूत्र के विरुद्ध व्याख्या नहीं की है। इससे उनकी प्रमाणिकता और भवभीरुता सहजही में सिद्ध होजाती है। जब हम जैनेतर मतानुयायियों के पारस्परिक खंडन को देखते हैं, तब हृदय में दुःख होता है। उस मतवालों के अन्तर में श्रद्धा की कमी होती है। उनके हृदय संशयी बनते हैं। कइयोंने तो घबराकर कह दिया है कि:—

> श्रुतिश्च भिन्ना स्मृतयश्च भिन्ना,
> नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
> [illegible]स्य तत्त्वं निहितं गुहायां,
> महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

भावार्थ—श्रुतियां भिन्न हैं और स्मृतियाँ भी भिन्न हैं। ऐसा कोई भी मुनि नहीं है कि, जिसका वचन प्रमाणभूत माना जाय। धर्मका तत्त्व गुफा में स्थापित है, इसलिए वही मार्ग है जिसपर महाजन–बड़े पुरुष–गये हैं।

ये वाक्य संशय–भाव की सूचना देते हैं। यह बात ठीक है कि, सर्वज्ञ दर्शन के सिवा अन्य दर्शनों में परस्पर विरोधी दोष

मालूम होते हैं। उनका उल्लेख यहाँ न करके अन्यत्र किया जायगा। हे भव्यो! सूयगडांग सूत्र के दूसरे अध्ययन का दूसरा उद्देशा यहाँ समाप्त हुआ। अब तीसरे उद्देशे का विचार किया जायगा।

सूयगडांग सूत्र के दूसरे उद्देशे में बताया गया है कि, चारित्रवान जीव निर्विघ्नता से मुक्ति नगरी में पहुँच सकते हैं। तो भी चारित्ररत्न की रक्षा करते समय परिसहों के कारण अनेक विघ्न बीच में आ जाते हैं। मगर सात्विक शिरोमणी मुनिरत्न परिसहों को जीत कर विजयी बनते हैं। दुनिया की भूलभुलैया में न गिर आत्मवीर्य से परिसह फौज को हटा, सुभट श्रेणी की परीक्षा में पास हो, कर्मशत्रु का पराजय करते हैं। वैसे ही सत्य—स्वरूप की कसौटी पर कसा कर स्वजीव की रूपरेखा को निष्कलंक रख कर, स्वसत्ता का उपभोग करते हैं। यह बात तीसरे उद्देशे में क्रमशः बताई जाती है।

अगोचर स्त्रीचरित्र

संवुडकम्मस्स भिक्खुणो जं दुक्खं पुट्ठं अबोहिए।
तं संजमओ वचिज्जइ मरणं हेच्च वयंति पंडिया ॥१॥

जं विन्नवणा अजोसिया संतिन्नेहिं समं विहाहिया।
तम्हा उठंति पासहा अदक्खुकामाइरोगवं ॥ २ ॥

भावार्थ—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और जोग ये कर्मबंध के कारण हैं इनसे निवृत्त बना हुआ और भिक्षा करनेवाला साधु अज्ञान से बाँधे हुए कर्मों का संयमद्वारा नाश कर, मरणादि को छोड़ मुक्ति में जाता है। ऐसा पंडित लोग कहते हैं।

२ जो स्त्री के बंधन में नहीं पड़ा है वह संसार से पार पाये हुए जीव के समान है। इसलिए तुम ऊर्ध्व जो मोक्ष है उसको देखो। जो काम को रोग के समान देखते हैं वे भी मुक्त जीव के समान ही हैं।

कर्मबंध के कारणों का अभाव कर्म के अभाव को सूचित करता है। क्योंकि कारण की सत्ता में कार्य की सत्ता है। कर्मबंध के कारणों से दूर रहनेवाला शीघ्र ही कर्मों से दूर हो जाता है। उदाहरणार्थ एक तालाब को लो। तालाब पूरा भरा हुआ होने पर भी उसमें पानी आना रोक दिया जाय और पहिले का पानी बराबर काम में आता रहे तो थोड़े ही समय में वह तालाब सूख जाता है। इसी तरह आत्माराम रूप सरोवर कर्मरूपी जल से भरा हुआ है। यदि कर्मबंध के कारण रोक दिये जायँ तो नवीन कर्मों का आना रुक जाता है और जप, तप, ज्ञान, ध्यान आदि से पुराने कर्म नष्ट हो जाते हैं। अज्ञान भावों से बँधे हुए कर्मबद्ध संज्ञा को पाते हैं। वे

ही कर्म बाद में स्पष्ट, निधत्त और निकाचित अवस्था को प्राप्त होते हैं। परिणामों की धारा जैसे क्लिष्ट, क्लिष्टतर और क्लिष्टतम, अथवा शुभ, शुभतर और शुभतम होती है वैसे ही वे बद्ध कर्मों को स्पष्ट, निधत्त और निकाचित बनाती जाती है। तत्ववेत्ता कर्मबंध के समय सचेत होने की सूचना देते हैं। जो मनुष्य कर्म से मुक्त होता है, उसके सिर पर जन्म, जरा और मरणादि दुःख परम्परा नहीं रहती है। वास्तविक सुख के अभिलाषी और वास्तविक दुःख द्वेषी पुरुष ही जगत में पुरुष गिने जाते हैं। पुरुषों में ७२ कलाएँ होती हैं और स्त्रियों में चौसठ। तो भी कुभार्याएँ अपने चरित्र से पुरुषों को दबाती हैं; उनकी निंदा करती हैं; उनको जगत के सामने तुच्छ बनाती हैं; किंकर के समान उन पर हुक्म चलाती हैं; आपत्ति के समय में भी मनमानी चीजें मंगा कर उनको विशेष आपत्ति में डालती हैं और घर में बैठी चैन उड़ाती हैं। इतना ही नहीं वे पतिव्रत धर्म का त्याग कर अनेक प्रकार के कुकर्म करने में भी संकोच नहीं करती हैं। ऐसी कुभार्या की संगति को छोड़ना ही सुख का साधन है। मगर विषय-लंपट पुरुष अंधे की उपमा को धारण करते हैं। अंधे आदमी के हृदय में भी ज्ञान चक्षु का प्रकाश होता है; परन्तु विषयांध पुरुष तो अंदर से और बाहिर से–दोनों तरफ से अंधा होता है। इसलिए उसके सामने आये हुए तत्त्वज्ञान को भी वह नहीं समझ सकता है।

स्त्री के गहन और अगोचर चरित्र को प्रेम–भक्ति समझ कर व्यर्थ हाथ पैर मारता है। उसके लिए अपने पूर्ण उपकारी मातापिता का तिरस्कार करने में भी आगा पीछा नहीं करता है। कष्ट में काम आनेवाले बंधुवर्ग के साथ स्त्री के कहने से विरोध कर लेता है। वह देव, गुरु और धर्म की आज्ञा से भी स्त्री की आज्ञा को अधिक मानता है। तो भी स्त्री अपना स्वभाव नहीं छोड़ती है।

प्रिय पाठक ! जैसे पानी में चलती हुई मछलियों के पैरों को जानना कठिन है; आकाश में उड़ते हुए पक्षियों की पद-पंक्ति को देखना मुश्किल है; इसी तरह स्त्रियों का चरित्र जानना भी मुश्किल है, इसके लिए यहाँ एक छोटासा उदाहरण दिया जाता है।

" एक ब्राह्मण काशी जैसे नगर में रह कर स्त्रियों के नौ लाख चरित्र सीखा और अपने देश को चला। मार्ग में एक बहुत बड़ी राजधानी आई। ब्राह्मणने सोचा के राजा के पास जाकर आशीर्वाद दूँ। ताकी मार्ग में जो खर्चा हुआ है और होगा वह मिल जाय। यह सोच कर वह राजा के पास गया। राजाने सम्मानपूर्वक दान दिया। और पूछाः—" आप कहाँ से आये हैं ? " ब्राह्मणने उत्तर दियाः—" काशीजी से। " राजाने पूछाः—" काशी में कितने बरस रहे ? क्या अभ्यास किया ?

और अब कहाँ जाते हो ? " ब्राह्मणने उत्तर दियाः—" लगभग चौदह वर्ष तक रह कर मैंने नौ लाख स्त्री-चरित्र सीखे हैं। अब देश में जाकर आजीविका के लिए उद्यम करूँगा।" राजाने पूछाः—" यदि तुम्हारी आजिविका का यहीं प्रबंध हो जाय तो यहीं रह जाओगे ? " ब्राह्मणने उत्तर दियाः—" हाँ, हम ब्राह्मण भाइयों का तो जहाँ वृत्ति लग जाय वही देश है।" राजाने मासिक वेतन देकर ब्राह्मण को नौकर रख लिया। वह सदैव उसके पास से स्त्रियों के चरित्र सुनने लगा। जैसे जैसे ध्यानपूर्वक जी लगा कर राजा स्त्री चरित्र सुनता जाता था वैसे ही वैसे उसका चित्त स्त्रियों के ऊपर से हटता जाता है। उसका परिणाम यह हुआ कि वह नित्य प्रति अपनी एक एक रानी को छोड़ने लगा। ऐसे धीरे धीरे उसने ४०० राणियों का त्याग कर दिया। तब शहर में और अन्तःपुर में ऐसी बात फैल गई कि राजा राणियों पर अविश्वास करता है। धीरे धीरे वह सारी स्त्रियों को छोड़कर, अन्त में जोगी बनेगा। पट्टरानीने भी यह बात सुनी। पट्टरानीने ब्राह्मण को दंड देना निश्चित किया। बुद्धिमान मनुष्य मूल कारण ही को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। उसने दासी को आज्ञा दीः—" जा, राजा को स्त्री-चरित्र सुनानेवाले ब्राह्मण को बुला ला।" दासी ब्राह्मण के पास गई। मगर ब्राह्मणने उस की बात नहीं सुनी। दासी वापिस राणी के पास गई और कहने लगीः—" रानी साहिबा ! ब्राह्मण

आपकी बाततक नहीं सुनता, फिर आनेकी तो चर्चा ही क्या है ? वह महान दृढ विचारी जान पड़ता है।" दासी की बात सुनकर बुद्धिमती राणीने सोचा कि ब्राह्मण प्रायः लोभी होते हैं। और यह सामान्य नियम है कि द्रव्येण सर्वे वशिनो भवन्ति (द्रव्य से सब ही वश होते हैं।) राणीने दोसौ सोनामहोरें दासी को दीं। और यह कह कर उस को रवाना की कि–ब्राह्मण के सामने जाकर सोनामहोरें रख देना जिससे वह अवश्यमेव तेरा नाम ठाम पूछेगा। दासीने जाकर ऐसा ही किया। चमकीली सोनामहोरें देखते ही ब्राह्मण भी चमका और बोलाः–" बाई तुम कौन हो ? किस हेतु से यहाँ आये हो ? " दासीने उत्तर दियाः–" महाराज ! मैं राजराजेश्वर की पट्टरानी की दासी हूँ। हमारी राणी साहिबा आपके ज्ञान से और आपकी चतुराई से बहुत प्रसन्न हुई है। आपकी पूजा के लिए सब सामग्री तैयार की गई है। एक थाल सोनामहोरों का भरके आपके लिए तैयार रक्खा है। इसलिए मैं आपको हमारे बाईसाहेब के पास ले जाने के लिए आई हूँ।" दासी की बातें सुन लोभ से ब्राह्मण के मुँह में पानी भर आया। वह पघड़ी सिर पर रख, दुपट्टा कंधे पर डाल दासी के साथ रवाना हुआ। रानी के पास पहुँचा। चमकती हुई सोनामहोरों से भरा हुआ थाल रानीने भटके आगे रक्खा। भट मन ही मन सोचने लगा,–सारी उम्र भर नौकरी करने पर भी इतना धन नहीं मिलता सो धन आज सहज ही में

मिल गया । पाठकों को ध्यान रखना चाहिए कि, पहिलेवाली २०० स्वर्णमहोरें भी भट्ट अपने ही साथ लेता आया था। रानीने महल के सब दर्वाजे बंद करा, ब्राह्मण के साथ वार्ताविनोद प्रारंभ किया। उसमें समय जाता हुआ कुछ भी मालूम नहीं हुआ। ब्राह्मण वार्ता और लोभ के आवेश में सारे विचार भूल गया। दूसरी तरफ राजा संतप्त होकर दर्बार में आया और ब्राह्मण के लिए पूछने लगा। पंडित के पास से दोचार उदाहरण, दृष्टान्त, बातें सुनकर मन प्रसन्न करने के लिए पंडितजी को ढुँढवाने लगा। मगर पंडितजी का कहीं पता नहीं लगा। अन्त में राजाने अपने खास हजूरियों को भेजकर पंडितजी की खोज करवाई तो मालूम हुआ कि, पंडितजी पट्टरानी के महल में गये हैं। यह सुनकर राजा को बड़ा क्रोध आया। वह कहने लगा:– " अरे ! पंडित मुझे तो बारबार उपदेश देता है कि, स्त्रीके साथ बोलना नहीं चाहिए; उसके नेत्रों से नेत्र नहीं मिलाना चाहिए; उसके सामने नहीं खड़ा होना चाहिए और उसकी बात भी नहीं सुनना चाहिए। और आप आज मेरी रानी के पास गया है। ऐसे परोपदेश कुशल की तो पूरी खबर लेनी चाहिए। " राजा उठ, नंगी तलवार हाथ में ले अन्तःपुर में गया। और जल्दी से राणी के महल की सीढी पर चढ़ा। रानी समझ गई कि राजा आया है। इतने ही में राजाने आकर दर्वाजा खड़खड़ाया और कहा:–" दर्वाजा खोलो ! वह विसंवादी और दुरा–

चारी ब्राह्मण कहाँ है ? " राजाके वचन सुनकर ब्राह्मण घबराया और हाथ जोड़ कर राणी से कहने लगा कि—" हे माता! मुझे मृत्यु के कष्ट से बचाओ। राजा अंदर आते ही मेरे प्राण ले लेगा। " रानीने कहा:—" मैं क्या करूँ ? पवन के जोर से दर्वाजे बंद हो गये होंगे। इतने ही राजाजी आगये। राजा को पूरी तरह से शंका हो गई होगी। इसलिए तुम्हें बचाने का कोई उपाय नहीं है। तो भी एक बात है। मेरी पास एक छोटी सी पेटी है। उस में यदि आप घुस जायँ तो मैं कुछ उपाय करूँ। " संसार में प्राणों से प्यारी और कोई चीज नहीं होती। ब्राह्मण पेटी में घुस गया। दासियोंने उसके हाथ पैर मरोड बड़ी कठिनता से पेटी को बंद कर दी। फिर पेटी का ताला लगा कुंजी रानी को देदी। रानीने कुंजीयों के झूमखे को एक ओर रखकर दासियों को दर्वाजा खोलने के लिए कहा। दर्वाजा खोला गया। राजा क्रोधांध होकर बोला:—" वह ब्राह्मण यहाँ आया था ? " रानीने उत्तर दिया:—" हाँ, " राजाने पूछा:—" वह कहाँ है ? " रानीने उत्तर दिया:—" इस पेटी में! " राजाने पूछा:- " ताली कहाँ है ?" रानीने तालियों का झूमखा राजा के सामने फैंक दिया। उसमें सौ तालियाँ थीं। झूमखा लेकर पैर पछाड़ता हुआ राजा पेटी के पास गया। बिचारे ब्राह्मण को डरके मारे अंदर ही पेशाब हो आया। रानी बोली:—" आपके समान कानों के कच्चे मनुष्य दुनिया में बहुत ही कम होंगे।

हे राजा ! जरा विचार तो करो कि यदि उस को पेटी में बंद करती तो क्या आपको बता देती ! यह देखो तुम्हारे पैरों से पेटी के नीचे का तख्ता हिलजाने से उसके अंदर की गंगाजल की और इतर की शीशियाँ फूट गईं। ये शीशियाँ तो मैंने तुम्हें स्नान कराने के लिए रक्खी थी।" सुनकर राजाने सोचा, रानी ठीक कहती है। यदि ब्राह्मण पेटी में होता तो रानी कभी नहीं बताती। दासियोंने तत्काल ही ब्राह्मण का पेशाब राजा के शरीर पर चुपड़ दिया। मूत्र जरा खारा था इसलिए राजा के शरीर में चटपटी लगी। रानीने कहाः— अत्तर बहुत ऊँची कीमत का था इसीलिए ऐसा लगता है। इस तरह समझाकर उसने राजा को दासियों के साथ स्नानागार की तरफ रवाना किया। तत्पश्चात् पेटी खोलकर रानीने ब्राह्मण को बाहिर निकाला और कहाः—" महाराज ! नौ लाख चरित्रों के अंदर तुमने यह चरित्र भी सीखा है या नहीं ? जाओ, अब जल्दीसे अपने घर चले जाओ।" बिचारा ब्राह्मण घर गया। उसी दिनसे उसने स्त्री–चरित्र वर्णन न करने की प्रतिज्ञा लेली।"

प्रिय पाठक ! सोचो कि, स्त्रीचरित्र जब स्त्रियों के चरित्रों को जाननेवालों को भी इस तरह चक्कर में डाल देता है तब जो नहीं जानता है उसकी तो क्या दशा करता होगा ! शास्त्र-कारोंने स्त्रीके फंदपाश से छुटे हुए को मुक्त के समान कहा है सो ठीक ही है। धर्म रत्न के समान पदार्थ तो किसी भाग्य-

शाली को ही मिलता है। यह बात अगली गाथा द्वारा बताई जाती है।

अग्गं वणिएहिं आहियं धारंति राइणिया इह।
एवं परमा महव्वया अक्खायाउ सराइभोयणा ॥३॥

भावार्थ—जैसे व्यापारी लोग देशान्तर से अमूल्य रत्नों को लाकर राजा, महाराजा या सेठ, साहुकारों को भेट करते हैं और फिर राजादि उन रत्नों का उपभोग करते हैं। इसी तरह आचार्य महाराज के बताये हुए परम रत्नभूत रात्रिभोजन विरमण व्रत सहित पंच महाव्रतको निकटभवी धीर पुरुष ही धारण करसकते हैं। और अल्पसत्वी मनुष्य तो तुच्छ पदार्थों में ही मुग्ध हो जाते हैं।

जे इह सायाणुगा नरा अज्झोववन्ना कामेहिं मुच्छिया।
किवणेण समं पगब्भिया न विजाणंति समाहिमाहिअं ॥४॥

भावार्थ—जो पुरुष इस असार संसार में ऋद्धि, रस और साता गारव में आसक्त और विषय रस में मग्न होकर धीरे २ ढीठ बनते हैं, वे कृपण की दशा को अनुसरण करनेवाले वीतराग भगवान की बताई हुई समाधि से अजान होते है।

तीसरी गाथा में महान सत्वधारी और चौथी गाथा में अल्प सत्वधारी प्राणियों की बात बताई गई है। महापुरुष सब ही जगह विजयी और सुखी होते हैं। वे अमूल्य रत्नादि का भोग

कर वापिस उत्तम कुल में उत्पन्न होते हैं। लक्ष्मी से दान हो सकता है और दान से पुण्य का बंध होता है। फिर 'पुण्यसे लक्ष्मी और लक्ष्मी से दान' इस तरह परम्परा से शुभ योग से मुक्ति भी मिलती है। इसी तरह चारित्र रत्न से स्वर्ग, स्वर्ग से मनुष्य भव, वहाँ फिर चारित्रधर्म, चारित्रधर्म से कर्मों की निर्जरा और कर्म निर्जरा से मुक्ति सुख की प्राप्ति होती है। महापुरुष वास्तविक सुख को पाते हैं और अल्प सत्ववाले हायधरा कर अपना जन्म गँवाते हैं। वह दशा कृपण को नहीं छोड़ती है। शायद काकतालीय न्याय से उसे रत्न की प्राप्ति हो भी जाती है तो वह थोड़े ही में उसको खो बैठता है।

यहाँ हम एक उदाहरण देंगे। "किसी मनुष्य को अनायास ही चिन्तामणि रत्न मिलगया। मगर उसको उसने नहीं पहिचाना, तो भी उसके जोरसे उस मनुष्य की सारी इच्छाएँ पूर्ण होने लगीं। एक रत्न का अधिष्ठाता देव परीक्षा के लिए कौए का रूप धारण कर वहाँ गया जहाँ वह आदमी अपने एक मित्र के साथ चौपड़ खेल रहा था। वहाँ जाकर वह खराब शब्द बोलने लगा। निर्भाग्य शिरोमणी उस रत्न प्राप्त मनुष्यने कौए को उड़ाना चाहा मगर वह नहीं उड़ा, तब उसने अपने हाथ में चिन्तामणि रत्न था उसको कौए पर फैंका। कौवा उसको लेकर चला गया। परिणाम यह हुआ कि उसके किये हुए विचार

और चिन्तामणि की महिमा से सिद्ध हुए हुए कार्य सब इन्द्र-जाल के समान हो गये। पीछेसे जब उसको मालूम हुआ कि, उसके हाथ में तो चिन्तामणि रत्न आया था। उसको उसने कौआ उड़ाने में खो दिया। तब उसको अत्यंत पश्चात्ताप हुआ।

क्रिया की जरूरत।

कई सुखशीली जीव इन्द्रिय सुख के आधीन होकर चारित्र रत्न को दूषित करते हैं। अपवाद को धर्म समझ, प्रतिक्रमण प्रतिलेखनादि क्रियाओं में शिथिल हो लोगों के सामने बड़बड़ाने लगते हैं कि,—"तुच्छ क्रियाओं में क्या धरा है? सर्वोत्तम तो ज्ञानयोग है। ज्ञान सूर्य के समान है। और क्रिया जुग्नू के जैसी है। सदा प्रतिक्रमण प्रतिलेखनादि क्रिया करनेवाले कपट करते हैं। हम को ऐसा करना नहीं आता। हम वैसे ढोंग नहीं करते। जो कुछ करना है, वह शुद्ध करना चाहिए। अशुद्ध करने से भवपरंपरा बढ़ती है। वैसी क्रियाएँ तो भव का कारण बनती हैं।" ऐसी कुयुक्तियों से भद्रिक जीवों को भ्रमित कर लोकपूजा चाहनेवाले को यदि हम सच्चा बहुल संसारी कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। जीव अपने दूषणों को समझ नहीं सकते हैं। इस कथन में भी आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है कि, दूषण को भूषण समझनेवाले जीव प्रथम गुणस्थान में रहते हैं। संसार रूपी विशाल मंडप के अंदर जीवोंने अनेक

प्रकार के वेष धारण किये है। परन्तु एक शुद्धोपदेश का रूप उन्होंने कभी नहीं बनाया है। यदि वह धारण किया जाय तो अवश्यमेव वीतराग प्ररूपित तत्व में रुचि हो और वही रुचि कार्य में परिणत होकर मुक्ति नगर में जाने के लिए टिकिट मिल जाय कि जिव बे रोक टोक चला जाय। जगत में जीव भिन्न २ रुचिवाले हैं। कोई ज्ञानरंगी है; कोई क्रिया कुशल है; कोई ज्ञानप्रेमी है; कोई अध्यात्मरसिक है; कोई ध्यानमग्न है और कोई शासनप्रेमी है। इस तरह जीव भिन्न २ गुणों के अनुरागी होते हैं। वे रहें। मगर उन्हें चाहिए कि वे एक गुण को ही सर्वथा अच्छा समझकर दूसरे गुणों की निंदा न करें। उक्त सब ही गुण मुक्ति के साधन हैं। जैसे धन उपार्जन करने का एक ही साध्य होता है; परन्तु उसके साधन अनेक होते हैं। कोई किस तरह से और कोई किस तरह से अपने साध्य की सिद्धि करता है; धन पैदा करता है। इसी तरह मुमुक्षुओं के लिए एकही साध्य है। वह साध्य है मुक्ति प्राप्त करना। ज्ञानसे, ध्यानसे, क्रियासे, तपसे—किसी भी तरहसे अपने साध्य का साधन करलेना चाहिए। और एक की उपासना करते दूसरे की निंदा नहीं करना चाहिए। इसलिए हे भव्यो! तुम वीतराग प्रभु की आज्ञा रूपिणी रस्सी को अपने हाथ में रक्खो। उससे तुम सारी वस्तुओं को बाँध सकोगे और अपने साध्य को सिद्ध कर सकोगे। **श्री आवश्यक निर्युक्ति** की अमूल्य गाथाएँ क्या कहती हैं?—

हयं नाणं कियाहीणं हआ अन्नाणओ किया ।
पासंतो पंगुलो दड्ढो धावमाणो अ अंधओ ॥
संजोगसिद्धीइ फलं वयंति न हु एकचक्केण रहो पयाइ ।
अंधो अ पंगू अ वणे समिच्चा ते संपउत्ता नयरं पविट्ठा ॥

भावार्थ—क्रिया विना ज्ञान व्यर्थ है और ज्ञानहीन क्रिया फिजूल है । जैसे कि, अंधा दौड़ने की शक्ति रखते हुए भी, और लंगड़ा देखते हुए भी दावानल में जल मरता है । क्रिया सहित अष्ट प्रवचन माता का जिसको ज्ञान हो वह भी ज्ञानी है । क्रिया ज्ञान से ही फलवती होती है । एक पहिये से कभी रथ नहीं चलता । यदि कोई चलाने की हिम्मत करता है, तो कोई अकस्मात घटना हो जाती है । उक्त अंधा और लँगड़ा भिन्न भिन्न होने ही से जल कर नष्ट हो जाते हैं । यदि वे दोनों इकट्ठे हो जायँ तो इष्ट नगर में पहुँचे । यानी वे जलने से बच जायँ ।

इसी तरह जहाँ ज्ञान और क्रिया इकट्ठी होती है वहाँ अष्ट महासिद्धि और नवनिधि होती है । वहीं मुक्ति भी सिद्ध होती है । यानी ज्ञानपूर्वक क्रिया करनेवाले को मुक्ति मिल जाती है । भाइयो ! कदापि एकान्त पक्ष में नहीं जाना चाहिए; लोकपूजा और कीर्ति के लिए वास्तविक कीर्ति का नाश नहीं करना चाहिए । जितना बन सके उतना ही धर्मध्यान करना

चाहिए; मगर व्यर्थ का ढौंग नहीं बताना चाहिए। शिथिला-चारियों की कैसी स्थिति होती है, सो बताकर सूत्रकार विषय-इच्छा को छोड़ने का उपदेश देते हैं।

विषय-इच्छा का त्याग।

वाहेण जहा व विच्छए अबले होइ गवं पचोइए।
से अंतसो अप्पथामए नाइवहति अबले विसीयति ॥५॥
एवं कामेसणं विउ अज्जसुए पयहेज्ज संथवं।
कामी कामेण कामए लद्धे वावि अलद्धकण्हइ ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे पारधी मृगादि पशुओं को दौड़ा दौड़ा कर निर्बल बना देता है; और गाड़ी हाँकनेवाला बैलों को आरसे या चाबुक से मार मार कर थका देता है। जिससे वे अन्त में भाग न सकने के कारण मारे जाते हैं, वैसे ही जो साधु इन्द्रिय विषयों में लीन होकर; थककर काम रूपी कीचड़ में फँस जाता है। समय समय पर वह सोचता है कि, आज कल या परसों मैं विषय-संगति का त्याग कर दूँगा। मगर वह थके हुए बैल के समान विषय रूपी कीचड़ में से बाहिर नहीं निकल सकता है। यहाँ तक कि, वहीं मर जाता है। इसलिए श्रीवीतराग प्रभु उपदेश देते हैं कि,—प्राप्त विषय को अप्राप्त के समान समझकर दूर ही से विषय-वांछा का त्याग करो।

विषय जीवों के लिए विष से भी अधिक दुःख देनेवाला है; यह धर्म का नाश करता है; चारित्ररत्न की प्राप्ति नहीं होने देता है; ज्ञानगुण का लोप करता है; दर्शन शुद्धि में विघ्न डालता है; कीर्तिलता को जला देता है; कुल में कलंक लगाता है; व्यवहार में लम्पटता का पद दिलाता है और अन्त में सर्व नाश के रस्ते लगाता है। विशेष क्या कहें, विषय मनुष्य के सारे पुरुषार्थों को नष्ट कर देता है। विषयी बननेवाला चाहे स्त्री हो या पुरुष—ये सबके साथ एकसा व्यवहार करता है। इसीलिए तत्ववेत्ताओंने शास्त्रों में लिखा है कि,—"हे भव्य, यदि तु संसाररूपी अरण्य को छोड़ कर मुक्ति नगर में जाना चाहता है तो मार्ग में आने-वाले विषय रूपी वृक्ष के नीचे क्षणवार के लिए भी विश्राम न करना। क्योंकि विषयरूपी विषवृक्ष की साया थोड़े ही समय में बहुत ज्यादा फैल जाती है। इतनी बढ़ जाती है, कि उसमें से मनुष्य एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता है। विषयासक्त जीव रातदिन आर्तरौद्र ध्यान में लिपा रहते हैं। उस को अष्टमी, चतुर्दशी या एकादशी किसी का भी ज्ञान नहीं रहता। तप, जप, देवपुजा, गुरुभक्ति, सामायिक और प्रतिक्रमण आदि क्रिया-कांड विषयी मनुष्य को विडंबना रूप लगते हैं। उसे गुरुशिक्षा दावानल सी जान पड़ती है और शास्त्रश्रवण उसे शूल के समान लगता है। विशेष क्या कहें? वह चिरकाल तक पाले हुए चारित्र रत्नको को भी खो देता है और लज्जा को ताक में रखकर

उच्छृंखल व्यवहार करने लगता है। इसीलिए श्रीवीतराग भगवानने साधुओं को विषय-वांछा नहीं करने का उपदेश दिया है। सूत्रकार फिर कहते हैं:—

मा पच्छ असाधुता भवे अच्चेही अणुसास अप्पगं।
अहियं च असाहु सोयती संपणइ परिदेवइ बहु ॥ ७ ॥
इइ जीवियमेव पासह तरुणो एव वाससयस्स तुट्टइ।
इत्तरवासे य बुज्झह गिद्धनरा कामेसु मुच्छिया ॥ ८ ॥

भावार्थ——मरण समय में या भवान्तर में कहीं असाधुता न होजाय इसलिए हे मुनि! कामका संग छोड़ और आत्मा को उपदेश दे कि,—हे आत्मन्! खराब काम करनेवाला परलोक में नरक और तिर्यंचादि गति में जाकर पराधीनता भोगता है और नरक में जाता है तो परमाधार्मिक देवों की और तिर्यंच होता है तो अन्यान्य तिर्यंचो या सबल मनुष्यों की मार खानी पड़ती है। रात दिन रुदन करना पड़ता है। इस संसार में और बात तो दूर रही मगर जीवन भी अनित्य है। कई तो तरुणावस्था ही में चल बसते हैं। वर्तमान समय की सौ बरस की आयु सागरोपम के आगे किसी हिसाब में नहीं है। ऐसा होने पर भी विषय-गृद्ध जीव काम में ही आसक्त होते हैं।

जो अपनी अच्छी हालत में धर्म नहीं करते हैं उन्हें मरते समय भारी पश्चात्ताप होता है। वे दुःखपूर्वक उद्गार निकालते हैं कि—"हमने धर्म नहीं किया, अब हमारी क्या दशा होगी?"

मनुष्य भवांतर में नरक तिर्यंचादि गति में जाकर पराधीनता पूर्वक हजारों कष्ट सहते हैं। मगर यहाँ धर्म के लिए कष्ट नहीं सहते। यदि वे धर्म के लिए यहाँ थोड़ासा कष्ट सह लें तो उन्हें भवान्तर में अन्य विडंबनाएँ न सहनी पड़े। सारी उम्र धर्म न कर, मोह और अज्ञान के वश हो, अनेक प्रकार के अनर्थ दंडों का सेवन कर, महा पाप के कारणों को–प्राणातिपात, मृषा-वाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और महारंभादि को–आचरण में ला मनुष्य जन्म को व्यर्थ गमा देते हैं। फिर मरते समय हायवोय करने से क्या होता है? जिसने धर्म का सेवन किया होता है उसके लिए मृत्यु विवाहोत्सव के समान सुखदायी जान पड़ती है। क्योंकि वह जानता है कि, अब उसको असार पदार्थ के बजाय सार पदार्थ मिलेगा। प्रायः देखा जाता है कि, मनुष्य जब एक पुराना और मलिन घर छोड़कर दैवयोग से भव्य महल में रहने को जाता है तब उसे बहुत प्रसन्नता होती है। इसी प्रकार यदि कोई, धर्मकृत्य किया हुआ मनुष्य होता है तो उसे भी ज्ञात होता है कि, मैं अब इससे भी अच्छी स्थिति में जाऊँगा; इसलिए मृत्यु से उसको कुछ भी कष्ट नहीं होता है। हाँ, धर्मकृत्य न कर मरण की शय्या पर सोते हुए जीव को अवश्य यह सोचकर भय लगता है कि, अब उसको नरकादि की खराब स्थिति में जाना पड़ेगा। इसी-लिए शास्त्रकार उपदेश देते हैं कि,–" हे मनुष्यो! विषय का

त्याग करो; अपने आत्मा को समझाओ कि, वह क्षणवार के सुख के लिए सागरोपम के दुःख मोल न ले। अमूल्य चारित्र-रत्न को सुखाभास के लिए मत हार जाओ।" नरक-क्षेत्र की वेदना, परमाधार्मिक देवों की कीहुई वेदना, और पारस्परिक युद्धजन्य वेदना ऐसी अनेक वेदनाएँ नारकी जीवों को भोगनी पड़ती हैं। कामाधीन साधु को परभव में ये वेदनाएँ सहनी पड़ती हैं। जिन्होंने व्रतभंग किया होता है वे तिर्यंच गति में जाते हैं। वहाँ उन्हें अति मार, कठोर प्रहार, तृषा, क्षुधा और पराधीनता आदि अनेक दुःख सहने पड़ते हैं। लोग तिर्यंचों के दुःखों को देखकर व्याकुल होते हैं; परन्तु क्रूर कर्म करते हुए उन्हें लेशमात्र भी ख्याल नहीं रहता है। प्रमाद सर्वत्र अशुभ फल का ही देनेवाला होता है। इसीलिए शास्त्र-कार प्रमाद का त्याग करने के लिए अनेक प्रकार के उपदेश देते हैं। प्रमादी मनुष्य अपना उदर भरने में भी आलस्य करता है। कई ऐसे आलसी भी देखे जाते हैं कि, वे दिनभर भूखे बैठ रहते हैं और अगर कोई उन्हें पानी पिलाने-वाला नहीं मिलता है, तो वे दो दो तीन तीन घंटे तक प्यासे ही बैठ रह जाते हैं। ऐसे ही सारे कामों में उनकी दुर्दशा होती है। धर्मकामों में वे शून्यचित्त बैठे रहते हैं। वे समय समय की क्रियाएँ नहीं करते हैं। गप्पें मारने में वे पूरे शूर होते हैं; परन्तु प्रतिक्रमण, प्रतिलेखनका जब समय आता है

तब वे सुस्त हो जाते हैं । थोड़ी ही देरमें जो कार्य सिद्ध होनेवाला होता है, उसको प्रमादी बहुत देरसे सिद्ध होनेवाला कर डालता है । यह बड़े ही दुःख की बात है । प्रमादी लग्न के समय भी जब ऊँघता जाता है, तब अन्य समय में जाय उसमें तो आश्चर्य ही किस बातका है ? जो समय आत्म साधन का और कर्म की निर्जरा का हो, वही यदी कर्मबंधन का हो जाय तो समझना चाहिए कि उस मनुष्य की भवस्थिति बहुत बाकी है । बुद्धिविहीन आलसी जीव रत्नचिंतामणी का त्याग कर, काच को ग्रहण करते हैं। मनुष्य भवसमुद्र से पार करने की चारित्र रूपी नौका को छोड़ के पत्थर के समान विषय का आलंबन करता है । और अपनी कीर्ति की रक्षा करने के लिए अनेक प्रकार के कष्ट सहता है। वेही कष्ट यदि आत्म-हित के लिए सहन करे तो कुछ भी अवशेष न रहे । मगर वह तो कर्मराजा जैसे भवसमुद्र में नचाता है उसी तरह नाचता है । सूत्रकार फिर भी प्रकारान्तर से इसी विषय का उपदेश देते हैं और वे यहाँतक सूचित करते हैं कि, प्रमादी मनुष्य अन्त में नास्तिक बनजाता है । कहा है किः—

ज इह आरंभनिस्सया आत्तदंडा एगंतलूसगा ।
गंता ते पावलोगयं चिररायं आसुरियं दिसं ॥९॥
ण य संखमाहु जीवितं तह वि य बालजणो पगब्भइ ।
पच्चुप्पन्नेण कारियं को दट्ठुं परलोकमागते ॥१०॥

भावार्थ—जो मनुष्य इस भव में आरंभ समारंभादि में गुंथता है वह अपने आत्मा को दंड देता है; एकान्त हिंसक की पंक्ति में बैठता है और परभव में नरकादि गति को पाता है। जो पंचाग्नि तप, बालतपादि क्रियाएँ करता है वह असुर-गति पाता है। यानी वह नीच देव बनता है। वहाँ अधम देव बनकर दुःखमिश्रित सुख भोगता हुआ बहुत काल बिताता है। टूटा हुआ आयुष्य कभी नहीं जुड़ता। इसलिए आयुष्य की सत्ताही में धर्मसाधन करना चाहिए। मगर बालजीव इसके विरुद्ध चलते हैं। वे ढिठाई करके अकृत्य करते लज्जित नहीं होते हैं। पापकर्म करनेवाले को यदि कोई धर्मात्मा धर्म करने की प्रेरणा करता है तो वह ढिठाई से उत्तर देता है कि, भविष्यकाल के साथ हमारा क्या संबंध है? क्या कोई परलोक देख आया है? परलोक होने में प्रमाण क्या है?

नास्तिक के वचन।

यह स्पष्ट बात है कि, जहां आरंभ है, वहां दया का अभाव है और जहां दया गई वहां सब कुछ गया। जब तक मनोमंदिर में वीतराग देव की आज्ञा युक्त दयादेवी का निवास है तब ही तक सब धर्मानुष्ठान हैं। इसी लिए सूत्रकारने जो मनुष्य आरंभ में आसक्त होता है उस को हिंसक बताया है। कहावत में जो पद प्रचलित हैं उन में

भी ऐसे ही भाव देखे जाते हैं । जैसे–आरंभे नात्थि दया । (आरंभ में दया नहीं है ।) जीवहिंसक चाहे कैसी ही कष्ट–क्रियाएँ करे, मगर उस को कभी उच्च गति नहीं मिलती । इतना ही नहीं वह अन्त को नरक में जाता है । यदि बाल तप का जोर होता है तो वह देव गति में भी चला जाता है । मगर वहां भी वह किल्विष देव होता है । देवगति में भी उस का जीवन पराधीनता में और नीच कर्म करने में व्यतीत होता है । मनुष्य का आयुष्य वैसे ही थोड़ा होता है । उस में भी सात कारणों से और कमी हो जाती है; सात आघातों से टूटी हुई आयु वापिस नहीं संधती है । इस बात को जानते हुए भी कई अज्ञानी जीव बाल चेष्टाओं में पड़ संयम रत्न को मलिन करते हैं अथवा उस को कोड़ियों के मोल बेच देते हैं । यदि कोई उन को उपदेश देता है कि,–"हे महानुभाव, उत्तम सामग्री मिली है तो भी तुम प्रमाद क्यों करते हो ? " तब वे आरंभमग्न साधु ढीठ हो, नास्तिक बन मनमाना उत्तर देते हैं । वे कहते हैं:–" परलोक के होने में क्या प्रमाण है ? परलोक में जा कर तो कोई आज तक वापिस नहीं आया है । यह बात तो लोगों को व्यर्थ ही भ्रम में डालनेवाली है । किसी मनुष्यने एक ' गप ' मारी कि–परलोक है । दूसरे मनुष्योंने उस को, विस्तार के साथ

लोगों में फैलाया। संसार में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं। जैसे—एक मनुष्यने रात को—जब सब लोग सो रहे थे—उठ कर, सिंह के पैरों के चिन्ह बनाये और फिर वह सो गया। सवेरे उस मार्ग से जाने आनेवाले लोगों को वे चिन्ह दिखा कर कहने लगा:—" देखो यह क्या है ? " उनमेंसे एकने उत्तर दिया:—" जान पड़ता है कि, रात में यहां कोई सिंह आया है। " दूसरेने कहा:—"मेरे मन में रात को शंका हुई थी कि, कोई सिंह के समान जानवर है। " तीसरा बोला:—" मैंने रात को सिंह का सा शब्द सुना था। " चौथेने कहा:—"मैंने सिंह को अपनी आंखों से देखा था। " ऐसी अनेक बातें हुईं। इसी तरह लोग परलोक की बातें करते हैं। वास्तविक वस्तु तो वही होती है, जो प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होती है। बाकी तो व्यर्थ के जंजाल हैं। खूब खाओ, पियो और विषय सुख भोगो। परलोक उसी समय माना जा सकता है जब कि परलोक की आत्मा सिद्ध हो जाय। " स्वाचार से पतित मनुष्य इस तरह से नास्तिक मत का आश्रय लेता है। नीति-कारोंने कहा है कि, **नास्ति भ्रष्टे विचारः** (भ्रष्टता में विचार नहीं होता है।) आचार ही प्रथम धर्म है। हिन्दु भी कहते हैं कि, **आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।** (आचारहीन मनुष्य को वेद भी पवित्र नहीं कर सकता है।)

जिस मुनि में आचार नहीं है । वह मुनि नहीं है मगर, मुनि—पिशाच है। सूत्रकार आचार को मुख्य मानते हैं। क्यों कि आचार के विना विचार नष्ट होते हैं । पूर्वोक्त गाथा में बताया गया है कि, आचारभ्रष्ट नास्तिक के वचनों का उच्चारण करता है, सो सर्वथा ठीक है । वर्तमान में कई ऐसे ही हैं । जैन वेषधारी परिग्रही कैसे कैसे अनर्थ करते हैं; उन का हमें प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है । वे आरंभ समारंभ के सूत्रधार बनते हैं । वे मंत्र, तंत्र, यंत्र जड़ी बूटी और औषधालय के अधिपति बन नहीं करने योग्य कार्यों को भी करते हैं । इतना ही नहीं वे शुद्ध आचार, विचार के साधुओं की निंदा करने में भी बिलकुल पीछे नहीं हठते हैं । वे स्वयं क्रियाकांड को छोड़ते हैं और दूसरों को भी क्रियाकांड करनेसे रोकते हैं । चतुर्दशी के समान उत्तम दिन में भी वे रात्रिभोजनादि क्रियाएँ नहीं छोड़ सकते हैं । पान सुपारी की बात तो दूर रही मगर रात में कढ़ा हुआ दूध पीना भी वे बुरा नहीं समझते हैं । स्वाचारपतित जैन नामधारी कई श्रावक भी केवल बातों ही में कल्याण मानते हैं और दूसरों के दूषण निकालने में चतुर बनते हैं मगर वे मंदमति स्वकल्याण की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देते । वे और तो क्या अभक्ष्य का भी त्याग नहीं करते । रात्रि-भोजनादि, तो उन का एक व्यावहारिक कृत्य हो जाता है । अपने बालकों को मेवा दुग्ध आदि रात में खिलाते हैं । और

ऐसे उन को रात में खाने के आदि बनाते हैं । सम्यकत्व के मूल बारह व्रत की रूढि को छोड़ कर विकथा की रूढि में पडते हैं । प्रतिक्रमण और सामायिक की रीति को भूल कर अवकाश मिलने पर मुनिवरों की तुलना करने लग जाते हैं । वे कहते हैं,–" अमुक साधु इतना पढ़ा हुआ है; अमुक क्रिया पात्र है; अमुक ज्ञानी है; अमुक ध्यानी है और अमुक झगडालु है । " ऐसी बातों द्वारा मुनिपद की अवज्ञा कर बिचारे चारित्र मोहनीय कर्म बांधते हैं । वे समझते हैं कि, हम मध्यस्थ बुद्धिसे विचार करते हैं । मगर ऐसा कहना उन का ढौंग मात्र है । यदि वास्तविक रीतिसे उन्हें सोचना हो तो उन्हें सोचना चाहिए कि,–" हमारे दिन किस प्रकारसे जाते हैं ? हमारे पूर्वजोंने कैसे कैसे कार्य किये थे ? आजकल हमारी प्रवृत्ति कैसी हो रही है ? " आदि । मगर वे तो ऐसा न कर, पवित्र मुनियों की आलोचनाओंसे ही प्रसन्न होते हैं और भारी कर्म बांधते हैं । ऐसा होने का कारण अपने आचारों में शिथिल होना है । मनुष्य फर्सत में–निकम्मा होता है, तब ही विकथाएँ करता है । यदि वह सांसारिक कार्योंसे छुट्टी पाते ही सामायिक प्रतिक्रमण आदि करने लग जाय तो उसे ऐसी विकथाएँ करने का मौका न मिले । कहावत है कि —" निकम्मा मन शैतान का घर । " सो सर्वथा ठीक है इसीलिए शास्त्रकार आचार में लीन रहने का उपदेश देते हैं।

जो मनुष्य आचार को पालता है वही कभी अनर्थ नहीं करता है; नास्तिक नहीं बनता है; दूसरे को अनर्थ करनेवाला नहीं बनाता है और आत्मकल्याण से विमुख भी नहीं होता है।

नास्तिक के वचनों का निराकरण।

पहिले शास्त्रकार नास्तिकों को इसतरह का उपदेश देते हैं:—

अदक्खु व दक्खुवाहियं सद्दहसु अदक्खुदंसण।
हंदि हु सुनिरूद्धदंसणे मोहंणिज्जेण कडेण कम्मुणा ॥११॥
दुक्खी मोहे पुणो पुणो निव्वीदज्जसि लोगपूयणं।
एवं सहिते हियासहे आयुतुलं पाणेहिं संजए ॥१२॥

भावार्थ—कृत मोहनीय कर्मद्वारा तेरा विशुद्ध दर्शन रुका हुआ है; इसी लिए तू असर्वज्ञदर्शनानुयायी बना है और इसी लिए सूत्रकारने 'हे अंधतुल्य!' शब्द से तुझ को संबोधन किया है। अब भी तू सर्वज्ञ के आगम को प्रमाण कर, यानी सर्वज्ञ के आगम को मान।

दुखी मनुष्य मोह में पड़ता है; मोहविकल होकर संसार में परिभ्रमण करता है; बार बार मोह और मोह से दुःख होता है। इसी लिए मोह को छोड़ कर वह लोकपूजा में मुग्ध नहीं होता है। सहित, यानी ज्ञानादि गुण सहित, और संयमी हो वह सब प्राणियों को अपनी आत्मा के समान देखता है

और किसी भी जीव को पीडा नहीं पहुँचाता है। मिथ्यात्व मोहनीय की अपेक्षा मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति है। मोहाधीन मनुष्य जितने अनर्थ करें उतने ही थोड़े हैं। पूर्णता के उदय ही से सर्वज्ञ दर्शन पर श्रद्धा होती है। मगर नास्तिकता तो सहज ही में उत्पन्न हो जाती है। 'परलोक से कौन आया है?' आदि बातें शिथिलाचारी की कही हुई दसवीं गाथा में बताई गई हैं। उसकी कही हुई ऐसी बातें भी लिख दी गई हैं कि जिनसे शिथिलाचारी स्वयं भी नष्ट होता है और अन्यों को भी शंकाशील बनाता है। सूत्रकारने उन्हीं का उत्तर देने के लिए, जान पड़ता है कि ग्यारहवीं गाथा लिखी है। इस गाथा का यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो नास्तिक की बातें ऐसे ही उड़ जाती हैं, जैसे कि प्रबल पवन के वेग से तृण उड़ जाते हैं। पहिली बात सिंह के पद चिन्हों की है। पद चिन्ह की बात बना कर सत्य का अपलाप किया गया है। यह ठीक है कि, इससे बालजीवों को थोड़ी देर के लिए शंका हो जाती है। मगर पदार्थ-तत्त्व के ज्ञाता को तो इस बात को सुन कर हँसी आती है। सिंह होता है इसी लिए तो लोगोंने उसकी कल्पना कर ली। यदि नहीं होता तो लोग कल्पना कैसे कर लेते? वस्तु होती है तब ही कल्पना भी की जाती है। वस्तु के बिना कल्पना नहीं होती। क्या कोई कभी हाथी के सींग की भी कल्पना करता है? नहीं। इसी

तरह परलोक है इसी लिए उसकी कल्पना हुई है। अगर पर-लोक नहीं होने के संबंध में नास्तिकने कहा था कि,–जब परलोकी आत्मा ही नहीं है तो फिर परलोक कैसे सिद्ध हो सकता है ?" इसके लिए उससे इतना ही पूछना काफी होगा कि,–तुझे परलोक नहीं होने का ज्ञान कैसे हुआ ? क्यों कि अरूपी पदार्थ का शीघ्रता से निषेध कर सके ऐसा ज्ञान तो तुझ को बिलकुल ही नहीं है।' इसका वह उत्तर देगा कि,– मैं तो हरेक बात को प्रत्यक्ष प्रमाण से मानता हूँ। वैसे कोई बात नहीं मानता। उसका उत्तर यह है कि,–यदि वह प्रत्यक्ष प्रमाण के विना सब को मिथ्या मानता है तो फिर वह पिता, पितामह आदि का होना प्रत्यक्ष प्रमाण से कैसे प्रमाणित कर सकेगा ? उसको प्रत्यक्ष प्रमाण के विना ही पिता, पितामह आदि का अस्तित्व स्वीकारना पड़ेगा। यदि नहीं स्वीकारेगा तो व्यवहार का लोप हो जायगा। एक बात और है। जिस प्रत्यक्ष प्रमाण को वह मानता है, वह प्रमाण है या अप्र-माण ? यदि वह उसको अप्रमाण बतावेगा, तो अप्रमाण से किसी पदार्थ की सिद्धि नहीं होगी। और यदि प्रमाण बता-वेगा तो कोन से प्रमाण से वह उसको प्रमाण मानता है ? यदि प्रत्यक्ष प्रमाण से कहेगा तो उस प्रत्यक्ष प्रमाण को प्रमाण या अप्रमाण बताते अनवस्था दोष आवेगा। यदि उसे अनुमान से प्रमाणरूप मानेगा तो; अनुमान प्रमाण स्वरूप हो

जायगा। इस तरह अनुमान ही जब प्रमाणरूप हो जायगा तब जीवादि सब पदार्थ अनुमान प्रमाण से सिद्ध हो जायँगे। जीव के विना जगत् केवल जडरूप है। जगत् में पदार्थ दो प्रकार के हैं। एक जड और दूसरा चेतन। जड़ पदार्थ के संबंध से मुक्त रहने के लिए शास्त्रकार वारंवार विचारशील रहने को कहते हैं। बारहवीं गाथा में मोह से दुःख और दुःख से मोह बताया गया है। यह सर्वथा ठीक है। दुःखावस्था में मनुष्य विशेष रूप से मोही बन जाता है। मोही पुरुष पाप कर्म में प्रवृत्ति करता है। पाप कर्म से दुःख होता है। सूत्रकार कहते हैं कि,—सब तरह के मोह को छोड़ कर ज्ञान गुणसहित बनो। अपने आत्मा को जैसे सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय। इसी प्रकार संसार में जीवों को दुःख अप्रिय है और सुख प्रिय है। इसलिए ऐसी प्रवृत्ति मतकरो जिससे किसी को दुःख हो। केवल ऐसी ही प्रवृत्ति करो जिससे आत्महित हो। थोड़ासा धर्म ही जब स्वर्ग सुख का कारण है; तब साधु धर्म मोक्ष का कारण हो; इसमें आश्चर्य ही क्या है? साधु धर्म से शायद—किसी कारणवश—मुक्ति न मिले तो स्वर्ग तो अवश्यमेव मिले। कहा है कि:—

गारं पि अ आवसे नरे अणुपुब्वि पाणेहिं संजए।
समता सव्वत्थ सुव्वते देवाणं गच्छे स लोगयं ॥१३॥

सोच्चा भगवाणु सासणं सच्चे तत्थ करेज्जुवक्कमं ।
सव्वत्थ विणीय मच्छरे उच्छं भिक्खु विसुद्धमाहरे ॥१४॥

भावार्थ—घर में रहनेवाला गृहस्थ अनुक्रम से देशविरति को पालता हुआ, और सर्वत्र समभाववाला व्रती भी देवलोक में जाता है, तो साधु की तो बात ही क्या है? वीतराग देव का आगम सुन, त्रिलोक के नाथने स्वानुभव पूर्वक जो संयम धर्म प्रकाशित किया है, उसको प्राप्त करने का उद्यम करो; प्राप्त संयम की रक्षा करो; रागद्वेष त्यागपूर्वक बयालीस दोष टाल कर शुद्ध आहार लो और ऐसा प्रयत्न करो कि जिससे उस आहार के द्वारा संयम की उज्ज्वलता बढ़े।

श्री वीर परमात्मा के शासन में पक्षपात को देश निकाला दिया गया है। जो कोई चारित्र धर्म का पालन करता है वह मोक्षपुरी में जा सकता है। गृहस्थावास में रहा हुआ मनुष्य भी, यदि वह समभाव से रहता हो तो, स्वर्गादि गति पा, धीरे धीरे मोक्ष में जा सकता है। यदि वह भाव चारित्र में आरूढ हो, तो केवलज्ञान भी प्राप्त कर सकता है। केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद शासनदेव उसको साधु का वेष अर्पण करते हैं। कारण यह है कि व्यवहार नय की प्रवृत्ति बलवान होने से यदि गृहस्थी देख कर, कोई केवली को वंदना

न करे, न पूजे, न सम्मान करे तो केवलज्ञान की आशातना हो। गृहस्थी चाहे कैसा ही ज्ञानी हो जाय भी, वह गुरुपद के योग्य नहीं होता है। वह धर्मलाभ की आशिस भी नहीं दे सकता है। जब वह साधु का वेष धारण करता है, तब ही वह गुरुपद के और धर्मलाभ के योग्य होता है। श्रावक प्रतिमाधारी हो, साधु के समान आचार पालता हो और भिक्षा आहार लेता हो, तो भी वह धर्मलाभ नहीं दे सकता है। **धर्मलाभ** की शुभाशिस—जो न स्वधर्म को हानि करनेवाली हो और न दूसरे को हानि करनेवाली है—साधु ही देते हैं। मगर वर्तमान में कई जैन नामधारी बिचारे धर्मलाभ देते डरते हैं। कई शास्त्रों के परिचय से कुछ समझना सीखे हैं; परन्तु वे बिचार अंध परम्परा में पड़े हुए हैं; इसलिए साढेचार अक्षर भी नहीं बोल सकते हैं। और कई तो धर्मलाभ को—जिसको प्रत्येक आचार्यने सन्मान दिया है—निंदा करते हैं। वे बिचारे कर्म कीचड़ में डूबे हुए हैं। सूत्रों की टीकाओं में स्थान स्थान पर धर्मलाभ आया है। उसके अक्षर स्फुट हैं। **दशवैकालिक** सूत्र के पिंडेषणाध्ययन की १८ वीं गाथा की टीका में सहेतुक **धर्मलाभ** देना कहा है। **ठाणांग** सूत्र की वृत्ति के तीसरे अध्ययन के तीसरे उद्देश में साधुने धर्मलाभ दिया।। यह कथन है। **उत्तराध्ययन** सूत्र की टीका में अरति परिसह के कथानक में '**महासदेण धम्मलाभिओ**' आदि स्पष्ट पाठ

लिखा हुआ है। इसी तरह कलिकाल सर्वज्ञ श्रीहेमचंद्राचार्यकृत त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्रादि में, साधुने धर्मलाभ दिया, ऐसा कथन कई स्थानों में आता हैं। श्रीनेमनाथचरित्र के दूसरे सर्ग में चारुदत्त के संबंध में एक, निम्न लिखित, श्लोक आया है:—

तत्रारूढेन दृष्टश्च कायोत्सर्गस्थितो मुनिः ।
वन्दितश्च मया धर्मलाभं दत्वेति सोऽब्रवीत् ॥

आदि धर्मलाभ का अधिकार है। इसी तरह दिगंबर भी धर्मलाभ को प्रमाणभूत मानते हैं। यदि कोइ कदाग्रहग्रस्त कहे कि, मूल सुत्र में धर्मलाभ कहाँ है? इसका उत्तर हम इसतरह देंगे कि:—

"महानुभाव! यदि तुम मूलसुत्र के अनुसार ही सारे कार्य करते हो तो तुम्हारा यह प्रश्न ठीक हो सकता है कि, मूलसुत्र में यह है या नहीं। अन्यथा तुम विद्वान मंडली के उपहास पात्र हो। श्रीमहावीर भगवान के शासन में मूलसूत्र, निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णिकादि सब प्रमाणभूत माने गये हैं। परमात्मा का शासन हम को राग द्वेष कम करने की सूचना देता है। चाहे कोई हो, यदि वह रागद्वेष से रहित है तो वह मुक्त है। वैष्णव, शैव, बौद्ध, सांख्य, मीमांसक, या जैन कोई भी हो। जो समभाव भावीतात्मा होता है,

वह अवश्यमेव मोक्ष में जाता है, यह बात निःसंदेह है। जैन धर्म की यही तो खूबी है। सखेद कहना पड़ता है कि, अन्य दर्शनवाले शूद्र को उपदेश देने में पाप मानते हैं। इतना ही नहीं वे तो यह भी कहते हैं कि शूद्र को उपदेश देनेवाला नरक में जाता हैं। मनुस्मृति के चौथे अध्याय में लिखा है:—

> न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्।
> न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ॥८०॥

भावार्थ—शूद्र को बुद्धि नहीं देना (अदास) शूद्र को झूठा नहीं देना; (टीकाकारने यह आशय निकाला है कि, जो दास न हो उसको नहीं देना चाहिए।) होम से बचा हुआ नहीं देना, धर्मोपदेश नहीं करना, और व्रत का आदेश नहीं करना, चाहिए।

और भी कहा है:—

> यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे यश्चैवादिशति व्रतम्।
> सोऽसंव्रतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति ॥८१॥

भावार्थ—जो मनुष्य शूद्र को धर्म सुनाता है, या व्रत का उपदेश करता है, वह पुरुष असंव्रत नामा नरक में उस शूद्र के साथ ही डूबता है। अर्थात् सुननेवाले और सुनानेवाले दोनों की दुर्गति होती है।

गर्ग ऋषि की सम्मति में भी यह बात ठीक है। उन्होंने लिखा है:—

स्नेहाल्लोभाच्च मोहाच्च यो विप्रोऽज्ञानतोऽपि वा।
शूद्राणामुपदेशं तु दद्यात् स नरकं व्रजेत्॥

भावार्थ—स्नेहसे, लोभसे, मोहसे या अज्ञान से जो ब्राह्मण शूद्र को उपदेश देता है, वह ब्राह्मण नरक में जाता है।

सज्जनो! ऊपर जो तीन श्लोक दिये गये हैं; उनमें से प्रथम के दो मनुस्मृति के हैं और तीसरा गर्गऋषि का है। ये तीनों, शूद्र को बुद्धि, धर्म और व्रत रूपी रत्न की प्राप्ति के लिए बहुत बड़े अन्तराय हैं; उसको कल्याण रूपी वाटिका में जाने से रोकने के लिए दृढ़ कोट के समान है। या कहो कि, यह ब्राह्मणों के जुल्म का एक नमूना है। जिसको उपदेश देने ही से नरक मिलता है, उनका अन्न खाने से तो न जाने क्या हो जाय! मगर शूद्रों के अन्न विना जब ब्राह्मणों का पेट नहीं भरने लगा तब, शूद्रों का अन्न पवित्र माना जाने लगा और शूद्रों के कल्याण का मार्ग ब्राह्मणों का पेट भरना मात्र रहा। हाय! स्वार्थ! तूने परमार्थ नहीं देखा! नीति तुझ को याद न रही। तू लोक व्यवहार भूल गया। तुझको यह ध्यान न रहा कि, आगे नीति का जमाना आ रहा है। उक्त श्लोक की टीका करनेवालेने मनुजी के श्लोक का उलटा अर्थ निकाला है। वह

कहता है—" बीच में ब्राह्मणों को रखकर उपदेशादि कार्य करना चाहिए। " मगर ऐसा करना तो एक कपट मात्र है। जान पड़ता है कि, टीकाकार के पास कोई शूद्र बहुतसा धन लेकर धर्म सुनने के लिए आया होगा। इसलिए उससे धन लेकर अपना स्वार्थ साधने के लिए उसने ऐसा अर्थ किया होगा। यदि मनुजी को यह बात स्वीकार होती तो वे स्वयं एक श्लोक और लिख देते। गर्गाचार्यने, लिखा है कि, स्नेहसे, मोहसे, लोभसे या अज्ञानसे, किसी भी तरहसे, यदि ब्राह्मण किसी शूद्र को उपदेश देता है तो वह नरक में जाता है; इसका भी कोई खास कारण होगा। जान पड़ता है कि, जैसे ब्राह्मणों में और क्षत्रियों में एक बार वैर हो गया था, इसी तरह शूद्रोंने भी ब्राह्मणों की सेवा नहीं की होगी और इसी लिए उन्होंने नाराज़ होकर शूद्रों को धर्माधिकार से दूर कर दिया। यह बात मनुस्मृति से सिद्ध होती है कि, थोड़े दिन तक ब्राह्मणोंने भारत में खूब मनमानी और घरजानी की थी। मनुस्मृति के ग्यारहवें अध्ययन में लिखा है कि:—

> यज्ञश्चेत् प्रतिरुद्धः स्यादेकेनाङ्गेन यज्वनः।
> ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि ॥११॥
>
> यो वैश्यः स्याद्बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः।
> कुटुम्बात्तस्य तद् द्रव्यमाहरेद् यज्ञसिद्धये ॥१२॥

भावार्थ—राजा धार्मिक हो, और उस समय यदि एक अंगसे ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय का यज्ञ रुका हुआ हो, तो–जो कोई वैश्य बहुत पशुओंवाला हो; मगर यज्ञकर्ता, या सोमप न हो; उसके कुटुम्ब से वह पदार्थ (हठ से या चोरी से) यज्ञ की सिद्धि के लिए, हरण करना चाहिए। ऐसा करने का कारण यह है कि, राजा उसी धर्म का होने से यदि वैश्य जाकर फर्याद करे तो भी उसकी सुनाई न हो। ब्राह्मण इतना कहकर ही सन्तुष्ट नहीं हुए। इसी अध्याय में उन्होंने आगे लिखा है कि धाड़ा डालने में भी कोई पाप नहीं है। जैसे—

> योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति।
> स कृत्वा प्लवमात्मानं संतारयति तावुभौ ॥१९॥

भावार्थ—जो मनुष्य असाधु (कृपण और यज्ञादि कर्म हीन) हो उसके पास से धन लेकर साधु को (ब्राह्मणादि को) धन देता है; वह अपने आत्मा को तारने के साथ ही उन दोनों को भी तारता है।

ऐसी बातें असर्वज्ञों के शास्त्रों में मिलती हैं। पाठको! यदि जबर्दस्ती करने से भी धर्म होता हो और मुक्ति मिलती हो तो, भारत में कई ऐसे उन्मत्त राजा हो गये हैं कि, जिन्होंने हिन्दुओं, जैनों और बौद्धों के मंदिरों को जोर जुल्म से नष्ट किया है और उन्हें मिटाला है; उनको भी मुक्ति मिलनी चाहिए;

उनकी भी सद्गति होनी चाहिए। मगर यह बात सदा याद रखनी चाहिए कि अन्याय से कभी धर्म नहीं होता है। वीर परमात्मा के उपदेश पर, जो कोई व्यक्ति तटस्थ होकर विचार करेगा, उसको अन्य सब उपदेश तुच्छ लगेंगे। मगर कठिनता तो यह है कि, कोई तटस्थ होकर किसी बात का विचार करना नहीं चाहता। मनुष्य प्रायः अपने कुलधर्म को उचित बताने ही की ओर विशेषतया प्रवृत्त होते हैं। कुछ नवीन मतानुयायी लोगों को उनके शास्त्रोंके कुछ श्लोक अच्छे नहीं लगते हैं, इसलिए वे उन श्लोकों को क्षेपक ऊपर से लिखे हुए बताने की या उनके अर्थ बदलने की चेष्टाएँ करते हैं। मगर परस्पर में विरोधी बातें कहनेवाले उन शास्त्रों की संगति छोड़ने का वे साहस नहीं करते। सच तो यह है कि, यदि वे वास्तव में कल्याण के अभिलाषी होते तो, कभी ऐसा व्यर्थ परिश्रम नहीं करते। धर्मशास्त्रों में; सच्चे धर्मशास्त्रों में कभी हिंसा, मृषावाद, अदत्तग्रहण, मैथुनसेवन और परिग्रह का प्रतिपादन नहीं होता। उनमें पाँच महापापों का या उनके कारणों का वर्णन होना सर्वथा असंभव है। जिनमें इन पापों का या इनके कारणों का कथन है, वे शास्त्र नहीं हैं बल्के शस्त्र हैं। वीर परमात्मा के शासन में पूर्वोक्त पाँच आस्रवों को छोड़ने का कथन है। उसमें कहीं भी आस्रवों से धर्म नहीं माना गया है। सूत्रों में स्थान स्थान पर जैनसाधुओं को पाँच आस्रवों से दूर रहने का उपदेश दियागया

है। उत्सर्ग की रक्षा करने के लिए कहीं अपवाद मार्ग भी बताया गया है। मगर वह भी दूसरों को क्लेश करतो कदापि नहीं है। साधुपद स्वीकारने का चारों वर्णवालों को अधिकार है। चारों वर्ण के साधुओं का हक समान है। जैन शासन में यह बात नहीं है कि, ब्राह्मण ही ब्रह्मर्षि हो सकता है, दूसरा नहीं हो सकता या ब्राह्मण ही दंड धारण कर सकता है दूसरा नहीं कर सकता। किसी भी वर्ण का साधु हो, वह गुण की अधिकतासे ही अधिक माना जाता है। शरीर की अधिकता से या वर्ण की जाति की अधिकता से अधिक नहीं माना जाता है। जिसमें ज्ञान, दर्शन और चारित्र की अधिकता होती है, वही साधु पूज्य, माननीय और स्तवनीय होता है। ब्राह्मण लोग शंकराचार्य के सिवाय अन्य को नमस्कार नहीं करते हैं। दूसरे बिचारे साधु जब ब्राह्मणों को नमस्कार करते हैं, तब वे उनको पढ़ाते हैं। साधुसे—चाहे वह किसी वर्ण का हो; जिसने कंचन और कामिनी का त्याग कर दिया है—नमस्कार कराना सर्वथा अनुचित है। मगर ब्राह्मण उससे नमस्कार करवाते हैं। अति किसी बात की अच्छी नहीं होती। इस बात को सब मानते हैं। तो भी ब्राह्मण अति करते हैं, और इसीलिए उनके अति आचार अनाचार गिने जाते हैं।

महानुभावो! गुण का मान होता है तब ही अच्छा होता है। विना गुण के कभी कल्याण नहीं होता है। कोई जाति,

शरीर, आत्मा, वर्ण या कुल से ब्राह्मण नहीं कहला सकता। यदि कोई हठसे ब्राह्मण कहलाता है तो उसका कभी कल्याण नहीं होता है। कल्याण या आत्मोन्नति तो उसी समय होगी जब शम, दम, वैराग्य, परोपकार और संतोषवृत्ति आदि गुणगण पैदा होंगे। जिसका आत्मा उन्नत हुआ वह वास्तविक रीत्या स्वयमेव उच्च जातिवाला होगया। चाहे कोई किसी जाति का हो, वह धर्मोपदेश और व्रतपालन में समान अधिकारी है। जिस दर्शन में पक्षपात है वह दर्शन, उतने विचारों में आगे बढ़ा हुआ नहीं है। एक दूसरे के साथ बैठकर खानपान करना या न करना, इसका आधार देशाचार, कुलाचार और प्रेम पर है। वीर परमात्मा का पक्षपात रहित यह उपदेश है कि, धर्म सबके लिए है। चाहे किसी जाति का मनुष्य चारित्र पाले, वह स्वर्गापवर्ग प्राप्त कर सकता है। यदि शान्ति से विचारेंगे तो मालूम होगा कि जाति का झगड़ा थोड़े ही काल से चला है। एक जगह मैंने पढ़ा है कि, पहिले सब जगत एक ही वर्णवाला था। पीछे से वह गुण और क्रिया की विभिन्नता से चार भागों में विभक्त होगया। अब चारके चार सौ हो जायँ तो कौन क्या करे? मगर यह कहना सर्वथा अनुचित है कि, अमुक धर्मक्रिया करने का अधिकारी नहीं है। शूद्र हो या क्षत्री आत्म—वीर्य में तो दोनों ही समान हैं। क्षत्रियों का कुल उत्तम है। इसीलिए सब तीर्थंकर क्षत्रियकुल में ही उत्पन्न हुए हैं। मगर इससे शूद्रकुल का अधि-

कार कम नहीं हो जाता है। जो कोई आत्मवीर्य का उपयोग करेगा, वही कर्मों को नाश करेगा या कर्म बाँधेगा। धर्म के रास्ते आत्मवीर्य को उपयोग करने से मुक्ति और अन्य मार्ग में उपयोग करने से भोग मिलते हैं। प्रसंगोपात्त इतना कह अब फिर वीर परमात्मा का अथवा ऋषभदेव प्रभु का उपदेश जो संसार की असारता का सूचक है—बताया जाता है।

जीव, कर्म अकेलाही भोगता है।

सव्वं नच्चा अहिठिए धम्मट्ठी उवहाणवीरिए।
गुत्ते जुत्ते सदा जये आयपरे परमायतट्ठिते ॥ १५ ॥

वित्तं पसवो य नाईओ तं बाले सरणं ति मन्नई।
एते मम तेसु वी अहं नो ताणं सरणं न विज्जई ॥ १६ ॥

भावार्थ—हे धर्मार्थी मनुष्य! हेय, ज्ञेय और उपादेय पदार्थ को जानकर सत्य सर्वज्ञ कथित मार्ग को ग्रहण कर; अपने बल-वीर्य को न छिपाकर, तपस्या कर और मन, वचन व काया के अयोग्य वर्ताव को रोकने वाले ज्ञानादि गुणों को जो निज और पर दोनों की उन्नति करने वाले हैं—संपादन करने का यत्न कर। बालजीव स्वर्णादि द्रव्य, गो, महिष आदि पशु और माता-पिता और ज्ञाति को अपना शरणस्थान मानता है। वह समझता है कि—' ये मेरे हैं; मैं इनका हूँ। मगर ज्ञान के अभावसे वह

नहीं सोच सकता है कि—ये रोग के उपद्रव में फँसने से या दुर्गति में जानेसे मुझ को नहीं बचा सकेंगे ।

पन्द्रहवीं गाथा में कहा गया है कि, ज्ञानी पुरुष ज्ञानद्वारा वस्तु तत्व को जानकर, सर्वज्ञ के मार्ग को ग्रहण करे । इसका अभिप्राय यह नहीं है कि सर्वज्ञ के मार्ग को मानने लग जाय । अभिप्राय यह है कि, मानकर तदनुसार आचरण करने लग जाय। धर्मार्थी हो, चारित्र धर्म के प्रति आत्मवीर्य का उपयोग करे । अथवा कर्मक्षय करने के लिए अमोघ शस्त्ररूप तप का आदर करे । तप विचारपूर्वक करना चाहिए, ताकि उसमें किसी जीवको पीडा न हो । संसार में कई जीव ऐसे हैं जो, राज्य की, धन की या स्वर्ग की इच्छा कर सदोष तप करते हैं। कितने ही छ:काय की विराधना पूर्वक पंचाग्नि तप करते हैं । कई नर्मदा अथवा गंगा की सेवाल और मिट्टी खाकर तप करते हैं और ज्ञान के अभावसे महा पाप बाँधते हैं । सेवाल में और मिट्टी में असंख्य, अनन्त जीव होते हैं । उनको वे नाश करते हैं । यद्यपि वे रसादि इन्द्रिय विषयों का त्याग कर, कष्टक्रिया करते हैं, इससे उनके अगले भव में राज्यलक्ष्मी मिलती है । मगर उनका पुण्य पापानुबंधी पुण्य होता है, इसलिए वे राज्यलक्ष्मी पा, स्वार्थी मनुष्यों की संगति में पड़, धर्मसाधन के बजाय अधर्म का सेवन करते हैं और अन्त में बिचारे नरकादि गति में जा कर जितना सुख भोगा होता है उससे भी अधिक दुःख का

वहाँ उपभोग करते हैं। इसी लिए कहा जाता है कि, दूसरों को और अन्त में अपने को हानि पहुँचानेवाला सदोष तप न कर ऐसा तप करना चाहिए कि जिस में किसी को दुःख न हो। अपने मन, वचन और काया के योग को अशुभ मार्ग से हटा कर शुभ मार्ग में लगाना चाहिए। और निरंतर स्वपर का कल्याण के लिए प्रयत्न करना चाहिए। सारे सांसारिक सुखों का त्याग करके मुक्ति के सुखपर ध्यान ध्यान देना चाहिए। दुनिया के सारे सुख, दुःख मिश्रित और नाशमान हैं, इसलिए ज्ञानी पुरुषों को चाहिए कि वे हेय और उपादेय पदार्थ को ध्यान में रख कर, ऐसी कृति करे कि जिससे मुक्ति—मार्ग सरल हो जाय, और जीव मुक्ति मंदिर में चला जाय।

सोलहवीं गाथा के कथनानुसार अशरण को शरण माननेवाले जीव संसार में बहुत हैं। क्या स्वर्ण, पशु और मातापितादि कभी किसी को शरण हुए हैं? जब निज शरीर ही अपने शरण नहीं होता है तो फिर अन्य तो शरण हो ही कैसे सकते हैं? मगर वे बिचारे अज्ञान के वश हो रहे हैं; इसलिए वह जैसे उनको अँधेरे में फिराता है, वैसे ही वे फिरते हैं। मोहराजा नवीन नवीन युक्तियाँ करके जीवों को फँसाये रखता है। वह उन्हें अपने राज्य से बाहिर नहीं निकलने देता है। संसार को छोड़नेवाले कई जीव, बिचारे मोह के फंद में फँस, मूल मार्ग से

विचलित हो, विपथ में आ पड़ते हैं। वे साधु और गृहस्थ दोनों मार्गों से परिभ्रष्ट हो, संसार समुद्र में गौते खाते हैं। शांति के साथ इसका कारण खोजेंगे तो अज्ञान मालूम होगा।

यहाँ कोई शंका करेगा कि, कई सूत्र, सिद्धान्तों के जाननेवाले पदवीधर साधु भी, कर्म के चक्र में पड़, अनर्थ करते हैं, इसका क्या कारण है ? इस शंका का इस तरह से समाधान किया जायगा कि—उनको द्रव्यज्ञान है; मगर स्पर्शज्ञान नहीं है। जिसके हृदय में स्पर्शज्ञान का प्रकाश पड़ गया है, वह साधु कभी अनर्थ नहीं करेगा। यदि कभी उससे भूल हो भी जायगी तो तत्काल ही वह अपनी भूल को समझ उसका परित्याग कर देगा। आर्द्रकुमार, अरणकमुनि और नन्दिषेण के समान साधु भी एकबार तो कर्म के योग से पतित हो गये थे। मगर वे पतितावस्था में भी अपतित के समान ही थे। वे केवल कर्म का ऋण चुकाने ही के लिए रोग की भाँति भोग का उपभोग करते थे। वर्तमानकाल में ऐसा होना असंभवसा है। मगर ' उठे तब ही से सवेरा ' समझ अपने आप को वापिस सँभाल ले; उसी को ज्ञानी और ध्यानी समझना चाहिए. मगर जो लोगों को ठगने के लिए असती की तरह दंभ करता है, उसका दोनों लोक में अकल्याण होता है। क्योंकि पापी का पाप कभी छिपा हुआ नहीं रहता है। पाप के प्रकट हो जाने से यह भव

तो बिगड़ता ही है; मगर परभव में भी उसको अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं। जीव यदि एकान्त में बैठ कर थोड़ासा शान्ति के साथ विचार करे तो वह फिर कभी पाप न करे। मगर जो जीव ' ढकेल पंजे देढसो ' की तरह अशरण को शरण मानता है उसको शास्त्रकार मूर्ख समझते हैं। जो वस्तु अपनी सम्बन्धिनि की मानी जाती है, वह वास्तव में अपनी संबधिनी नहीं है। कहा है कि:—

> ऋद्धि सहावतरला रोगजरापंगुरं इयं सरीरं।
> दोण्हं वि गमनसीला णो किंचि होज्ज सबंधा ॥

और भी कहा है:—

> मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
> प्रतिजन्म निवर्तन्ते कस्य माता पितापि वा ? ॥

भावार्थ—चंचल स्वभाववाली ऋद्धि और रोग, बुढापा आदि से भंग होनेवाला शरीर दोनों ही, जाने के स्वभाववाले हैं। इन के साथ आत्मा का थोड़ासा भी संबंध नहीं हो सकता है।

भिन्न भिन्न जन्मो में हजारों माता पिता हुए और सैकड़ों लड़के व स्त्रियाँ हुई। (मगर जन्म के साथ ही वे सब बदल गये) किस की माता है और किस का पिता ? ये सारे संबंध

कर्मकृत हैं। ये किसी के शरण नहीं हो सकते हैं। सूत्रकार भी यही बात कहते हैं:—

अब्भागमितं मि वा दुहे अहवा उक्कमिते भवंतिए।
एगस्स गतीय आगती विदुमंता सरणं न मन्नइ ॥१७॥
सव्वे सयकम्म कप्पिया अवियत्तेण दुहेण पाणिणो।
हिंडंति भयाउला सढा जाइजरामरणेहिं भिद्दुता ॥१८॥

भावार्थ—पूर्वोपार्जित असातावेदनीय कर्म के ज़ोर से दुःख आते समय, आयुष्य कर्म–चाहे वह किसी कारण से क्यों न हो–क्षीण होते समय और मृत्यु के समय विद्वान् विचार करते हैं कि,–जीव अपने कृत कर्मों को अकेला ही भोगता है। गति और आगति भी कर्मानुसार वह अकेला ही भोगता है। धन, माल, माता, पिता, पुत्र और परिवार कोई भी रक्षा नहीं कर सकता है। केवल मोहनीय कर्म के ज़ोरसे जीव अशरण को शरण मानता है। जानकार पुरुष धनादि को शरण नहीं मानते हैं।

सब जीव अपने कर्मों के अनुसार एकेन्द्रियादि योनियों में परिभ्रमण करते हैं। वहाँ अवक्तव्य दुःखों के द्वारा वे दुःखी हो भयाकुल बन, जहाँ तहाँ भटकते फिरते हैं। इसी तरह जाति, बुढापा और मरणादि से उपद्रवित हो कर मूर्ख पीडित होते हैं। दुःख के समय हरेक जीव प्रभु को याद करता है; संसार को असार समझता है; त्यागियों को धन्यवाद देता है और त्याग–

मार्ग को पसंद करता है। इसी तरह मरते समय रोता है कि,—
" हाय ! अब मेरा क्या होगा ? धन, माल, पुत्र और परिवार आदि सब यहीं रह जायँगे। कोई साथ में नहीं आयगा। कृत कर्म के कटु फल अकेले ही को भोगने पड़ेगे। कोई भी मददगार नहीं होगा।" कहा है कि:—

एकस्य जन्ममरणे गतयश्च शुभाशुभा भवावर्ते।
तस्मादाकालिकहितमेकेनैवात्मनः कार्यम् ॥

भावार्थ—जन्म, मरण अकेले ही को होते हैं। भवावर्त में शुभाशुभ गतियों में भी अकेले ही को फिरना पड़ता है। इसी लिए जन्म से लेकर मरण पर्यन्त अकेले ही को आत्म–हित करना चाहिए।

और भी कहा है कि:—

एको करेइ कम्मं फलमवि तस्सिकउ समणुहवइ।
एको जायइ मरइ य परलोयं एकओ जाइ ॥

भावार्थ—जीव अकेला कर्म करता है और उस कर्म का फल भी अकेला ही भोगता है। वह अकेला ही मरता है; अकेला ही जन्मता है और परलोक में अकेला ही जाता है।

जीवने उक्त बातों का स्वयं अनुभव किया है; परन्तु वह समय पर भूल जाता है। दुःख के समय या मरण के समय यदि ये बातें याद आवें तो किस काम की हैं ? आग लगने के

बाद कूवा खोदने से क्या लाभ होता है ? पहिले ही से किया हुआ कार्य हमेशा उपयोग में आता है। इसीलिए शास्त्रकार नवीन नवीन युक्तियों द्वारा जीवों को समझाते हैं; मगर भारी कर्मवाले जीव कुछ भी नहीं समझते हैं। मरते समय वे रोने लगते हैं; इससे उनका रोना फ़िजूल होता है। उल्टे हाय, हाय करके वे द्विगुण कर्म बाँधते हैं। इसीलिए कहा है कि, बंध के समय सचेत रहना और उदय के समय शान्ति से सहना चाहिए। जीव सहज भावों से जिन कर्मों को बाँधते हैं, वे रोनेसे भी कभी नहीं छूटते हैं। अठारहवीं गाथा में स्पष्ट बताया गया ह कि, जीव संसार रूपी महासागर में स्वकृत कर्मानुसार एकेन्द्रिय अवस्था में अव्यक्त दुःख सहते हैं। वे दुःख नारकीय दुःखों के जीवों से भी अनन्तगुणे ज्यादा हैं। गौतम स्वामीने महावीर स्वामी से पूछा कि,—हे भगवान निगोद के जीवों को कैसा दुःख है ? उसके उत्तर में भगवानने कहा कि,—"हे गौतम! नारकी के जीव तीव्र असातावेदनीय के उदय से जिस दुःखका अनुभव करते हैं उससे अनन्तगुणा दुःख निगोद के जीव भोगते हैं। उस निगोद के अंदर यह जीव बहुत समय तक रहा है। अकाम निर्जरा के जोरसे धीरे-धीरे बढ़ता हुआ, वह मनुष्य हुआ है। यहाँ वह जो चाहे सो कर सकता है। मगर भाग्य के विना कुछ नहीं हो सकता है। यह ठीक है कि, प्राप्त सामग्री व्यर्थ नहीं जाती है। मगर यही सामग्री पुण्यहीन को उल्टा फल देती है

आजकाल कई जीव स्वयं तो धर्मकरणी करते हैं; मगर जो करते हैं उनकी भी वे, लेखों और गुप्त मित्रमंडल व्याख्यानों द्वारा निंदा करते हैं। इससे दूसरे जीव भी प्रमाद के वश में होकर समय को चूक जाते हैं। इसके लिए निम्नलिखित उदाहरण खास विचारणीय है।

" शिकागो–अमेरिका के एक बंदर से किसी व्यापारी का एक जहाज रवाना हुआ। उसमें एक अब्ज रुपये के मूल्य के हीरे, मोती, स्वर्ण, चाँदी आदि भरे हुए थे। वह मार्ग के अनेक उपद्रवों को हटाती हुई, कुशलता पूर्वक बारा में पहुँच गई जहाज सकुशल पहुँचने की प्रसन्नता की; खलासीयोंने पुकार की। व्यापारीने भी सुनी। कप्तानने व्यापारी के घर जाकर, जहाज के बंदर में पहुँच जाने की सूचना दी। साथ ही सामान उतारने के लिए भी कहा। व्यापारी सेठ को प्रसन्नता हुई। कप्तान चला गया। सेठ उस समय अपने मित्रों के साथ चौपड़ खेल रहा था। इसलिए जहाज से सामान उतरवाने का प्रबंध करने के लिए भी वह मुनीम को आज्ञा न दे सका। यह बाजी पूरी कर के उठता हूँ; यह पूरी करके उठता हूँ, इसी तरह सोचता हुआ वह खेलता ही रहा। आनंद के साथ खेलते हुए, कितना समय बीत गया इसकी उसको कुछ भी खबर न रही। सूर्य छिप गया। शहर में दीयाबत्ती की रोशनी की गई। सेठने सोचा,– कल सवेरे ही सब कार्य छोड़ कर पहिले सामान उतरवा लूँगा।

अब तो रात हो गई है। फिर थोडी देर गपशप कर अपने शयनमंदिर में गया। रात को दस बजे के करीब अकस्मात आकाश में बादलों की त्रासदायक घोर गर्जना होने लगी; बिजलियाँ चमकने लगीं। जोरसे आँधी आई। जीर्ण घर जमींदोज़ होने लगे। समुद्र की कल्लोलें शैल शृंग की उपमा को धारण करने लगे। नौकाएँ और जहाज जो बंदरों में पड़े थे वे भी—झूले की तरह झूलने लगे। थोड़ी देर में तो वे बाँधे हुए बंधनों से मुक्त होकर बंदर के बहार निकल गये। खिलाड़ी सेठ का माल जिस जहाज में भरा हुआ था, वह जहाज भी बंदर में से निकल कर, समुद्र में क्रीडा करने लगा। मानो वह यह बता रहा था कि, सेठ यदि क्रीडा करता है तो मैं भी क्यों न करूँ ? इस तरफ़ सेठ की नींद उड़ गई। वह बड़ी चिन्ता में पड़ा। उसने सोचा,—" जहाज का माल ऐसी हालत में कैसे बचेगा ? यदि बच जायगा तो मैं एक लाख रुपये का दान गरीब लोगों को दूँगा; एक लाख रुपये देवभक्ति में लगाऊँगा; एक लाख रुपये गुरुभक्ति में खर्चूंगा; एक लाख रुपये धर्मोन्नति में लगाऊँगा ओर एक लाख रुपये विद्यार्थी वर्ग की सहायतार्थ व्यय करूँगा। ऐसे पाँच लाख रुपये पुण्यकार्य में लगाऊँगा। हे प्रभो ! हे शासनदेवो ! किसी तरह मेरे जहाज की रक्षा करो।" सेठ इधर इस तरह विचासागर में गोते लगा रहा था। इतनेहीं में साढ़े ग्यारह बजे घबराये हुए जहाज रक्षक आये और कहने

लगेः—" महाराज ! जहाज बंदर में से निकल गया। पता नहीं कहाँ गया ? हमने पूरे एक घंटे तक, मौत की कुछ परवाह न कर जहाज के लिए परिश्रम किया। मगर परिणाम कुछ न हुआ। दैवकोप के आगे हमारा परिश्रम निष्फल गया।" फिर वे लोग अपने अपने घर चले गये। बिचारा अनाथ जहाज समुद्र में डूब मरा। सवेरे ही बंदर पर जाकर जहाज की तलाश कराई। मगर उसका कहीं पता न मिला। बिचारा सेठ रोता हुआ वापिस आया।"

देखा पाठक ! बीमा उतर गया। हजारों विपत्तियों से जहाज सहीसलामत बंदर में पहुँच गया; मगर माल उतरवाने में आलस्य करने से कितनी हानि हो गई ? कर्जदार घर पर आये। आये। दिवाला निकला और सेठ की करोड़ों की इज्जत कौड़ी हो गई।

पाठक ! सेठ को जरूर मूर्ख गिनेंगे। मगर यदि वे उपनय से विचार करेंगे तो उन्हें सेठसे भी संसारी जीव अधिक मूर्ख मालूम होंगे। संसारी जीवों का जहाज निगोद रूपी शिकागो से रवाना हुआ है। जहाँ वह अनन्तकाल तक पड़ा रहा था। वहाँ से वह पृथ्वीकाय, अपकाय, अग्निकाय, वायुकाय और प्रत्येक वनस्पतिकाय रूपी महासागर में असंख्य काल तक चल कर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरेन्द्रिय रूपी काले समुद्र में

असंख्यात बरस तक चला। शुभ पुण्य रूपी अनुकूल पवन के जोरसे वह आगे बढ़ा। पंचेन्द्रिय के मुख्य चार भेद रूप बरफ के पहाडों से टकराता हुआ मनुष्य लोकरूपी महासागर में जिसका विस्तार पैंतालीस लाख योजन का है पहुँचा। फिर वह अनार्य देश रूप भयंकर विघ्नों को पार कर, आर्यदेश प्रशान्त सागर मे आया। यद्यपि प्रशान्त नाम है तथापि आखिर में समुद्र है। उसमें भी कितना ही हिस्सा अनार्यों से बसा हुआ है। जैसे भिल्ल, पुलिंद, नहाल, कहाल, बर्बर, सैनिक, कैवर्त, खसिक, लंख, मंख आदि। ये सब मार्ग की विपत्तियों के समान है। इन सब को भी पार करके वह जहाज उत्तम कुल रूप समुद्र के उस स्थान में पहुँचा जहाँ से बंदर नजर आता है। वहाँ वह पाँच बरस तक ओरी, शीली आदि रूप कल्लोल-माला में गौते खाता रहा। वहाँ से वह आगे बढ़ा। जहाज युवावस्था रूप तूफानी खाड़ी में पहुँचा वहाँ, कर्मयोग से और असातावेदनीय के प्रबल जोरसे गलिक, श्वेत आदि १८ प्रकार के महा कोढ, चौरासी प्रकार के वायु के उपद्रव, उदररोग, ज्वर, अतिसार, श्वास, कास, भगंदर; हरस, शिरोरोग, कपालरोग, नेत्ररोग, कर्णरोग, कंठमाल, तालुशोष, जिह्वारोग, दंतरोग, ओष्ठ-रोग, मुखरोग, कुक्षीशूल, हृदयशूल, पीठशूल और प्रहेहादि पाँच करोड, अडसठ लाख, नन्यानवे हजार, पाँचसौ और चौरासीरोग जो कि औदारिक शरीर में प्रायः हुआ करते हैं—रूप विघ्नों से

पार होकर सहीसलामत बंदर में पहुँच गया। इस जहाज में, पंचमहाव्रत अथवा बारहव्रत रूपी अमूल्य रत्न, दान, शील, तप, भाव, ज्ञान, ध्यान, परोपकार और स्वरूप चिन्तवन रूप स्वर्ण, रजतादि माल, भरा हुआ है। इस माल को उतारने के लिए गुरुरूपी कप्तानने आत्मारूपी सेठ को सूचित किया। मगर पंचप्रमाद, और तेरह काठियाने जो अशुभ कर्म से होते हैं— आत्मा—सेठ को केप्टेन की बात पर कुछ ध्यान नहीं देने दिया। वह यही कहता रहा कि, यह खेल पूरा करके माल उतारूँगा। इतने ही में सूर्य अस्त हो आ गया; रात की अंधकार छा गया और अकस्मात तूफान में तमाम बरबाद हो गया।

यहाँ मनुष्य जन्म रूपी जहाज है; गुरुवचन केप्टेन की कथन है; संसार चौपड़ है; रागद्वेष पासे हैं; सोलह कषायें सोलह सारें हैं; रात्रि मिथ्यात्व है और अकस्मात तूफान मृत्यु है। जीव यदि नहीं समझता है तो जहाज बंदर में से निकल कर बरबाद हो जाता है। लाभ केवल इतना ही है कि, जहाज पहिले चला नहीं था तब जीव अव्यवहार राशिवाला गिना जाने लगा है। इस तरह जहाज के डूब जाने से जीव वापिस अनंत-काल तक भटकेगा। इसी लिए ज्ञानी पुरुष नवीन नवीन युक्तियों द्वारा समझाते हैं कि,—हे भाई! प्रमाद न कर। ज्ञान, दर्शन, और चारित्ररूप रत्नत्रय की पवित्रता कर। इनके विना तेरा कल्याण नहीं होगा। निज स्वभाव में मग्न हो। विकथाओं का

त्याग कर। आत्मश्रेय के लिए स्वनिंदा कर। सब जीवों को अपने कृत कर्मानुसार फल मिलता है। समय उत्तम है। गया समय फिरसे आनेवाला नही है। इसी बात को पुष्ट करने के लिए सूत्रकार फिर कहते हैं:—

इणमेव खण वियाणिया णो सुलभं बोहिं च आहितं।
एवं सहिए हियासए आहिजिणे इणमेव सेसगा ॥१९॥
अभविंसु पुरावि भिखु वे आएसावि भवंति सुव्वता।
एयाइं गुणाइं आहुते कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥२०॥

भावार्थ—प्राप्त समय को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से सुंदर समझो। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सुलभ नहीं है। ऐसा श्रीऋषभदेव भगवान फर्माते हैं। इसलिए, ज्ञान, दर्शन और चारित्रधारी मुनि उत्पन्न परिसहों को सहन करे। (श्रीऋषभदेवस्वामी के समान अन्य तेईस तीर्थंकर भी इस बात को कहते हैं।) (१९) हे साधुओ! पूर्वकाल में जो प्रधान व्रतधारी जिनेश्वर होगये हैं, उन्होंने और भविष्य में होनेवाले तमाम प्रधान व्रतधारी जिनेश्वरोंने उक्त चारित्र के गुण बताये हैं। सबका सिद्धान्त यही है कि,—"ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना ही मुक्ति का मार्ग है। (यानि तीर्थंकरों की देशनाओं में भेद नहीं है। अल्पज्ञों की कल्पनाओं में भेद है) ॥२०॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप अति उत्तम समय प्राप्त

हुआ है । शुभ सामग्री की प्राप्ति शुभकाल का सूचक है और अशुभ सामग्री अशुभ की । श्रीऋषभदेवस्वामी अपने पुत्रों को कहते हैं कि,–" हे महानुभावो ! द्रव्य से त्रसपन, पंचेन्द्रिय पटुता, सुकुलोत्पत्ति और मनुष्यजन्म आदिका; क्षेत्र से आर्य क्षेत्र का भारतभूमि के अंदर ३२ हजार देश है । उनमें साढे पचीस आर्यक्षेत्र हैं । बाकीके अनार्य । आर्यक्षेत्र में जन्म होना कठिन है । वह उसका काल से अवसर्पिणी चौथे आरे के काल का कि जिस में धर्मकरणी सुगमता से होती है; और भाव से शास्त्र श्रवण धर्मश्रद्धा, चारित्राचरण और कर्मक्षयोपशमानुसार विरति परिणाम आदिका, मिलना कठिन है । मगर ये सब शुभ सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं । द्रव्य सामग्री क्षेत्र सामग्री की खास अपेक्षा रखती है । जिस क्षेत्र में धर्मचर्चा नहीं होती उस क्षेत्र में द्रव्यसामग्री अनर्थ को पैदा करती है। द्रव्य, और क्षेत्र दोनों सामग्रियों की प्राप्ति हो; मगर यदि काल सामग्री न मिले तो कार्य की सिद्धि न हो । क्योंकि जिस काल में तीर्थंकर विचरण करते हों, या सुविहित आचार्य, उपाध्याय और मुनिवर विचरते हैं; तबही जीव दोनों सामग्रियों से लाभ उठाया करते हैं । अन्यथा प्राप्त दोनों सामग्रियाँ व्यर्थ जाती हैं । पुण्य के योग से द्रव्य, क्षेत्र और कालरूप त्रिपुटी सामग्री भी मिले; मगर उसमें सेनापति के समान भाव न हो तो कार्य की सिद्धि नहीं होती है। और इस त्रिपुटी के बिना केवल भाव भी भावनारूप ही रह

जाता है। अर्थात् ये चारों सामग्रियाँ एकत्रित होती हैं, तबही कार्यसिद्धि होती है। इनमें से यदि एक भी सामग्री की कमी होतो, कार्य की सिद्धि नहीं होती। हे भव्यो! द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव से यह समय उत्तम है। सम्यक्त्व की प्राप्ति सुलभ नहीं है। सारे तीर्थंकर अपने शिष्यों को इसी तरह का उपदेश देते हैं। इसी तरह मैं भी तुम से कहता हूँ। भूत, भविष्य के तीर्थंकर भी इसी तरह का उपदेश करते हैं। इसमें किसी तीर्थंकर का मतभेद नहीं है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्श और सम्यग्चरित्र ही मुक्ति का मार्ग है। सारे तीर्थंकर यही बात बताते हैं। इतनाही नहीं, वे स्वयं सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना कर सुव्रत हुए हैं; और सुव्रत के प्रभाव से जगत्पूज्य होकर निर्वाण को पाये हैं। श्रीतीर्थंकर देवों का जन्म दूसरे लौकिक देवों की तरह जगत की विडम्बनाओं को हरण करने के लिए नहीं होता है। वे पूर्वजन्म में वीश स्थानक तप की आराधना कर, पुण्य की प्रकर्षता से तीर्थंकर नाम कर्म बाँधते हैं; उसीको क्षय करने के लिए, उनका जन्म होता है। जन्म से मरण पर्यंत का उनका जीवन मनन करने योग्य होता है। उनका कथन कभी एक दुसरे का विरोधी नहीं होता। यानी पहिली बात के अनुसार ही उनकी पिछली बात भी होती है। मगर अन्य देवों का जीवन क्रीडा, विनोद, परस्पर विरोधी कथन आदि से, अप्रामाणिक बीतता है। इस कथन की पुष्टि के लिए

यहाँ हम दश अवतारों की जीवनियों का थोड़ा सा दिग्दर्शन करायेंगे। जिससे पाठक समझ सकेंगे कि हमारी बात कहाँ तक सत्य है।

दशावतार का वर्णन।

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते
दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते,
म्लेच्छान् मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः॥

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश॥

इनमें का पहिला श्लोक जयदेवकृत गीतगोविंद का है। इसमें दश अवतारों का प्रयोजन बताया है। मगर जब तक प्रत्येक अवतार का थोड़ासा वृत्तान्त नहीं दिया जाय तब तक पाठकों के कोई बात पूरी तरह से समझ में नहीं आयगी। इसी लिए यहाँ उनका थोड़ासा वृत्तान्त दिया जाता है।

प्रथम अवतार।

वेदानुद्धरते यह वाक्य मत्स्यावतार का वृत्तान्त सूचित करता है। शंखनामा दैत्य चारों वेदों को लेकर रसातल में गया। उस समय पृथ्वी निर्वेद होगई। देवने मनमें सोचा कि,—" दुष्ट

दैत्यने अनर्थ किया है; इसलिए शंखदैत्य का नाश करना चाहिए, और वेदों को वापिस पृथ्वीतल में लाना चाहिए।" ऐसा सोच, **मत्स्यावतार** धारण कर, देव रसातल में गये और दैत्य को मारकर वेदों को पीछे पृथ्वी पर लाये। यह पहिले अवतार की बात हुई।

दूसरा और तीसरा अवतार।

एकवार पृथ्वी पाताल में जाने लगी तब भगवानने **कूर्म**—कछुए का अवतार धारण कर उसको पीठपर उठाली। और **वराह** रूप धारण कर दो डाढों से उसको पकड़ रक्खी। यह है कूर्म और वराह का अवतार की बातें।

चौथा अवतार।

हिरण्यकशिपु दैत्य का नाश करने के लिए, चौथा नरसिंह—अवतार हुआ। दैत्य प्रायः शिवभक्त होते हैं। वे शिवजी की आराधना करते हैं। एकवार हिरण्यकशिपु दैत्यने शिवजी की पूर्णतया भक्ति की। शिवजीने प्रसन्न होकर उसको वरदान दिया कि—"तेरी मोत सूखे से या गीले से, अग्नी से या पानीसे; देव से या दानव से या तिर्यंच से किसीसे भी नहीं होगी।" हिरण्यकशिपु का पुत्र प्रह्लाद विष्णु का भक्त हुआ। हिरण्यकशिपु को यह बात ज्ञात हुई। अपने देव शिव का लोप करने के अपराध में उसने खूब मारा, बाँधा, पीटा मगर वह 'विष्णु विष्णु' ही

रटता रहा । इससे उसके शरीर में एक भी प्रभाव का असर न हुआ । विष्णुने उसके सत्त्व से प्रसन्न होकर, वरदान दिया कि, तू इन्द्र होगा । तदनुसार वह इन्द्र हुआ । तो भी वह उसको पीडा देता रहा । तब भगवानने नरसिंह का रूप धारण किया । मुख सिंह का और शरीर पुरुष का बना, हिरण्यकशिपु को, पैरोंतले दबा, नाखूनों से सीना चीर दिया, वह मर गया ।

मत्स्य, कूर्म, वराह और नरसिंह, ये चार अवतार कृतयुग में हुए हैं ।

पाँचवाँ अवतार ।

बलि नामा दैत्य इन्द्रपद की प्राप्ति के लिए सौ यज्ञ करने का प्रयत्न करता था । प्रयत्न द्वारा उसने ९९ यज्ञ पूरे कर दिये । जब अन्तिम यज्ञ प्रारंभ हुआ तब देव को यह सोचकर, गुस्सा आया कि, मैंने प्रह्लाद को इन्द्रपद दिया है, उसको यह ले लेगा । तत्पश्चात् बलि को दंड देनेके लिए वे वामन का रूप धारण कर, यज्ञस्थान पर पहुँचे, और कहने लगे:—" हे दानेश्वर ! हे यज्ञ विधायक बलि ! यह समय दान करने के लिए उपयुक्त है । " बलिने पूछा:—" हे ब्राह्मण ! तू क्या चाहता है ? " वामनने उत्तर दिया:—" मैं रहने के लिए साढे तीन पावंडा पृथ्वी चाहता हूँ । " बलीने दी । एक ब्राह्मणने कहा:—" हे राजा ! ये ब्राह्मण नहीं हैं । ये विष्णु भगवान हैं । वामन रूप धारण कर

यहाँ आये हैं।" बलि को ब्राह्मण की बात सुन, क्रोध हो आया। इनकी इधर बातें होती थीं, इतने में वामनावतार विष्णुने सारी पृथ्वी तीन ही पावंडे में ले ली। आधा पावंडे के लिए उन्होंने बलिसे कहा:—"रे दुष्ट अपनी पीठ दे।" बलि पीठ पर पैर धराने से पाताल में चला गया। मरते समय बलिने कहा:—"महाराज! लोग क्या जानेंगे कि, बलि इस तरह का हुआ है। इसलिए कोई ऐसी बात होनी चाहिए कि जो मेरी इस कृति की स्मृति रूप सदा बनी रहे।" तब विष्णुने कहा:—दीवाली के चार दिन तक तू राजा और मैं तेरा द्वारपाल रहूँगा।"

छठा अवतार।

यह अवतार राम यानी परशुराम का हुआ। उसका वृतान्त इस तरह से है,—"सहस्रार नाम का एक क्षत्रिय था। उसके रेणुका नाम की बहिन थी। जमदग्नि ऋषिने रेणुका के साथ जबर्दस्ती से ब्याह कर लिया। सहस्रार जमदग्नि के आश्रम में गया। वहाँ उसने ऋषी और अपनी बहिन को बातें करते सुना। सुनकर सहस्रार बहुत कुपित हुआ। क्षत्रिय स्वभावतः ही शौर्य गुणवाले होते हैं। इसलिए उसने जमदग्नि को सताया और रेणुका को दुःख दिया। इसलिए भगवान ने जमदग्नि के घर जन्म लेकर, सहस्रार को मार डाला, और इकीसवार पृथ्वी को क्षत्रिय विहीन बनाया।

सातवाँ अवतार ।

राक्षस रावणने जब पृथ्वी पर बहुत उत्पात मचाया, तब देवने राम का अवतार लेकर रावण को मारा । वामन, परशुराम और राम ये तीनों अवतार त्रेतायुग में हुए हैं ।

आठवाँ और नवाँ अवतार ।

कंसादि दैत्यों को मारने के लिए भगवानने कृष्ण का रूप धारण किया । बुद्धावतार शीतल रूप; उसने म्लेच्छों के मंदिर बढाये । ये दोनों अवतार द्वापर युग में हुए हैं ।

दसवाँ अवतार ।

म्लेच्छों का नाश करने के लिए कलियुग में कल्कि अवतार हुआ ।

उक्त दशों अवतार धारण करनेवाला, सर्वज्ञ, ईश्वर, सर्वशक्तिमान, जगत्कर्ता और अविरोधक कहा जा सकता है या नहीं ? पक्षपात को छोड़कर यदि इस प्रश्न का विवेचन किया जाय तो उस में कोई निंदा या विकथा नहीं है । वस्तु का विचार करना मनुष्य मात्र का धर्म है ।

पहिले मत्स्य, कूर्म, वराह और नरसिंह इन चारों अवतारों की मध्यस्थ भाव से मीमांसा की जायगी । शंख नामा दैत्य वेदों को लेकर पाताल में घुस गया । उनको वापिस लानेके लिए भगवान को मछली के पेट में जन्म लेना पड़ा । सोचने की

बात है। जो सर्वज्ञ थे उनको यह तो पहिले ही से ज्ञात होना चाहिए था कि, शंख नामा दैत्य उत्पन्न होगा; वह वेदों को पाताल में ले जायगा और उसके पाससे वेदों को वापिस लानेके लिए पृथ्वी पर मुझ को अवतार लेना पड़ेगा। यदि वे इतना जान गये थे तो फिर उन्हें चाहिए था कि वे शंख को पैदा ही न होने देते। क्योंकि जब वे सर्वशक्तिमान थे तब ऐसा करना उनके लिए कोई कठिन कार्य न था। एक बात और भी है; उनके मतानुयायियों के मतानुसार जगतको पैदा भी वही अवतार लेनेवाले भगवान करते हैं। फिर उन्होंने शंख को उत्पन्न क्यों किया। इसका दूसरी तरह से विचार किया जायगा। प्रथम तो इसकी सत्यता में ही शंका होती है। क्यों कि-शंख राक्षस, अर्थरूप वेदों को पाताल में ले गया या शब्दात्मक को? या पुस्तकाकार को? अगर वह अर्थात्मक वेद ले गया तो उससे कुछ मूल वेदों की हानि नहीं होती। शब्दात्मक जा नहीं सकते; क्योंकि शब्द क्षणिक हैं। तब यह संभव है कि वह पुस्तकाकार वेदों को ले गया होगा। तो इससे क्या बनता बिगड़ता है? क्योंकि हजारों प्रतियाँ देश में लिखी हुई होंगी, उनमें से यदि एक चली गई तो उसके अभाव से वेद नष्ट नहीं होजाते। ऐसी और भी कई बातें इस विषय में कही जा सकती हैं। और इसीसे मत्स्यावतार का प्रयोजन ठीक नहीं मालूम होता है।

अब दुसरे कूर्म और तीसरे वराह अवतार की ओर दृष्टि-पात कीजिए। ये अवतार पृथ्वी रसातल में जा रही थी उस को धारण करने के लिए हुए थे। कूर्मने पृथ्वी को अपनी पीठ पर धारण कर रक्खा। यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, कूर्म किसके आधार पर रहा था? यदि कहोगे कि, वे तो ईश्वर थे, सर्वशक्तिमान थे, इसलिए बिना ही आधार के रह गये थे; तो यह कथन युक्तियुक्त नहीं होगा। क्योंकि जब वे सर्वशक्तिमान थे तब वे पृथ्वी को भी अपनी ही तरह निराधार टिका सकते थे। उनके कूर्म बनने की कोई आवश्यकता नहीं थी। क्यों उन्होंने गर्भ के दुःख झेलने का और तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने का प्रयास किया? पाठक सोचें, इसी तरह की बातें वराह के लिए भी हैं। वराहने जब पृथ्वी को अपनी डाढ़ों में पकड़ रक्खी थी; तब वह स्वयं खड़ा कहाँ रहा था। आदि।

चौथे अवतार में देवने नरसिंहरूप धारण कर शिवभक्त हिरण्यकशिपु को मारा और भक्त प्रह्लाद को इन्द्रपद दिया। इसका अभिप्राय यह है कि वे अपने भक्तों की रक्षा करनेवाले—उनको उच्च पद देनेवाले और अभक्तों के प्राण लेनेवाले हैं। यह व्यवहार रागद्वेष युक्त है। और जिसका व्यवहार राग, द्वेष युक्त होता है वह कभी वीतरागी नहीं कहला सकता है।

वामनरूप धारण कर बलि को मारने की अपेक्षा क्या यह

बुरा था कि वे बलि को पैदाही न करते ? वामनरूप धारण करना, भिक्षा माँगना; तीन पैर पृथिवी ले लेना; बलि को, उसकी पीठ में पैर रखकर, पाताल में पहुँचाना; और उसको मरते समय वरदान देना कि,—" दीवाली के समय चार दिन तक तेरी पूजा होगी, मैं तेरा द्वारपाल रहूँगा । " आदि बातें असंबद्ध हैं । ये सर्वज्ञभाव में शंका उत्पन्न करती हैं ।

परशुराम का अवतार क्षत्रियों का नाश करने के लिए हुआ । इसी लिए क्षत्रियों में और ब्राह्मणों में वैरभाव उत्पन्न हो गया । इसी कारण से २१ वार पृथ्वी निःक्षत्रिय हुई । फिर अवान्तर में अब्राह्मणी पृथ्वी हुई । बहुत बड़ा जुल्म हुआ । यदि जमदग्नि के अपराध का विचार किया जाकर उसको दंड दिया जाता तो इतना अनर्थ न होता । कथा से यह बात सिद्ध होती है कि, जबर्दस्ती से किसी के साथ ब्याह करनेवाले का पक्षग्रहण करके भगवानने जन्म लिया । यदि कथा की बात सत्य हो तो ऐसे भगवान सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान नहीं हो सकते हैं। सर्वशक्तिमान जो होता है, वह पहिले ही से परस्पर के विरोधी कार्य को देख लेता है । सर्वशक्तिमान कभी जन्म मरणादि की विडंबना में नहीं पड़ता । क्या एक सामान्य मनुष्य भी एक छोटे से कार्य के लिए बड़े बड़े अनर्थ कर सकता है ? कदापि नहीं । स्वयं कर्ता ही जब कार्य रूप हो जायगा, तब फिर अन्य कर्ता कौन गिना

जायगा ? यदि कर्ता भी कार्यरूप हो जाय तो, अनायास ही अनवस्था का दूषण उपस्थित होता है।

दूसरे अवतार भी देव की महत्ता को सूचित नहीं करते हैं। उनके जीवन उल्टे अल्पज्ञता और अविवेकता को समझाते हैं। रावण को मारने के लिए राम का अवतार हुआ। रावण महासती सीता को हरकर ले गया। रामचंद्रजी जगह जगह उनको ढूँढते फिरे। सीता की खबर मिली। उन्होंने सेना इकट्ठी कर रावण को मारा। आदि बातें ऐसी हैं, जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि, अवतार धारण करनेवाले देव में सर्वज्ञता नहीं थी। हाँ, यह बात ठीक है कि रामचंद्रजीने वैराग्य प्राप्तकर दीक्षा ली थी। और कर्म क्षय कर, केवली, सर्वज्ञ हो मोक्ष में गये थे। जैन सिद्धान्त यही बात कहते हैं। यह युक्तियुक्त भी है। कंस को मारने के लिए कृष्णावतार और बुद्धावतार के कार्यों को दूर करने के लिए कल्कि अवतार हुआ था। बुद्धावतार शीतल स्वरूप माना गया है। उसने म्लेच्छों के मंदिर बढाये थे। यह बात कैसे मानी जा सकती है। ये बात भी परस्पर में विरोधिनी हैं कि, एक अवतारने म्लेच्छों के मंदिर बढ़ाये और दूसरा अवतार म्लेच्छों का नाश करने के लिए हुआ। यदि अवतारों की बात कल्पित प्रमाणित हो जाय तो सारी महिमा ही कल्पित हो जाय। यदि अवतारों की बात ठीक हो तो यह मानने में कोई हानि नहीं है कि, ईश्वर साधारण मनुष्यों की भाँति दुःख परम्परा

भोगता है। जिस ईश्वर की मनुष्य जन्म, जरा और मृत्यु के दुःखों से बचने के लिए सेवा-पूजा करते हैं, वही ईश्वर यदि, जन्म, मरण दुःखसे पीडित हो तो वह अपनी सेवा करनेवालों को इन दुःखों से कैसे बचा सकता है? अर्थात् नहीं बचा सकता है। जिसमें राग, द्वेष, मोह और अज्ञानादि नहीं हैं वह जन्मजरादि के दुखों से दुखी नहीं होता है। जो उनके वचनों पर विश्वास करता है वह भी जन्म मरण के कष्टों से छूट सकता है। जो जीव राग, द्वेषादि दूषणों से दूषित होता है वह अवश्यमेव जन्म धारण करता है। जो जन्ममरणादि करता है वह ईश्वर नहीं कहा जा सकता है। ईश्वर किसीको हानी, लाभ नहीं पहुँचाता। वह तो केवलज्ञानद्वारा जो कुछ देखता है, उसीका कथन करता है। वह जीवों को लाभ पहुँचानेवाला उपदेश देता है। उसका उपदेश अतीत और अनागत तीर्थंकरों के उपदेश से भिन्न नहीं होता है। विरोधी बातें अल्पज्ञ, अवीतरागी और असर्वज्ञों के कथन में होती हैं। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी वीतराग भगवान के कथन में नहीं होतीं; क्योंकि उनको तो त्रिकाल का ज्ञान होता है। इसीलिए सब तीर्थंकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र ही को मुक्ति का मार्ग बताते हैं। जो उनके वाक्यों पर श्रद्धान करता है, वह सम्यक्त्वी बनकर नियमित समय में मुक्ति पाता है। इसलिए श्रीऋषभदेव भगवानने अपने पुत्रों को उपदेश दिया है कि,-

" हे महानुभावो ! तुम्हारे हाथ अत्युत्तम समय आया है।" यही उपदेश श्रीमहावीर स्वामीने अपने गणधरों को दिया था; और गणधरोंने अपने शिष्यों को।

तीसरे उद्देशे की समाप्ति के साथ दूसरे अध्याय की समाप्ति में कहा है:—

तिविहेण वि पाणमाहणे आयहिते अणियाण संवुडे।
एवं सिद्धा अणंतसो संपइ जे अणागया वरे॥ २१॥

एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणे धरो।
अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिये वियाहिये त्तिबेमि॥ २२॥

भावार्थ—मन, वचन, काया से किसी जीव को मारे नहीं। तथा आत्महित करनेवाला, अतिदान संवृत्त मुनि सिद्धिपद को पाता है। अनन्तकाल में अनन्त जीव सिद्ध हुए, और वर्त्तमान में मुक्ति पाते हैं (महाविदेहादि क्षेत्रों की अपेक्षा से) अनागत काल में मुक्ति पायेंगे। पांच महाव्रतों के पालन के सिवाय अन्य मुक्तिमार्ग नहीं है। (२१) पूर्वोक्त तीन उद्देशो में कहे हुए आचार को पालन करनेवाले मुक्ति में गये हैं, जाते हैं और जायेंगे। ऐसा ऋषभदेव स्वामिने अपने पुत्रों को कहा। यही अर्थ श्रीवीरस्वामिने सुधर्मास्वामि को कहा। पूज्य, ज्ञातनंदन, प्रधान केवलज्ञान-केवलदर्शन को धारण करनेवाले एवं विशाल

कुल, विशालबुद्धि, विशालमाता और जिसका विशाल वचन है, ऐसे वैशालिक भगवानने प्ररूपण किया है।

मूल सूत्र में प्रथम महाव्रत बताया गया है। उसके पालन की बात यद्यपि विस्तार से नहीं बताई गई है; तथापि 'तिविहेण' इस पद से यह बता दिया गया है, कि ८१ भाँगोंसे तो अवश्यमेव इस व्रत का पालन करना चाहिए। सामान्यतया जीव के ९ भेद हैं। चार त्रस और पाँच स्थावर। जैसे—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पृथ्वीकाय हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये त्रसकाय हैं। इस तरह ९ प्रकार के जीव होते हैं। इनको मन, वचन और कायासे मारना नहीं; इसतरह नौ को तीनसे गुणने से २७ होते हैं। अर्थात् ९ को मनसे मारना नहीं; ९ को वचनसे मारना नहीं और ९ को कायासे मारना नहीं। तीनों की जोड़ २७ हुई। इनको कृत, कारित और अनुमति से गुणने से ८१ होते हैं। तात्पर्य कहने का यह है कि, ९ प्रकारके जीवों को मन, वचन, और कायसे मारना नहीं, मरवाना नहीं, मारनेवाले को अच्छा समझना नहीं। प्रथम महाव्रत की रक्षाके लिए अन्य चार महाव्रतों की खास तौरसे आवश्यकता है। उनके विना पूर्णतया महाव्रत की रक्षा नहीं हो सकती है। इसलिए एकके कहने से पाँचों महाव्रतों को समझना चाहिए। पाँचों महाव्रतों से दश प्रकार के यतिधर्म की रक्षा होती है। दश धर्मों की रक्षा मुक्तिपद का

साक्षात् कारण है। दश प्रकार के यतिधर्म की साधना, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन के बिना नहीं हो सकती है। इसलिए दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप रत्नत्रय मुक्ति का कारण है। महावीर स्वामीने इसको जानकर, व्यवहार में रक्खा था। फिर उन्होंने अपने शिष्यों को इसका उपदेश दिया था। ऋषभदेव भगवानने, उक्त वैतालिक अध्ययन, भरतद्वारा अपमान प्राप्त अपने पुत्रों को, वैराग्य होने के लिए अष्टापद पर्वत पर सुनाया था। उसीका यहाँ दूसरे प्रकरण में विचार किया गया है। इसको पढ़कर जिनके हृदय में वैराग्य वृत्ति जागृत हुई होगी; और जिन्होंने अपने क्रोध, मान, माया और लोभ को—जिनका वर्णन इस अध्ययन के पहिले किया जा चुका है—कम किया होगा; उनके लिए तीसरे प्रकरण में सामान्य उपदेश का विचार किया जायगा।

द्वितीय प्रकरण समाप्त।



प्रकरण तीसरा

जीव अनादिकाल से संसारचक्र में परिभ्रमण कर रहे हैं। वे उसमें अपने अपने कर्मानुसार कईवार विनय, विवेक और विद्या आदि सद्गुण प्राप्त करते हैं, और कईवार चोरी, जारी और अन्यायादि दुर्गुण पाते हैं। उन्हीं के परिणाम स्वरूप उनको शुभ गति और दुर्गति मिलती है। इसतरह से वे चार गति रूप विशाल बाजार के अंदर व्यापारी बन, नये नये वेष धारण करते हैं।

सेठ या मुनीम, बेचनेवाले या खरीदनेवाले, वाह्य या वाहक, रोगी या निरोगी; शोकी या प्रसन्न; सन्तप्त या सन्तुष्ट; सुरूप या कुरूप; धनी या निर्धन; वैरागी या सरागी; विषयी या संयमी; लोभी या निर्लोभी मानी या सरल; मायाचारी या शुद्ध हृदयी; और मोही या निर्मोही आदि भिन्न भिन्न अवस्थाएँ जीवों की दिखाई देती हैं। मगर वस्तुतः तो इनमें से, उनका, कुछ भी सच्चा स्वरूप नहीं है।

ये सब अवस्थाएँ शुभाशुभ कर्म के कारण से हुई होती हैं। कर्म यह एक जबर्दस्त प्रगाढ लेप है जो अनादिकाल से जीव पर लगा हुआ है। जैसे जैसे उसकी ऊपर से पुराना लेप थोड़ा थोड़ा उतरता जाता है; वैसे ही वैसे उस पर नये कर्म के दलिये—कर्म के परमाणु—लगते जाते हैं। यह लेप रागद्वेष रूपी चिकनाई से गाढा चिपका हुआ है। इसीलिए वह लेप उखड़ नहीं जाता है। यदि यह चिकनाई दूर हो जाय तो, धीरे धीरे कर्म रूपी लेप भी दूर हो जाय। जबतक रागद्वेष रूपी चिकनाई कम न होगी, तबतक कर्म के परमाणु भी भिन्न नहीं होंगे। और जीव इसीतरह चौरासी लाख योनियों में रेंट की तरह फिरता रहेगा। इसलिए कर्म की दृढ़ता के कारण-भूत रागद्वेष को कम करने का विचार करना चाहिए। अनुकूल वस्तु पर राग और प्रतिकूल वस्तु पर द्वेष होता है। मगर ऐसा होने के खास कारण की जाँच करेंगे तो मालुम होगा कि वह कारण मोह—प्रपंच है। पाठक! आइए, सोचें कि इस मोहराजा का प्रपंच कितना प्रबल होता है।

मोह प्रपंच।

मोह के भिन्न भिन्न स्वरूप।

मोह राजा की प्रचंड आज्ञा संसार भर में मानी जाती है। उस मोह राजाने जगत्–जीवों के पास से दान, शील, तप और भावना रूपी शस्त्र छीन लिये हैं। और कोई छिपकर या भूल से शस्त्र न रख ले इस हेतु से उसने जीवों के पीछे ईर्ष्या, निंदा, विकथा, और वनिता रूपी चार जासूस लगादिये हैं। अगर किसी के पास दानादि हथियारों में से एक भी हथियार होता है तो ये जासूस उसको लेलेने का प्रयत्न करते हैं; और प्रायः ये अपने प्रयत्नों में सफल होते हैं। यदि कभी ये हतसफल होते हैं, तो जाकर अपने स्वामी के प्रधान कर्मचारी काम, क्रोधादि को सूचना देते हैं। काम, क्रोधादि तत्काल ही जाकर जीवों के पास से शस्त्र छीन लेते हैं। यदि कोई, बहुत मजबूत होता है; और बल से उन शस्त्रों को नहीं देता है, तो वे छल से उन वास्तविक शस्त्रों के बजाय अवास्तविक और स्वघाती शस्त्र–कुशास्त्रादि–उन के हाथ में दे देते हैं कि, जिनसे वे स्वयं भी डूबते हैं और दूसरे भी हजारों जीवों को डूबोते हैं। किसीके पास ब्रह्मचारी के

सब चिन्ह देखकर, लोग उसको ब्रह्मचारी समझने लगते हैं। कि, यह मनुष्य शीलशस्त्रवाला है। परन्तु वास्तव में तो वह दुराचारी होता है। ईर्ष्यादि चार जासूसों के स्वामीने उसके हाथ में सत्यशीलशास्त्र रूपी शस्त्र के बजाय दंभ रूपी शस्त्र दिया होता है कि, जिससे वह गुप्तरीत्या काम–चेष्टा करता है। मगर लोगों में अपने आपको ब्रह्मचारी साबित करने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार से दानी या तपस्वी का रूप धारणकर, दंभ रूपी असत्याडंबर में पड़, जीव दूसरे लोगों को ठगते हैं। ऐसे असत्याडंबर में पड़े हुए जीव, मोहराजा की गुप्त पुलिस का कार्य करता है। वे योगी बन भोगी का कार्य करते हैं। वे शास्त्रों और उपदेशों द्वारा जीवों को मोह महाराज के भक्त बनाते हैं; और असत्य कामों से आत्मकल्याण बताते हैं। जैसे वे कहते हैं कि,–"बलिदान, यज्ञकर्म और श्राद्धादि कार्यों में जो हिंसा करते हैं, वे स्वर्ग के भागी बनते हैं। इस तरह मरनेवाले पशु भी उत्तम गति को प्राप्त करते हैं।" इस भाँति वे लोगों को भ्रमाते हैं। वाममार्गी तो निर्भीकता के साथ स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि, मांस और मद्य का खान, पान करने में कोई दोष नहीं है। इतना ही नहीं वे कहते हैं कि, ऐसा करने से अन्त में मोक्ष मिलता है। प्रिय पाठक! यह महामोह की प्रबलता नहीं है तो और क्या है? मोहराजा का प्रपंच एक विचित्र ही प्रकार का है। इससे

प्रायः कोई नहीं बच सकता है। पामर प्राणी तो बिचारे हैं ही किस गिनती में ! मगर आश्चर्य की बात तो यह है कि, सर्वज्ञ के समान माने हुए, मोहके अवगुणों को सब तरह से जाननेवाले, अनेक भव्य पुरुषों का उद्धार करनेवाले, पंच-महाव्रत को यथास्थित पालनेवाले; प्रमाद के समान आत्म-शत्रुओं को दूर करनेवाले, सम्यक्त्वधारी और विश्वोपकारी पुरुषसिंहों को भी मोह महाराज लतियाने से न चूका। मोह महाराज एकवार अपनी सभा में उदास होकर बैठे हुए थे। सभाजनों के चहरों पर भी उदासीनता छाई हुई थी। उस समय मोहराजा के राग, द्वेष नामा महामंत्रियोंने पूछाः—" महाराज ! उदास क्यों हैं ? " मोह महाराजाने धीमे स्वर में कहाः—" मेरे राज्य में से एक आदमी भागकर, मेरे पक्के शत्रु **सदागम** से जा मिला है। उस **सदागमने** उस पुरुष को आश्रय देकर पूर्णतया अपने आधीन करलिया है। सदागम की सहायता से उसने मेरा सारा मर्म जगत में प्रकाशित कर दिया है। इसलिये, मुझे डर है कि, जो लोग मेरी आज्ञा को पूर्णतया पालते हैं वे भी अगर मेरे गुप्त रहस्य से परिचित हो जायँगे, तो मेरा राज्य बहुत समय तक टीका न रहेगा। इस-लिये मैं उदास हूँ। " मोहराजा की बात सुनते ही उसके कई सुभट मुस्तेदी से खड़े हुए और कहने लगेः—" महाराज ! क्षणमात्र में हम आपके अपराधी को पकड़कर आपके आधीन

करेंगे। आप कुछ चिन्ता न कीजिए।" तत्पश्चात् राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, हर्ष, मद, काम, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और हास्यादि सुभटवर्ग कटिबद्ध होकर, युद्धार्थ उस पुरुष के पास गये। तुमुल युद्ध हुआ। अन्त में उस पुरुषने मोह की सेना को परास्त कर दिया। सुभट निराश होकर अपने राजा के पास गये। राजा को उन्होंने सारा वृतान्त कह सुनाया। सुन कर उसे बड़ा दुःख हुआ। वह दुःखपूर्वक विचारने लगा कि:—अब क्या उपाय करना चाहिए ? वह इस तरह विचार कर रहा था, उस समय निद्रा और तंद्रा हाथ जोड़ कर खड़ी हुई और बोलीः—"महाराज ! जब तक हम, आपकी दासियाँ जीवित हैं, तब तक आपको चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। सब कार्य ठीक हो जायँगे। केवल आप का हाथ हमारे सिर पर चाहिए।" ऐसा कह दोनो दासियाँ वहाँ से रवाना हुईं। मार्ग में जाते हुए उनको शकुन भी अच्छे हुए। पहिले तन्द्रा उस पुरुष रत्न के पास गई। जाते ही उसका सत्कार नहीं हुआ। मगर धीरे धीरे उसने अपना प्रभाव जमा दिया। तब उस पुरुष को निद्रा लेने का विचार हुआ। इतनेही में निद्रा भी आ पहुँची। वह पुरुष झोके खाने लगा। इससे स्वाध्याय में विघ्न पड़ने लगा। तब उस पुरुष के गुरु वृद्ध मुनिने शान्ति के साथ कहा:—"महानुभाव ! स्वाध्याय कैसे

बंद किया ? " उस पुरुषने उतर दियाः—" महाराज प्रमाद ही आया । " वृद्ध मुनिने फिर भी उस पुरुष को टोका। उसने यही उत्तर दिया कि 'प्रमाद' हो आया । पुरुष विशेष रूपसे स्वाध्याय के लिए तत्पर होता था, इतने ही में निद्राने उस पर अपना पूरा अधिकार जमा लिया । वृद्ध मुनिने उसको पुकारा, मगर वह नहीं बोला । इस लिए उसने और जोरसे पुकारा, तब उस पुरुषने उत्तर दियाः—" मैं अर्थ की विचारणा कर रहा हूँ । ज्यादा गड़बड़ न करो । " इस तरह से निद्राने उस पुरुष को असत्य और क्रोध के आधीन कर दिया । वृद्ध मुनिने कहाः—" मुनि को असत्य नहीं बोलना चाहिए और क्रोध को छोड़ना चाहिए । " यह सुन कर निद्राभिभूत मुनिने कहाः—" हाँ, जूठ भी बोला और क्रोध भी किया । जाओ तुमसे बने सो करो । मुझ में शक्ति होगी तो मैं स्वयमेव अपना निर्वाह कर लूँगा ।

इस प्रकार से एक एक करके उस मुनि के ऊपर मोह राजा के सुभट अधिकार करने लगे । अंत में वृद्ध गुरुने उस पुरुष को मुनि समुदाय में से बाहिर निकाल दिया । जब वह निराश्रय हुआ तब मोहराजा के सब सुभटोंने उस पर एक साथ हमला किया और वे उसको पकड़ कर मोहराजा के राज्य में ले गये । इस तरह यह पुरुष परम्परा से मरण पाकर जब निगोद में चला गया तब मोहराजा का कलेजा ठंडा हुआ । "

जिन को मोहराजा की दुष्टता सम्पूर्ण रीत्या देखनी हो, उन्हें चाहिए कि वे उपमितिभवप्रपंचाकथा; वैराग्य कल्पलता और मोह पराजय नाटक आदि ग्रंथ देखें।

मोह की प्रबलता कम होने से रागद्वेष कम होते हैं; रागद्वेष के घटने से अनादि कर्मलेप की कमी होती है; और कर्मलेप की कमी से कई अंशों में आत्मस्वरूप की झलक दिखाई देती है। इस लिए मोहराजा को जीतने के लिए अपने पास, दान, शील, तप और भावनादि शस्त्रों को रखने की आवश्यकता है। इसी तरह ईर्ष्या, निंदा, विकथा और वनिता रूपी जासूसों और क्रोध, मान, माया, लोभ और कामादि उनके स्वामियों के हाथ से सुरक्षित रहने के लिए वैराग्य रूपी किले की जरूरत है। जो पुरुष वैराग्य रूपी किले में रहता है, उसके शस्त्रों को कोई नहीं छीन सकता है। पुरुष को मार्गानुसारी के गुणों की प्राप्ति भी वहीं से होती है। उसके बाद सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। यह रत्न अनादिकाल के कर्मलेप को उखाड़ देने में सर्वोत्कृष्ट औषध है। इसके बाद व्रतादि की प्राप्ति होती है। व्रतादि कर्मलेप को जड़मूल से उखाड देते हैं। इसलिए कर्मलेप को नाश करने के मूल कारण; और दानादि शस्त्रों के रक्षक वैराग्यदुर्ग की खास जरूरत है। वैराग्य होने के अनेक कारण हैं। उन मे मुख्य कारण सदु-

पदेश है। सदुपदेश से मनुष्य को संसार की असारता का भान होता है। और इससे वैराग्य वृत्ति की अभिवृद्धि होती है।

यहाँ वैराग्यवृद्धि के कारणों का उल्लेख करना आवश्यक है।

वैराग्य वृद्धि के कारण।

मानसिक बलादि।

अधुवं जीविअं नच्चा, सिद्धिमग्गं विआणिया।
विणिअट्टिज्ज भोगेसु, आउं परिमिअप्पणो॥
बलं थामं च पेहाए सद्धामारुग्गमप्पणो।
खित्तं कालं च विन्नाय तहप्पाणं निजुंजए॥
जरा जाव न पीडेइ वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायन्ति ताव धम्मं समायरे॥

भावार्थ—हे जीव! जीवन को अस्थिर, मोक्षमार्ग को ज्ञानादि रत्नत्रय स्वरूप और आयुष्य को परिमित (सौ वर्ष की हदवाला) समझ कर भोगों से निवृत्त हो। (१)

अपने मानसिक और शारीरिक बल को देख कर, श्रद्धा और आरोग्य को जाँच कर और क्षेत्र व काल को जान कर आत्मा को धर्मानुष्ठान में लगा।

जब तक बुढापेने अधिकार नहीं किया है, जब तक रोगने शरीर में अपना अड्डा नहीं जमाया है और जब तक इन्द्रियाँ क्षीण नहीं हुई हैं, तब तक हे जीव ! अपना समय धर्म करने में लगा।

दूसरी गाथा में 'बल' शब्द का प्रयोग किया गया है। उसका अभिप्राय यह है कि, यदि शरीर में बल हो और मन में बल न हो तो धर्म करना बहुत कठिन होता है। इसलिए 'बल' शब्द से यहाँ मानसिक बल समझना चाहिए। मानसिक बल के विना परिसह और उपसर्ग सहन नहीं हो सकते हैं। तो भी केवल मानसिक बल से ही कोई भी क्रिया कार्यरूप में परिणत नहीं की जा सकती है। इसलिए दूसरे 'थाम' शब्द से शारीरिक बल को समझना चाहिए। शारीरिक बल के विना तप, जप, ध्यान, परोपकार और क्रियाकांड नहीं हो सकते हैं। मानलो कि, किसी को शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के बल प्राप्त हो गये हों, मगर चारित्र धर्म पर श्रद्धा न हो तो भी काम नहीं चलता है। श्रद्धा विना जो क्रिया की है, वह बेगार रूप होती है। बेगारी यदि बेगार अच्छी तरह करता है, तो उसका ऊपरवाला; बेगार में पकड़ ले जानेवाला उसको नहीं मारता है। इसीतरह द्रव्य क्रिया करनेवाला कभी नरकादि दुर्गतियों के दुःख नहीं पाता है। मगर जो क्रिया श्रद्धा के विना की जाती है, वह कभी कर्मक्षय का कारण

नहीं होती है। हाँ, बेगारी यदि बेगार करने में लुचपन करता है तो वह पिट जाता है; इसीतरह श्रद्धा विना की क्रिया करने-वाला क्रिया करने में दंभ करता है, बड़े भारी दंड का पात्र होता है। श्रद्धा के बाद आरोग्य बताया गया है। इसका कारण यह है कि, यदि किसी को मानसिक और वाचिक बल भी मिल गया हो और श्रद्धा भी हो तो भी यदि आरोग्य नहीं है तो कुछ भी नहीं है। आरोग्य के विना धर्म की आरा-धना नहीं हो सकती है। इसलिए धर्म साधन में आरोग्य की भी खास आवश्यकता है। मानसिक और शारीरिक बल भी हो, श्रद्धा भी हो, और आरोग्य भी हो, मगर यदि योग्यक्षेत्र न हो तो धर्म की साधना नहीं हो सकती है। इसलिए धर्मसाधन के लिए निरुपद्रव क्षेत्र की भी आवश्यकता है।

उक्त पाँच बातें अनुकूल मिल गई हों, मगर यदि काल अनुकूल न हो तो भी धर्मसाधन में न्यूनता होती है। क्योंकि योग्य काल प्राप्त हुए विना कृतक्रिया फलदायिनी नहीं होती है। किसान गेहूँ बोने के समय कभी बाजरा नहीं बोएगा और यदि बोएगा तो उसको पछताना पड़ेगा। इसलिए धर्मसाधन में काल की भी खास आवश्यकता है। ऊपर बताई हुई छः वस्तुएँ ठीक मिलने पर भी यदि बुढापा आ गया होता है तो, शारी-रिक बल पूरी तरह से काम नहीं कर सकता है; इसलिए निर्धारित

धर्म की साधना पूरी तरह से नहीं होती है। इसी लिए शास्त्रकार कहते हैं कि, बुढापा आने के पहिले ही धर्म की साधना करो। शरीर में करोडों व्याधियाँ गुप्त रूप से रही हुई हैं। वे प्रकट हों उसके पहिले ही धर्म का साधन करना चाहिए। उनके पूर्णतया प्रकट हो जाने से मानसिक और शारीरिक बल में व्याघात पहुँचता है। इसलिए व्याधियों के व्यक्त होने के पहिले ही धर्म की आराधना करनी चाहिए।

तत्पश्चात् अन्तिम श्लोक के उत्तरार्द्ध में बताया गया है कि, इन्द्रियाँ क्षीण हों इसके पहिले ही धर्म साधने का समय है। इन्द्रियाँ जैसे कर्मसाधन में कारण हैं, वैसे ही धर्मसाधन में भी कारण है। यदि इन्द्रियाँ खराब होती हैं, तो पुरुष धर्म साधन के योग्य नहीं रहता है। जैसे अंधा आदमी चारित्र धर्म के योग्य नहीं होता है। क्योंकि, उससे जीवदया की सहायभूत इर्यासमिति नहीं पाली जाती है। जिसकी स्पर्शनेन्द्रिय खराब होती है, वह विहारादि क्रिया नहीं कर सकता है। आदि कारणों से इन्द्रियों का निरोग रहना अत्यावश्यक है। इसलिए धर्मसाधन की समस्त सामग्री पाने पर भी जो प्रमाद करता है, उसका कार्य फिर कभी सिद्ध नहीं होता है। इसलिए यदि वैराग्य वृद्धि करनी हो तो खास तौर से प्रमाद का त्याग करो।

कषाय त्याग ।

जैसे प्रमाद त्याग करने योग्य है, इसीतरह उसके पुत्र क्रोधादि कषाय भी त्याग करने योग्य हैं। क्योंकि क्रोधादि शत्रु सदैव आत्मा का अहित ही करनेवाले हैं। यह बात निम्न लिखित गाथा से ज्ञात होगी।

कोहं च माणं च मायं च लोभं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसे उ इच्छंतो हिअमप्पणो ॥

भावार्थ—अपने आत्म-हित को चाहनेवाले को चाहिए कि वह पाप को बढ़ानेवाले क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग कर दे।

कारण यह है कि, क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान विनय को नष्ट करता है, माया मित्राचार को नष्ट करती है और लोभ, प्रीति, विनय और मित्राचार तीनों को नष्ट करता है। इसलिए ये चारों कषायें दूर करने योग्य हैं। इनको दूर करने का उत्तम औषध इस गाथा में बताया गया है कि:—

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायमज्जवभावेण लोभं संतोसओ जिणे ॥

भावार्थ—उपशम भावों से क्रोध को, मृदुतासे मान को, सरल भावों से माया को और संतोष से लोभ को जीतना चाहिए।

जो शान्त स्वभावी होता है उसको प्रायः क्रोध नहीं आता है। यदि कभी आ जाता है तो वह, उपशम भावों से उसको तत्काल ही मिटा देता है। इससे क्रोध के परिणाम, दुर्गति से वह बच जाता है। नम्र भावों से मान पास में हो कर भी नहीं फटकता है। सरल भाव तो माया का कट्टा शत्रु ही है। और सन्तोष लोभ का जानी दुश्मन है। लोभाधिकार में यह बात भली प्रकार से समझादी गई है। कषायें क्या करते हैं?

कोहो अ माणो अ अणिग्गहाआ,
माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स॥

भावार्थ—वश में नहीं किये गये क्रोध और मान व बढ़ते हुए माया और लोभ—ये चारों कषायें—जन्मांतर को बढाने के कारणभूत पापरूपी वृक्ष को सिंचन करते हैं।

माया का कारण मान और क्रोध का कारण लोभ है। अर्थात् मान से माया पैदा होती है और लोभ से क्रोध पैदा होता है। इसलिए पहिले मान और लोभ इन दोनों को दूर करना चाहिए। निरभिमानी पुरुष कभी माया नहीं करता है। पुरुष माया इसी लिए करता है कि, जिससे उसका मान भंग न हो, और इस तरह मान की रक्षा के लिए वह हतभागी दांभिक

बनता है। उसकी वृत्ति दांभिक हो जाती है; परन्तु बाद में वह मान भी मर्दित हो जाता है कि, जिसके लिए वह हतभागी दंभी बनता है; और परिणाम में अपमान का बहुत बड़ा बोझा सिर पर रख कर, भवचक्र में गौते मारता है। लोभ के जोरसे जीव क्रोधाधीन होता है। किसी को धन का लोभ होता है, किसी को कीर्ति का लोभ होता है और किसी को हुकूमत का लोभ होता है। धनके लोभ से व्यापारी लड़ते हैं; और कचहरियों में जाते हैं। और इतने क्रोधांध हो जाते हैं कि अपनी एक पाई के लिए सामनेवाले के लाखों रुपयों का खर्चा करा करा देते हैं। कीर्ति के लोभी पुरुष सदा विवेक शून्य हो कर, कीर्ति को धक्का पहुँचाने पर अत्यंत क्रुध होते हैं और उस पर मानहानि का केस चलाते हैं; उसकी कीर्ति को कलंकित करने का भरसक प्रयत्न करते हैं। हुकूमत के लोभी अपने हुकम का अपमान होने से क्रोधांध होकर जीवहत्या करने में भी आगा पीछा नहीं करते हैं। मानी वे लाखों मनुष्यों का प्राणविघातक भयंकर युद्ध प्रारंभ करते हैं। इसलिए क्रोध को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए कि, जिससे क्रोध तत्काल ही शान्त हो जाय। चार कषायें जैसे पाप के कारण हैं, वैसे ही पाप भी कषायों का कारण है। जैसे जन्म पाप का कारण है, वैसे ही पाप जन्म का कारण है। इस तरह अन्योऽन्य कार्य कारण भाव है। इसलिए कषायों को छोड़ोगे तो पाप छूटा जायगा। इसी

प्रकार पाप का त्याग करोगे तो कषाय छूट जायँगे। इस तरह यह बात सिद्ध होती है कि, जन्म के अभाव से पाप का अभाव होता है और पाप के अभाव से जन्म का अभाव होता है। तात्पर्य कहने का यह है कि, मान और लोभ के त्याग से चारों कषाय छूट जाते हैं। वैराग्य के रंग में पूर्णतया वही रंगा जाता है जो कषायों को छोड़ देता है; और पूज्य भी वही बनता है। कहा है कि:—

सक्का सहेउं आसाइ कंटया, अओ मयाउच्छहया नरेणं।
अणासए जो उ सहिज्ज कंटए, वईमए कन्नसरे स पुज्जो॥

भावार्थ—आशा से मनुष्य लोहे के काँटे सहन कर सकता है (कई वेषधारी पुरुष लोहे के खीलेवाले पटड़े पर सोते हैं।) मगर ऐसे पुरुष भी वचन रूपी काँटों से घबरा जाते हैं। इसलिए पूज्य मनुष्य वही होता है, जो आशारहित हो–कठोर वचन रूपी काँटों के कानों में प्रविष्ट होने पर भी समभावी रहता है।

बाणों के घाव समझाते हैं; मगर वचन के घाव कभी नहीं रूझते हैं; वे जीवन पर्यंत रहते हैं; मरते तक कठोर वचन याद आते हैं। इसी लिए वचन ज्यादा दुःखदायी होते हैं। इन वचनघावों को वही सह सकता है जो कषाय–विजयी होता है। दूसरे उसकी पीड़ा को नहीं सह सकते हैं। द्रव्यार्थी मनुष्य युद्ध में जा कर बाण, तलवार, बंदूक आदि के प्रहार सहन करते

हैं। व्यापारी लोग कर्जदारों के वचन सहते हैं; उनकी खुशामद करते हैं; बाबा लोग लोहके कीलों पर सोते हैं; और ब्राह्मण द्रव्यही के लालच से पंचकेश बढ़ाते हैं। मगर जो आत्मार्थी पुरुष होते हैं, वे सामनेवाले पुरुष की सब शुभ या अशुभ बातें समभाव से सहते हैं। इसी लिए वे पूज्यतम या सच्चे वैरागी गिने जाते हैं। कहा है कि:—

समावयंता वयणाभिघाया, कन्नं गया दुम्मणिअं जणंति।
धम्मुत्ति किच्चा परमग्ग सूरे जिइंदिए जो सहइ स पुज्जो ॥

भावार्थ—जब वचन रूपी प्रहार सामने से आ कर कानों में प्रवेश करते हैं; तब वे मन को खराब कर डालते हैं। उन्हीं प्रहारों को समता प्राप्त पुरुष–'मेरा सहने का स्वभाव है' यह समझ (वैराग्य वृत्ति से)-सहन करते हैं। वे ही पुरुष परम शूर जितेन्द्रिय महापुरुष और पूज्य गिने जाते हैं। पूज्य होने का वास्तविक उपाय कषाय–विजय यानी वैराग्य–वृद्धि ही है।

मोहादि का त्याग।

वैराग्य-वृद्धि की इच्छा रखनेवाले मनुष्य को मोहादि का भी त्याग करना जरुरी है। जबतक मोह, राग, द्वेषादि कम नहीं होते हैं, तब तक वैराग्य की अभिवृद्धि नहीं होती है। इसलिए कहा गया है कि:—

अहो ! संसारकूपेऽस्मिन् जीवाः कुर्वन्ति कर्मभिः ।
अरघट्टघटीन्यायेनैर्हिरेयाहिरां क्रियाम् ॥

भावार्थ—अहो ! इस संसाररूपी कूप के अंदर, जीव अपने कर्मों के कारण से रेंट की घेड़ों की तरह, आनेजाने की क्रिया करते हैं। अर्थात् अरघट्ट-रेंटकी घेड़ जैसे एक भरती है और दूसरी खाली हो जाती है; इसी भाँति इस संसार में एक मरता है और दूसरा जन्म लेता है। तो भी मनुष्य अपने जीवन को व्यर्थ ही बरबाद कर देता है। कहा है किः—

धिग् धिग् मोहान्धमनसां जन्मिनां जन्म गच्छति ।
सर्वथापि मुधैवेदं सुप्तानामिव शर्वरी ॥

भावार्थ—जैसे सोते हुए पुरुषकी रात्रि व्यर्थ जाती है वैसे ही मोहसे अंधे बने हुए प्राणियों का जीवन सर्वथा व्यर्थ जाता है। यह बात अत्यंत धिक्कारने योग्य है।

मोहराजा के राज्य में रहनेवाले मनुष्य खेलने कूदने में समय बिताते हैं; बालचेष्टाएँ करते हैं; और उद्यानों में जाकर कर्म के हेतुभूत शृंगार रस में मग्न हो—मस्त हो संसार की अभिवृद्धि करते हैं। उस समय वे यह भी भूल जाते हैं कि, उनका धर्मके साथ भी कुछ संबंध है। वे मनुष्य जन्मरूप कल्प-वृक्ष के दान, शील रूप उत्तम फलों को लेनेकी परवाह न कर कामरूपी करीर वृक्षके विषयरूपी कटु फलों को लेता है। इसी

लिए शास्त्रकार ऐसे लोगों को धिक्कारते हैं और उन्हें सोते हुए मनुष्य को वृथा रात बितानेवाले के समान वृथा जीवन बितानेवाला बताते हैं। और भी कहा है कि:—

एते रागद्वेषमोहा उद्यन्तमपि देहिनाम्।
मूलाद् धर्मं निकृन्तन्ति मूषका इव पादपम्॥

भावार्थ—चूहा जैसे वृक्ष की जड़ को काट डालता है; वैसे ही राग, द्वेष और मोह प्राणियों के बढ़े हुए धर्म को—वैराग्य को जड़मूल से काट डालते हैं।

राग द्वेष और मोह की त्रिपुटी तीनों लोक को बरबाद करती है। राग और द्वेष दोनों सहचारी हैं। जहाँ राग होता है वहाँ गौणता से द्वेष भी रहता है। जहाँ द्वेष होता है, वहाँ रागकी भी विषम-व्याप्ति होती है। अर्थात् जहाँ द्वेष होता है, वहाँ थोड़ा बहुत राग भी गौणरुप से रहता है। कहीं सर्वथा नहीं भी रहता है। जैसे पति, पत्नी में; गुरु, शिष्य में; पिता, पुत्र में और भाई, बहिन में; यदि किसी कारण से द्वेष होजाता है; तो भी उनमें थोड़ा बहुत राग अवश्यमेव रहता है; परन्तु यदि प्रतिस्पर्द्धियों में जैसे राजा, राजामें; सेठ, सेठमें; और पंडित, पंडितमें; कभी द्वेष होजाता है तो वहाँ, गौणरूप से राग रहता है यह नहीं कहा जा सकता है। जहाँ राग, द्वेष होते हैं; वहाँ मोह अवश्यमेव होता है। इसी तरह जहाँ रागद्वेष होता है,

वहाँ मोह भी जरूर ही रहता है। इस तरह इनकी अन्वय व्यतिरेक प्राप्ति है। जहां यह त्रिपुटी एकत्रित होती है, वहां इसके नौकर क्रोध, मान, माया, लोभ, रति, अरति, शोक, संताप, काम, इच्छा, प्रमाद, विकथा और ईर्ष्या आदि भी जा पहुँचते हैं। वे इकट्ठे होकर बिचारे जीव को धर्मवृक्ष के मीठे फलों को नहीं खाने देते हैं। वे उसको विषयरूपी विषवृक्ष के कड़वे फल खाना सिखाते हैं। इनके खानेसे जीव मूर्च्छित हो जाता है; फिर वह हेय, ज्ञेय और उपादेय पदार्थों की पहिचान नहीं कर सकता है। वह देव, अदेव; गुरु, कुगुरु; धर्म, अधर्म; और सत्य, असत्य किसीको नहीं जानता है। वह केवल अपनी पाँचों इन्द्रियाँ तृप्त करनेही में अपना समय बिताता है। मति को चंचल बनाकर उसको चारों तरफ दौड़ाता है। वह इस डरसे मुनियों के पास भी नहीं जाता है कि, यदि मैं मुनियों के पास जाऊँगा तो वे अपनी चतुराई से या अपने प्रभावसे; मुझे विवश करके किसी बातका नियम करवा लेंगे। जब वह मुनियों के दर्शन करने को भी नहीं जाता है, तब फिर उनके उपदेश श्रवण की तो बात ही क्या है? त्रिलोकनाथ वीतराग भगवान की पूजा और दर्शन करने का समय भी इस जीव को नहीं मिलता है। यदि कोई उसको कहता है कि,—"चलो आज मंदिर में पूजा, आँगी आदिका बहुत ठाठ हो रहा है, तो वह उत्तर देता है कि,—"हमें क्या ठाठ के दर्शन करते हैं? अवकाश मिलेगा तब

शान्ति से जाकर भगवानके दर्शन करेंगे। इस समय तो वहाँ लोगों की भीड़ होगी इसलिए मेरा मन दर्शन करने में नहीं लगेगा। तुम जाओ। मैं तो मंदिर में शान्ति होगी उस समय जाऊँगा।" इस तरह का उत्तर दे; प्रेरक को विदाकर, आप कर्म-क्लेश के पंजेमे फसता है। उसीको वह अपना कर्तव्य समझता है। वह धर्म को अधर्म बताने में भी नहीं चुकता है। यदि कोई उसको कहता है कि,–"तुम दान, शील, तप और भावना में अपना मन लगाओ, तो वह विषयलंपट जीव उत्तर देता है कि,–"भाई! मैं इतने जीवों का पोषण करता हूँ, वे सबही जीव धर्म करते हैं। अब मुझे धर्म करने की क्या जरूरत है? शास्त्रकार कहते हैं कि, दान उत्तम पात्र को देना चाहिए। मेरा आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रय युक्त है। इसी तरह वह देवरूप, और गुरुरूप और धर्मरूप भी है। उससे बढ़कर उत्तम पात्र कौन हो सकता है? मैं उसी आत्मा का विनय करता हूँ। यानी वह जो कुछ माँगता है, मैं उसको वही देता हूँ। मैं तत्काल ही अविलंब उसकी इच्छा को पूर्ण करता हूँ। उसको लेशमात्र भी क्लेश नहीं होने देता हूँ।

कई लोग तो आत्मा को भूखा, प्यासा रखते हैं। बैलकी तरह उससे अनेक कष्ट सहाते हैं। मगर मैं तो उसको ठीक नहीं मानता हूँ। शील धर्म का अर्थ यह है कि, आत्म-स्वभाव

का पालना। अनादिकाल से आत्मा का स्वभाव खाना, पीना और खेलकूद करना है। मैं ऐसाही करता हूँ। तप-धर्म अर्थात् तपना यह तो स्वभावतः ही व्यवहार में आता है। मैं लखपती बनूँ, वाडी, गाड़ी और लाड़ी के सुखका भोक्ता बनूँ; मुझ को संसार साहुकार कहे; मेरा हुक्म जगत माने आदि।" इस प्रकार उन्मत्तता पूर्ण वचन बोल, मोह से मूर्च्छित हो, जीव वृथा ही अपना जन्म गँवाता है। इसलिए मनुष्यों को सबसे पहिले मोह का त्याग करना चाहिए। गृहस्थी की बात इस समय छोड़कर हम साधु के संबंध में विचार करेंगे, जिसने संसार का त्याग कर दिया है। वैराग्य की हीनता से राग, द्वेष और मोह की त्रिपुटि साधु को भी मूर्च्छित बना देती है; वह अकृत्यों को भी उन्हें कृत्य समझा देती है। "पुस्तक की भक्ति करनेवाला, यानी ज्ञानपद का आराधक जीव तीर्थंकर गोत्र बाँधता है।" इस वाक्य के द्वारा, महामल्ल मोह से हारा हुआ जीव उल्टा उपदेश देनेके लिए कटिबद्ध होता है। आप भी कुमार्ग को—उल्टे मार्ग को—सीधा मार्ग मान बैठता है और इस तरह वह अपने आपको और भद्र प्रमाणी जीवों को भव-कूप में डालने का प्रयत्न करता है। वह पुस्तकें लिखाता है, लिखी हुई पुस्तकें खरीदता है और उनके लिए नये ढंग से उप-देश देकर वह श्रावकों के पाससे पैसे निकलवाता है। लिखित और मुद्रित पुस्तकें जब उसके पास बहुत हो जाती हैं, तब वह

सुंदर और बढ़िया आल्मारियाँ मोल लेता है; अथवा खास तरह से बढ़िया नवीन आल्मारी बनवाता है। तत्पश्चात् उस आल्मारी को रखने के लिए वह श्रावकों को पत्थर का घर बँधवा देने का उपदेश देता है। उन्हें समझाता है कि, पुस्तकों की रक्षा करने में अनंत पुण्य है। शास्त्रों में ज्ञान–चैत्य होना बताया गया है, इसलिए इस समय ऐसा होना चाहिए। बेचारे श्रावक भक्तिभावों से और शुभ फल की आशा से पचीस, पचास हजार रुपयों का खर्चा करते हैं। और मकान बनवा देते हैं। तत्पश्चात् वे मुनिश्री भी दो चार महीने तक के लिए पुस्तकों पर कव्हर चढ़ाने में, छपे हुए पुस्तकों पर रेशमी कपड़े का पुट्ठा लगवाने में और पुस्तकें बराबर रखने को डिब्बे बनवाने के कार्य में, इतने निमग्न हो जाते हैं; जितने की हंगाम के मौके पर–फसल के मौके पर–व्यापारी हो जाते हैं। व्यापारियों को उस मौके पर जैसे रोटी खानेकी भी बड़ी कठिनता से फुर्सत मिलती है; इसी तरह मुनिश्री को भी आहार पानी के लिए जाने के लिए भी बड़ी कठिनता से फुर्सत मिलती है। साधुओं को इसतरह काम में निमग्न देखकर यदि कोई श्रावक सरलता से आकर पूछता है कि, महाराज आप के पीछे यह क्या उपाधि है ? तो वे उत्तर देते हैं:—“ हे महाभाग्य, यह तो ज्ञान की भक्ति है, ज्ञानभक्ति करनेवाला भी उत्तम फल पाता है।” यह उत्तर सुनकर श्रावक मन ही मन समझ जाता है कि, महाराज

के पीछे भी मोह महाराज अच्छी तरह से लग गये हैं; परन्तु महाराज को बुरा न लगाने के लिए वह यह कहकर चुप हो जाता है कि,–" हाँ महाराज आप तो हरेक कार्य दुनिया के लाभ के लिए ही करते हैं।" इसतरह जाँच करेंगे तो ज्ञात होगा कि, कई साधुओं के पास दस हजार ग्रंथ लिखे मिलेंगे, किसी के पास बीस हजार और किसी की पास छोटी मोटी मिलाकर एक लाख पुस्तकें मिलेंगी, मगर उनमें से उन्होंने पढ़ी तो केवल दस बीस पुस्तकें ही होंगी। सारे जन्मभर यदि कोई पढ़ेगा तो केवल सौ, दो सौ पुस्तकें बाँच सकेगा। बाकी के ग्रंथ तो उनके लिए केवल भार मात्र ही है। तो भी अगर उनके पास से कोई एकाध पुस्तक माँगने जाता है, तो वे किसीको पुस्तक नहीं देते हैं। और तो क्या? किसी ग्रंथ की उनके पास दस प्रतियाँ हों तो भी वे मोह के वश होकर उनमें से एक भी कोपी किसी को नहीं देते हैं। वे उन पुस्तकों की सार सँभाल करने में अपना उत्तम चारित्र पालने का और ज्ञानवृद्धि करने का अमूल्य समय योंही बरबाद करदेते हैं। मोह के कार्य को भक्ति का कार्य मानलिया जाता है, सो यह बात अनुचित है। यह कार्य यदि परमार्थ बुद्धि से किया जाय तो वह सर्वथा अनुमोदनीय है; मगर वह मोहवश किया जाता है, इसलिए वह उन्मार्ग रूप है। कारण यह है कि वे मुनि अपने पास की पुस्तकों को ही सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते हैं। दूसरों के पास की पुस्तकों को

सुरक्षित रखने का प्रयत्न नहीं करते। हाँ यदि वे दूसरों के पास की पुस्तकों को सुरक्षित रखने का भी ऐसा ही प्रयत्न करें जैसा कि, वे अपने पास की पुस्तकों का करते हैं, तो उनकी कृति अवश्यमेव ज्ञानभक्ति हो सकती है। यदि कोई शंका करे कि, बहुत से साधु ज्ञानभंडार सुधार दिया करते हैं, उनके लिए तुम क्या कहोगे ? उसके लिए भी हम तो यह कहते हैं कि, वहाँ भी मोह दशा से कार्य किया जाता है। श्रावकों को धोखा देकर पुस्तकें चुरा ली जाती हैं; इसलिए वे पुस्तकरत्न हजारों के अधिकार में से निकलकर, एक ही के अधिकार में चले जाते हैं; और हजारों उन से लाभ उठाने से वंचित हो जाते हैं। क्योंकि वह लोभी मनुष्य दूसरे को उपयोग के लिये पुस्तकें नहीं देता है। पीछे से भंडार के अधिकारियों को जब इस बात की खबर लगती है तब उन्हें बहुत बुरा लगता है और वे भंडारों को हमेशा के लिए ताले लगा देते हैं। किसी साधु को वे भंडार नहीं बताते हैं। ऐसी कई घटनाएँ हो चुकी हैं। परमार्थ बुद्धि के लोग दुनिया में बहुत ही कम होते हैं। वास्तविक ज्ञानभक्ति करनेवाला साधु हम उसीको बतायँगे जो किसी भी पुस्तक पर मोह न रख ज्ञानचैत्य का उपदेश करे; जिससे जगज्जीव लाभ उठा सके, ऐसा ज्ञान का मंदिर बनवावे; जीर्ण पुस्तकों की फिर से प्रतिलिपि करवावे; उन पुस्तकों को सुरक्षित रखने के लिए, बनोठे और पुट्ठे बनवावे; ज्ञान का बहुमान करे, ज्ञान की

महिमा का उपदेश देवे, मन वचन और काय से ज्ञान की आसातना टाले और दूसरों को भी आसातना टालने का उपदेश देवे; आसातना करनेवाले जीव को करुणा भाव से उपदेश देवे; पाटी, पुस्तक, ठवणी कवली आदि ज्ञानोपकरण को पैर नहीं लगावे; ज्ञान की चीजें अपने पास रखकर आहार, निहार न करे; पुस्तक को नाभि के निम्न भाग में न रक्खे; सोते हुए पुस्तक न पढे; पुस्तक को अधुनिक शौकीन पढ़नेवालों की भाँति उल्टी न रक्खे; पुस्तक को उठाते धरते बहुमानपूर्वक नमस्कार करे; अजान में भी यदि पैर लग जाय तो उठ कर तीन खमासमण देवे। किसी भी भाषा या लिपी में लिखे हुए पुस्तकों की अवज्ञा न करे; न उनको फाड़े ही। और तो क्या साबुन पर लिखे हुए अक्षर भी अपने हाथों नष्ट न हो इसका ध्यान रक्खे। भव्य जीवों को भी ऐसा ही करने की सम्मति देवे; और आहार निहार करता हुआ न बोले; आहार करते समय यदि बोलने की आवश्यकता हो तो मुँह साफ करके बोले। ऐसे ही लोग सच्चे आराधक होते हैं और उत्तम फल की प्राप्ति करते हैं। जो केवल मोहाधीन हो कर ही पुस्तक की रक्षा करते हैं वे मोह को बढ़ाते हैं; अकृत्य को कृत्य समझते हैं; उन्मार्ग को मार्ग मानते हैं; और अठारह पापथान कों में से उत्पन्न हुए श्रावक के पैसे को कूए में से, गड्ढे में डलवाते हैं। कारण यह होता है कि, वे इकड्ठे किये हुए ग्रंथ किसी को बिगड़ने के भय से देते नहीं हैं। इतना ही नहीं

वे मरते समय भी अपने शिष्यों को या श्रावकों को नहीं दे सकते हैं। ये सारी विडंबनाएँ मोह की की हुई हैं। इसलिए हे भव्यो ! मोह का त्याग करो; वैराग्य में चित्त लगाओ और वैराग्य भावों के उपदेशक श्लोकों का खूब ध्यानपूर्वक मनन करो। देखो, यह सहचारी-शरीर भी अपना नहीं है और अपने साथ रहने का भी नहीं है।

शरीर की दुर्जनता।

विधाय सहजाशौचमुपस्कारैर्नवैर्नवैः।
गोपनीयमिदं हन्त ! कियत्कालं कलेवरं ॥

भावार्थ—स्वभाव से ही जो अशौच और अपवित्र है; ऐसे शरीर को नये नये उपायों द्वारा कब तक सुरक्षित रख सकोगे ? अन्तमें तो वह कभी रहनेवाला नहीं है।

सत्कृतोऽनेकशोऽप्येश, सत्क्रियेत यदापि न।
तदापि विक्रियां याति कायः खलु खलोपमः ॥

भावार्थ—शरीर दुर्जन की उपमावाला है। क्योंकि इस शरीर का बारंबार सत्कार किया जाता है; तो भी वह एकही बार सत्कार न पाने से विकृत होजाता है।

असत्पुरुषों का बारबार खान, पान, सन्मान आदि से सत्कार किया जाने पर भी यदि एकाधवार उसमें कमी होजाय

तो वे शत्रु होजाते हैं; और उनके लिए जितने भले काम किये गये थे उन सब को वे अवगुण रूप मानने लगते हैं। काया भी ऐसी ही है। हमेशा उसकी सेवा कीजिए, और एकबार जरा सरदी या गरमी लग जाने दीजिए; उस समय उसकी परवाह न कीजिए वह तत्काल ही आपसे विपरीत होजायगी। वह आपका कोई कार्य नहीं करेगी। इसीलिए काया को खलकी उपमा दी गई है। यह बहुत ही ठीक है। जैसे सज्जन खलका विश्वास नहीं करते हैं इसी तरह धर्मात्मा भी शरीर का विश्वास नहीं करते हैं। वे यही कहते हैं कि,—"यह न जाने कब और कैसी अवस्था में विपरीत हो बेठे, इसलिए ये जब तक आज्ञा पालता है, तब तक इस चंचल शरीर से निश्चल धर्मादि कृत्य करा लेने चाहिए। यह कथन सर्वथा उचित है। कहा हैः—

> अहो ! बहिर्निष्पतितैर्विष्ठामूत्रकफादिभिः ।
> दूणीयन्ते प्राणिनोऽमी कायस्यान्तःस्थितैर्न किम् ? ॥

भावार्थ—आश्चर्य है कि, शरीर में से निकले हुए विष्ठा, मूत्र और कफादि से लोक घृणा करते हैं; परन्तु जब ये शरीर में होते हैं, तब इनसे घृणा क्यों नहीं करते हैं !

यह शरीर विष्ठादि अशुचि पदार्थों से भरा हुआ है। उसके नवों द्वारा में से उसके अन्दर जो कुछ है वह बाहिर निकलता है। जब वह बाहिर आता है तब उससे घृणा होती है। मगर

जब तक वह अंदर रहता है, तब तक उसका कुछ भी विचार नहीं किया जाता। इतना ही नहीं, लोग उल्टा उससे प्रेम करके नरक में जाते हैं।

स्तन जंघादि शरीर को कोई यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखेगा तो फिर वह कभी इनमें प्रेम नहीं करेगा। मगर रागांध पुरुष उनको तत्त्वदृष्टि से न देख कर कामदृष्टि से देखते हैं; उनको कनक-कलशादि की उपमा देते हैं और भोले लोगों को राग-फाँस में फँसाते हैं। मगर आत्मार्थी पुरुषों को इससे बचना चाहिए। प्रत्यक्ष अशुचि पदार्थ जिसमें मालूम होते हैं उसमें मोह नहीं करना चाहिए। प्रत्युत उससे उपराम होना चाहिए कि, जिससे भव परम्परा कम हो। देखो शरीर के संयोग से प्राणि कैसे कैसे अनर्थ करते हैं ? :—

> रोगाः समुद्भवन्त्यस्मिन्नत्यन्तातङ्कदायिनः ।
> दंदशूका इव क्रूराः जरद्विटपकोटरे ॥
> निसर्गाद् गत्वरश्चायं कायोऽब्द इव शारदः ।
> दृष्टनष्टा च तत्रेयं यौवनश्रीस्तडित्निभा ॥

भावार्थ—जीर्ण शरीर के कोटर में—वृक्ष की गुफा में—जैसे अत्यन्त क्रूर सर्प होते हैं, वैसे ही शरीर में भी अत्यन्त कष्टदायी रोग उत्पन्न होते हैं। शरद ऋतु के मेघ के समान, काया स्वभाव से ही मिट जानेवाली है; इसमें युवावस्था की शोभा क्षणिक चमकनेवाले बिजली के समान चपल है।

सर्प जैसे वृक्ष के कोटर में रहते हैं, वैसे ही, शरीर में रोग रहने हैं। सर्प जैसे प्राणों के हर्ता हैं वैसे ही रोग भी प्राणों को हरण कर लेते हैं। शरीर तो स्वभावतः चला जानेवाला है ही; मगर उसमें युवावस्था की जो लक्ष्मी है वह तो उससे भी बहुत पहिले पलायन कर जानेवाली है। इसलिए उस यौवनश्री को पा कर शुभ कार्य करने चाहिए। कहा है कि:—

आयुः पताकाचपलं तरङ्गचपलाः श्रियः।
भोगिभोगनिभा भोगाः संगमाः स्वप्नसन्निभाः ॥

भावार्थ—आयुष्य ध्वजा की भाँति चपल। समुद्र की तरंगों के समान सम्पत्ति अति चपल है; भोग सर्प–फणों के समान भयंकर हैं और संभोग स्वप्न के समान हैं।

जो आयुष्य अमूल्य है; लाख स्वर्ण–मुद्राएँ देने पर भी जो नहीं मिलनेवाला है; और इन्द्रादि देव भी जिस को बढ़ा नहीं सकते हैं; वही आयुष्य पताका के समान चंचल है। इसलिए चंचल आयुष्य के अंदर निश्चल आत्मकार्य और परोपकार करना चाहिए। लक्ष्मी समुद्र की तरंगों के समान अस्थिर है। अस्थिर स्वभाववाली लक्ष्मी का सदुपयोग सुपात्रदान है। सुपात्रदान के प्रभाव से अस्थिर स्वभाव छोड़ कर, स्थिर स्वभाववाली हो जाती है।

भोग इस भव में और परभव में भी दुःख देनेवाले हैं।

कहा है कि–" भोगे रोगभयम् । " (भोग में रोग का भय रहता है ।) इस वाक्य से भोग इस भव में कड़वे फल देनेवाले सिद्ध होते हैं । और भवान्तर में नरकादि गतियों का देनेवाला होता है । इसलिए भोगों को सर्पफणादि की जो उपमा दी गई है वह बहुत ही उचित है । पुत्र, पौत्र; भाई, बहिन; माता, पिता; और धन, धान्यादि के संगम भी स्वप्न के समान हैं । जैसे स्वप्न के पदार्थ स्वप्ने में ही अच्छे मालुम होते हैं; परन्तु जागृतावस्था में वे मिथ्या मालूम होते हैं । इसी तरह इनका–पुत्रादि का–मेल भी इस जीवन तक ठीक जान पड़ते हैं; परन्तु जीवन के अभाव में–परभव में–ये मिथ्या हो जाते हैं । मगर जीव मिथ्या संगम के लिए सच्चा पापकर्म करता है । और वह पापकर्म परभव में भी जीव के साथ जाता है । कुटुंब के लिए जीव पाप का ढेर लगाता है । पापकर्म करके धन इकट्ठा करता है । मगर अन्त में धन तो कुटुंब खा जाता है और पाप उसको भोगना पड़ता है । पाप में से हिस्सा लेनेवाला कोई भी नहीं है । यदि कोई पाप का भाग लेने की स्वीकारता भी दे, तो ऐसा होना अशक्य है । कृत पुण्य, या पाप जीव को स्वयं ही भोगना पड़ता है ।

संसार की स्वार्थ परता ।

संसार स्वार्थ का सगा है । सब जानते हैं कि माता को

पुत्र पर अत्यंत प्रेम होता है; वह अपने पुत्र के मरण की इच्छा कभी नहीं करती है; परन्तु पुत्र जब किसी असाध्य रोग में फँस जाता है; माता को लगातार रात दिन दो चार महीने तक, उसकी शुश्रूषा करनी पड़ती है; तब माता भी घबरा जाती है और वह कहने लग जाती है कि,—" लड़का अब या तो मर जाय या, अच्छा हो जाय तो ठीक है। " ये शब्द घबराने पर ही निकलते हैं कि—" मरे न माचो छोड़े। "

इस विषय में हम यहाँ एक सेठ का दृष्टान्त देते हैं।

"किसी शहर में धनपति सेठ का पुत्र अपने मित्रों के साथ नगरसे बाहर गया था। उस समय उसकी भलाई के लिए उसके एक मित्रने उसको कहा:—"इस संसार में धर्म के विना जीव का कोई शरण नहीं है। रक्षा करनेवाला केवल धर्म ही है। माता, पितादि परिवार सब मतलबी है।" यह सुन सेठ के पुत्रने कहा:—" बन्धु ! तुम कहते हो सो ठीक है; मगर मेरे माता पिता वैसे नहीं हैं। " दूसरे दिन दोनों मित्र एक तालाब पर गये। तालाब सूख गया था, इसलिए वहाँ कोई मनुष्य आता जाता नहीं था। और इसी हेतु से वहाँ क्रूर सर्पादि का निवास हो गया था। यह देख कर उसका मित्र बोलाः— " बन्धु ! देख। इस तालाब में पानी था, तब कितने लोग इस तालाब पर आते थे। कोई स्नान संध्यार्थ आता था और

कोई स्वच्छ वायु सेवनार्थ। मगर अभी कोई नही आता। इसका कारण यही है कि, इसमें पानी नहीं रहा इससे यह सिद्ध है कि लोगों को तालाब से कोई मतलब नहीं है जल से मतलब है। इसी तरह दुनिया में भी स्वार्थ की सगाई है। शरीर की नहीं। जीव के निकल जाने पर लोगों का शरीर से कुछ स्वार्थ नहीं सधाता है; इसलिए लोग उसको अग्नि में जला देते हैं।" मगर शेठ का पुत्र कुछ नहीं समझा। तीसरे दिन दोनों मित्र वन में जा रहे थे। मार्ग में एक सूखा हुआ बड़ का झाड मिला। उसको देखकर मित्र बोलाः–"बन्धु! दो महीने पहिले इस वट वृक्ष पर पक्षी घोंसले बना बनाकर रहते थे; चाँ चूँ करके वृक्ष को गुंजा देते थे; मुसाफिर इसके नीचे विश्राम करते थे, और गवाले गउओं को इसके नीचे बिठाकर निश्चल योगी की भाँति आराम से ठंडी साया में सोते थे। मगर अभी कोई भी नहीं है। इसका कारण समझे? इसका कारण यह है कि, पहिले उनको वृक्ष की शीतल छाया मिलती थी और अब नहीं मिलती है। वृक्ष का कोई सगा नहीं है। सब ठंडी छाया के सगे हैं। इसी तरह संसार में लोग भी स्वार्थ के सगे हैं।" सेठ के पुत्र को इतना होने पर भी अपने माता पिता पर अविश्वास न हुआ। तब मित्रने पूछाः–"आज तू घर जाकर मैं कहूँ ऐसा करेगा?" सेठ के पुत्रने स्वीकारता दी।

मित्रने कहाः–"तू आते ही बेहोशसा होकर घर में पड़

जाना। कोई बोलावे तो मत बोलना; औषध खिलावे तो मत खाना। उस समय मैं योगी के वेष में तेरे पास आऊँगा। उस समय मैं प्रत्यक्ष करके दिखा दूँगा कि, तेरे माता पिता का तुझ पर कितना स्नेह है? बाद में तेरी इच्छा हो सो करना।" मित्र अपने घर गया। सेठ का पुत्र अपने घर के पास पहुँचते ही; बाहिर की तरफ ही गिर गया। सैकड़ों लोग जमा होगये। अन्त में वह म्यानेमें बिठा कर घर पहुँचाया गया। सारे कुटुंबने जमा होकर उसको चारों तरफ से घेर लिया। उसके भाई, बहिन, चाचा, चाची, माता, पिता आदिने उसको बुलाने की बहुत चेष्टा की मगर वह न बोला। कहावत है कि—"सोया जगाने से जागता है मगर जागते को जगाने से वह कैसे जाग सकता है?" इसी तरह सेठ का पुत्र बिलकुल न बोला। उसने आँखें भी न खोलीं। जो कुछ होता था वह कानों से सुनता था। कोई कहता था, डॉक्टर को बुलाओ; कोई कहता था, हकीम को बुलाओ; कोई कहता था सियाने को बुलाओ और कोई कहता था किसी मंत्र जंत्र वाले को बुलाओ। इस तरह सब गड़-बड़ करने लगे। तत्पश्चात् हरेक तरह के उपचारक बुलाये गये। अपने अपने अनुकूल सबने उपचार किया। कहा है कि:—

वैद्या वदन्ति कफपित्तमरुद्विकारान्
ज्योतिर्विदो ग्रहगतिं परिवर्तयन्ति।

भूताभिभूतमिति भूतविदो वदन्ति
प्राचीनकर्मबलवन्मुनयो मनन्ति ॥

वैद्योंने–डाक्टरोंने आकर कहा कि,–इसको पित्त के घर का वायु कुपित हो गया है, इसलिए अमुक दवा दो। ज्योतिषीने कहा कि,–इस पर राहु की क्रूर दृष्टि पड़ी है इसलिए ब्राह्मणों को दान दो; शान्ति पाठ कराओ आदि। सयानेने कहा कि,–नजर लग गई है, नजर बँधवाओ। मंत्र जंत्र वालोंने कहा कि,–इसको डाकन लग गई है, इसलिए उतारे करवाओ। डूँटी, गोलों को देखने वालोंने कहा कि,–इसका गोला डिग गया है। जरा तेल लाओ अभी ठीक होजाता है। इस तरह रात भरमें सैकड़ों इलाज किये गये। मगर सेठ के पुत्र को आराम नहीं हुआ। माता, पिता रोने लगे। नौकर चाकर, घबराये हुऐ, अन्यान्य हकीमों वैद्यों और डॉक्टरों की तलाश में फिरने लगे। कुटुंबी चिन्तित भावसे कहने लगे:–" क्या किया जाय? देना हो तो चुका दें, मार हो तो लेलें; सरकार में केस हो तो उसे हर उपाय से ठीक ठाक करलें; मगर दर्द का क्या करें? इस तरह इधर चल रहा था। उस समय सेठपुत्र का मित्र योगी का वेष लेकर सेठ की हवेली के आगे से निकला। योगी को देखकर, नौकरोंने उसके पैरों पड़ और कहा:–" महाराज बड़े कष्ट का समय है। सेठ का बड़ा लड़का बहुत बीमार हो गया है। सारा कुटुंब रो रहा है।

इसलिए कृपा करके सेठ के लड़के को बचाइए। बड़ा उपकार होगा।"

योगीने उत्तर दियाः—"अगर हम दुनिया का कार्य करने में पड़ेंगे तो फिर ईश्वर का भजन कब करेंगे?" योगी और नौकरों की इस तरह बातें हो रहीथी, उसी समय वहाँ कई लोग जमा हो गये और वे योगी को समझा बुझाकर हवेली में ले गये। उसने सेठ के पुत्र को देखकर कहाः—"लड़का इलाज करने से अच्छा हो सकता है। घबराने की कोई बात नहीं है। योगी लोग मरे हुए को भी वापिस जिला देते हैं तो फिर इसकी तो बात ही क्या है! यह लड़का शीघ्र ही अच्छा हो जायगा। उड़द के दाने, लोबान और पंच रंग का कपड़ा लाओ। एक सफेद पर्दा तैयार करो। एक जल का कटोरा भी भरकर लेते आओ। योगी के कथनानुसार सारी चीजें तैयार करके दे दी गईं। अब योगीने अपनी क्रिया प्रारंभ की। लोग प्रसन्न होकर आपस में बातें करने लगे कि सेठ के अहोभाग्य हैं, जिससे ऐसा योगी मिल गया है। योगी ऊँचे स्वर से बोलने लगाः—"ॐ फुट् फुट स्वाहा!" "ॐ ह्रों ह्रों स्वाहा!" आदि। बड़े आडंबर के साथ क्रियाएँ पूर्ण करने के बाद योगी पर्दे के बाहिर आया और बोलाः—"सुनो भाईयो! इस लड़के पर व्यन्तर का आक्रमण हुआ है। वह बहुत जबर्दस्त है। उसके एवज में वह किसी का जीव लेगा तब ही लड़के को छोड़ेगा। इसलिए जो

कोई जल का यह कटोरा पियेगा, उड़द के दाने खायगा और यह डोरा अपने हाथ में बाँधेगा; वह लड़के की सी हालत में पड़कर अन्त में मर जायगा। "

योगी के ऐसे भयंकर वचन सुन, सब मौन हो रहे। सब चित्र-लिखित पुतली की तरह स्थिर हो रहे। बनावटी योगी हास्यपूर्ण नेत्रों से अपने मित्र की ओर देखता हुआ खड़ा था। उसी समय एक मध्यस्थ पुरुषने कहा:—" भाइओ! जवाब दो। " दूसरा बोला:—" प्याला और उड़दके दाने उस की माता को दो। " सबने यही सम्मति दी। माता इससे मन में दुःखित होने लगी। पानी का कटोरा और उड़द के दाने जब उस के पास आये तब उसने कहा:—" ठहर जाओ। जरा शोचने दो। " थोड़ी देर सोचने के बाद उसने कहा:—" मृतं सर्वं मृते मयि। (मेरे मरने पर मेरे लिए तो सारा जगत मरा हुआ है) यदि मैं जीवित रहूँगी तो दूसरे तीन लड़को का और दो लड़कियों का पालन पोषण करूंगी और उनका सुख देखूँगी। इस लिए मैं इस प्याले को नहीं पीऊँगी। " कटोरा पिता के पास पहूँचा। पिताने तत्काल ही उत्तर दिया:—" पिता होगा तो पुत्र बहुत हो जायँगे। " तब वह कटोरा सेठपुत्र की स्त्रियों के पास पहुंचाया गया। उस के दो स्त्रियां थीं। उनमेंसे एकने कहा:— " यदि मैं मर जाऊँगी तो दूसरी सुख भोगेगी। इस लिए मैं

इस को नहीं पी सकती।" दूसरी ने भी ऐसा ही उत्तर दिया। तब किसीने कहा कि-दोनों साथ ही पी लो। झगड़ा ही मिट जाय। दोनों चुप हो रहीं। किसीने कुछ उत्तर नहीं दिया। पानी का कटोरा सारे कुटुंब में फिर कर वापिस योगी के हाथ में आया। योगी बोलाः-" अच्छा भाई! तुम कोई नहीं पीते हो तो मैं ही इस पानी को पी जाता हूँ।" योगी की बात सुनकर, अहो! योगी महात्मा कैसे उपकारी हैं! ऐसे ऐसे महात्माओं के अस्तित्वसे ही लोग दुनिया को रत्न की खानि बताते हैं। महात्मा सचमुच ही सच्चे महात्मा हैं।"

योगी प्याला पी गया। सेठ पुत्र जल्दीसे शय्या छोड़ कर उठ बैठा। सारे कुटुंबी जन शय्या को घेर कर खड़े हो गये। कोई भाई, कोई बेटा, कोई लाल आदि शब्दोंसे उसको प्यार के साथ पुकारने लग रहे थे। उस समय सेठ के पुत्रने धीरेसे कहाः-" तुम सब मेरे शत्रु हो। मेरा सगा-स्नेही-तो यह योगी है। इस लिए अब मैं इस के साथ जंगल में जा कर अपना मंगल करूँगा। तुम मुझे मत छूना। ऐसा कह सेठपुत्र अपने मित्र के साथ चला गया। सारा कुटुंब हतप्रभ हो देखता ही रह गया।"

इस उदाहरण से यह बात ज्ञात होती है, कि संसार में अपने प्राणोंसे ज्यादा कोई प्यारा नहीं है। प्राण नाश होने

का समय आता है तब संबंध भी दूर हो जाता है। इसी विषय को पुष्ट करनेवाला एक उदाहरण और दिया जाता है।

" एक कुटुंब में कर्मयोगसे एक बुढिया और उस का लड़का दो ही व्यक्ति बाकी बचे थे। उस समय भाग्य-योगसे अपने चरणारविन्दसे पृथ्वीतल को पवित्र करते हुए; पंच महा व्रत पालक शुद्धोपदेश दाता, मुनिराज अन्य कई साधुओ के साथ उस नगर में आये जहां वह बुढिया और उस का लड़का रहते थे। लड़का धर्म देशना सुनने को गया। वह हल्के कर्म-वाला था। इस लिए देशना सुनकर उसके मनमें वैराग्य का अंकुर आ गया। उस के मन में आया कि वह संसार छोड़कर साधु बन जाय। उसने मुनिराजसे अपने विचार कहे। मुनि-राजने कहा:-बहुत अच्छे विचार हैं। तुम्हारे घर में कौन है?" उसने उत्तर दिया:-" मेरे घरमें मेरी एक वृद्धा माता है। " मुनिश्रीने कहा:-" तुम अपने विचार अपनी माता के सामने प्रकट करो। यदि वह आज्ञा दे तो तुम हमारे पास आना। तुम्हारा कार्य सफल होगा। " मुनिश्री के वचन सुन, उन को नमस्कार कर, लड़का अपने घर आया और मातासे कहने लगा:-" माता! आज मैंने जैनधर्म के साधुओंसे धर्मोपदेश सुना; वह मुझ को बहुत ही अच्छा लगा। " माताने कहा:-" बेटा! जिन वचन सदा ही मान्य हैं। तेरा अहो भाग्य है;

कि तुने जिन–धर्मोपदेश सुना। तेरा जन्म सफल हुआ।" माता जब चुप हो गई, तब लड़केने कहाः–" माता! मेरा विचार है कि, मैं सारी उपाधियों को छोड़ कर साधु बन जाऊँ।" वृद्धा घबरा कर बोलीः–" हे वत्स! ऐसा कभी न करना। तु संसार ही में रह कर धर्म ध्यान कर, इससे मैं भी प्रसन्न हूँ। परन्तु यदि तू साधु होगा तो मैं कूए में गिर कर मर जाऊँगी। इससे तेरा कल्याण न हो कर अकल्याण ही होगा।" अपनी माता की बातें सुन कर, लड़का सोचने लगा कि, मोह में पड़ कर शायद माता कूए में गिर जाय तो मेरा बड़ा अपयश हो। इस लिए दो चार वर्ष का विलंब हो तो कुछ हानि नहीं है। फिर उसने वृद्धासे कहाः–" माता! तुम लेश मात्र भी मत घबराओ। मैं तुम्हारी आज्ञा के विना कदापि साधु नहीं बनूंगा।"

लड़के के वचन सुन कर माता शान्त हुई। माता और पुत्र दोनों शान्ति के साथ गृहस्थ धर्म पालते हुए दिन बिताने लगे। कर्म योगसे एक बार लड़के को ज्वर आया। दो दिन के पश्चात् सन्निपात हो गया। लोग लड़के को देखने आने लगे। वैद्योंने इलाज किया मगर लड़के की हालत में कुछ भी फरक नहीं पड़ा। तब लोग कहने लगे कि, अन्य औषधियों की अपेक्षा धर्मौषध देना ही अच्छा है। वृद्धा विचारने लगी कि, यदि लड़का मर जायगा तो मुझे अकेले ही रहना पड़ेगा।

पाड पडौस की वृद्धाएँ कहने लगीं कि,—लड़के की बीमारी असाध्य हो गई है। इस के बचने की कोई सूरत नहीं है। जिस के घर मौत होती है उस के घर यमराज आता है। उस यमराज को जब कुत्ते देखते हैं, तब वे बहुत रोते हैं। इस तरह की बातें कह कर, वृद्धाएँ अपने अपने घर गईं। लड़के की माता सोचने लगी कि, मेरे घर यमराज आयगा। घरमें दूसरा तो कोई हे ही नहीं। अब मैं क्या करूँ ? खैर! जो बने सो ठीक है। इस तरह वृद्धा डरती हुई छोकरे के पास सो गई। रात बीतने लगी। उस को नींद आती थी और थोडी देरमें वापिस उठ जाती थी। छोकरे को तो निद्रा बिल्कुल ही नहीं आती थी। इधर घरमें इन की यह हालत थी। उधर घरमेंसे पाडी छूट गई। महल्ले के कुत्ते भौंक भौंक कर थक जाने से रोने लगे। पाड़ी आ कर वृद्धा के कपडे चबाने लगी। कपडा खिचनेसे वृद्धा जाग उठी। दीपक का प्रकाश मंद था। इस लिए वह पाडी को अच्छी तरह देख न सकी। उसने काला शरीर और सिर देखा। बुढिया समझ गई कि, यम आया है। स्त्री जाति वहमी तो होती ही है। फिर घटते में पूरा कुत्ते का भौंकना आदि सब योग भी मिल गये। बुढिया बहुत डरी। वह धीरे धीरे बोली:—" यमराज! आप भूल कैसे कर रहे हैं ? मैं बीमार नहीं हूँ। बीमार तो यह पासमें सो रहा है। " बुढिया के ऐसा कहने पर भी पाड़ी नहीं

हटी। वह विशेष रूप से वृद्धा के कपड़े चाबने लगी। कपड़े खिचने लगे। बुढिया बहुत घबराई। उसने समझा कि यमराज तो अभी मुझे ही उठा ले जायगा। इसलिए वह अधीर हो कर चिल्ला उठीः—" मैं तो बिलकुल अच्छी हूँ। बीमार तो यह मेरे पास में सो रहा है। " पाडी वृद्धा की चिल्लाहट सुन कर, डरी और कपड़ा छोड कर पीछे को हट गई। वृद्धा के कपडों का खिचना बंद हुआ। लडका जागता हुआ सारी बातें सुन रहा था। कारण कि, कर्मयोग से उस समय उसका सन्निपात कम हो गया था। बुढिया मुँह पर ओढ कर सो रही। उसने सोचा—यम छोकरे के प्राण ले गया होगा। अब सवेरे जो कुछ होगा देखा जायगा। लडके को भी सन्निपात के मिट जाने से निद्रा आ गई। बुढियाने सवेरे ही उठ कर देखा तो उसे जान पडा कि लडका निद्रा निकाल रहा है; पाडी खुली हुई है और उसके कपडे चाबे हुए हैं। यमराज की बात झूठ समझ कर, बुढिया पछताने लगी। इतने ही में लडका भी जाग गया। वह उठ कर बोलाः—" वाह माता ! खूब किया। मैंने तेरा प्रेम प्रत्यक्ष देख लिया। मेरे मरने पर भी जब तू मरनेवाली नहीं है, तब मेरे साधु हो जाने से तो तू मर ही कैसे सकती है ? माता ! तेरा मुझ पर प्रेम है, और मेरा भी तुझ पर प्रेम है; परन्तु वह केवल स्वार्थ के लिए ही है। इसी लिए तो शास्त्रकारोंने संगमों को स्वप्न की उपमा दी है।

वास्तविक संग तो धर्म का है।" तत्पश्चात् माता को समझा कर लड़का साधु हो गया।"

उक्त उदाहरणोंसे पाठक समझ गये होंगे कि,—"संगमाः स्वप्नसन्निभाः।" (संगम स्वप्न के समान हैं।) वैराग्य का उपदेश करनेवालों को निम्नलिखित श्लोक भी ध्यान में रखने चाहिए।

कामक्रोधादिभिस्तापैस्ताप्यमानो दिवानिशम्।
आत्मा शरीरान्तस्थोऽसौ पच्यते पुटपाकवत्॥

भावार्थ—शरीर के अंदर रहा हुआ यह आत्मा पुट-पाक की तरह काम और क्रोधादि तापों से रातदिन तपता रहता है। यानीं रातदिन दुःख पाता रहता है।

विषयेष्वतिदुःखेषु सुखमानी मनागपि।
नाहो! विरज्यते जनोऽशुचिकीट इवाशुचौ॥

भावार्थ—जैसे विष्ठा का कीड़ा विष्ठा ही में रह कर, सुखी होता है। वह उस से नहीं घबराता है। इसी तरह अति दुःखदायक विषयोंमें मनुष्य मग्न रहता है। उस को उस में लेशमात्र भी दुःख नहीं होता है; वह उस से विरक्त नहीं होता है।

दुरन्तविषयास्वादपराधीनमना जनः।
अन्धोऽन्धुमिव पदाग्रस्थितं मृत्युं न पश्यति॥

भावार्थ—जैसे अन्ध मनुष्य अपने दूसरे कदमपे ही, स्थित कूप को नहीं देख सकता है। इसी तरह से विषयांध पुरुष भी विषयों के आस्वादन में जिसका मन लिप्त हो गया है, ऐसा पुरुष भी अपने सामने खडी हुई मौत को नहीं देख सकता है।

आपातमात्रमधुरैर्विषयैर्विषसन्निभैः ।
आत्मा मूर्च्छित एवास्ते स्वहिताय न चेतते ॥

भावार्थ—विष के समान विषयों के—जो भोगते समय कुछ मीठे मालूम होते हैं—द्वारा आत्मा मूर्च्छित होकर रहता है। मगर वह अपने हित का चिन्तवन नहीं करता है।

तुल्ये चतुर्णां पौमर्थ्ये पापयोरथकामयोः ।
आत्मा प्रवर्तते हन्त । न पुनर्धर्ममोक्षयोः ॥

भावार्थ—यद्यपि चारों पुरुषार्थों की समानता बताई गई है; परन्तु खेद इस बात का है कि, आत्मा अर्थ और काम साधन में ही प्रवृत्ति करता है। धर्म और मोक्ष के लिए प्रवृत्ति नहीं करता है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं। इनमें से पहलेवाले तीन पुरुषार्थों को गृहस्थी साधते हैं। मुनि केवल मोक्ष पुरुषार्थ ही की साधना करते हैं। मोक्ष सिवा के दूसरे तीन पुरुषार्थ दुःखमिश्रित सुखवाले हैं। और मोक्ष सर्वोत्तम एकान्त आत्मीय सुखसाधक है।

'अर्थ' नामा पुरुषार्थ अन्य तीन पुरुषार्थों से उतरते दर्जेका है। क्योंकि वह अर्जन--कमाने--, रक्षण, नाश और व्ययरूप आपत्तियों के संबंध से दूषित है।

'काम' नामा पुरुषार्थ यद्यपि 'अर्थ' से कुछ चढ़ता हुआ है। क्योंकि उसमें विषय--जन्य सुख का लेश रहा हुआ है; तथापि वह अन्त में दुःखदायी और दुर्गति का देनेवाला है। इसलिए धर्म और मोक्ष से नीचे दर्जे का है।

'धर्म' पुरुषार्थ अर्थ और काम से उत्तम है। क्योंकि वह इस लोक और परलोक दोनों में सुख का देनेवाला है। तो भी वह मोक्ष की अपेक्षा नीचे दर्जे का है। क्योंकि वह पुण्यबंध का हेतु है। और पुण्य सोने की बेड़ी के समान होने से वह भी बंधन रूप है। पुण्य के योग से जीव को देवतादि की गति द्वारा संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है।

'मोक्ष' पुरुषार्थ पुण्य और पाप को सर्वथैव नष्ट करने का कारण है। दुःख तो इससे थोड़सा भी नहीं होता है। वह विषमिश्रित अन्न की तरह आपातरमणीय नहीं है। इसी तरह परिणाम में दुःखदायी भी नहीं है। यह एकान्त-रीत्या आनंदमय, अवाच्य, अनुपमेय, और अव्याबाध सुख-मय है। इसीलिए योगी पुरुष तीन पुरुषार्थों का अनादर कर, केवल 'मोक्ष' की साधना करनेही में कटिबद्ध रहते हैं।

गृहस्थ यदि परस्पर अबाध रूप से तीनों वर्गों का साधन कर, तो वे 'मोक्ष' पुरुषार्थ के साधक हो सकते हैं। परन्तु यदि वे तीन वर्गमें से प्रथम पुरुषार्थ की—धर्म की उपेक्षा करके अर्थ और काम पुरुषार्थ की आराधना करने में लगे रहेंगे तो वे कदापि मोक्ष के अधिकारी न होंगे। वे जब अर्थ और काम के साथ ही साथ धर्म की भी आराधना करेंगे तबही वे मोक्ष के अधिकारी होंगे। केवल अर्थ और काम ही की इच्छा करनेवाले पुरुष—चाहे वे कितने ही बुद्धिमान क्यों न हों—नास्तिकों की पंक्ति में बिठाने लायक होते हैं। जिस पुरुष के अन्तःकरण में धर्मवासना का निवास नहीं होता है उसका जन्म वृथा ही जाता है। उसकी बुद्धि उल्टे अपने स्वामी को—आत्मा को—मलिन करती है। इसलिए ऐसी बुद्धि की अपेक्षा यदि वह बुद्धि ही न पाता तो ऐसे अनर्थ न करता। यानी वह नास्तिकता की पंक्ति में न बैठता। यह जीव अनादि काल से उन्मार्ग में चल रहा है; इसलिए नास्तिकों की युक्तियाँ उसके हृदय में जल्दी ही प्रविष्ट होजाती हैं। आस्तिकों की युक्तियाँ जरा कठिनता से उसके हृदय में प्रवेश करती हैं। 'अर्थ' और 'काम' का फल जैसे प्रत्यक्ष देखा जाता है; वैसे ही 'धर्म' और 'मोक्ष' के फल भी, यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो, प्रत्यक्ष ही हैं। मगर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करनेवाले बहुत ही थोड़े हैं और स्थूल दृष्टि से विचार करने-

वाली सारी दुनिया है। इसी हेतु से 'अर्थ' और 'काम' के अभिलाषी भवाभिनंदी जीव प्रायः संसार में बहुत ज्यादा हैं। इसीलिए शास्त्रकार पुकार पुकार कर कहते हैं कि,– 'अर्थ' और 'काम' के सामान दुष्ट पुरुषार्थों में अपने आत्मा की शक्ति को न लगाकर, 'धर्म' और 'मोक्ष' में लगाओ।

मानव–जन्म की दुर्लभता।

अस्मिन्नपारसंसारपारावारे शरीरिणाम्।
महारत्नमिवानर्घं मानुष्यमिह दुर्लभम् ॥१॥
मानुष्यकेऽपि संप्राप्ते प्राप्यते पुण्ययोगतः।
देवता भगवानर्हन् गुरवश्च सुसाधवः ॥ २ ॥
मानुष्यकस्य यद्यस्य वयं नादद्महे फलम्।
मुषिताः स्मस्तदधुना चौरैर्वसति पत्तने ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस अपार संसार रूपी महासमुद्र में प्राणियों का मनुष्य जन्म रूपी महारत्न यदि डूब जाय तो उसका वापिस मिलना कठिन है। (१) मनुष्य जन्म पाकर भी मनुष्य पुण्य के योगसे श्री अरिहंत भगवान, देव और सुसाधु गुरु की भांति माने जाते हैं। (२) यदि हम मनुष्य जन्म का अच्छा फल नहीं चक्खें तो, समझना चाहिए कि हम मनुष्यों से भरे हुए शहर के मध्य भाग में ही लुट गये हैं। (३)

अल्प मूल्यवाला रत्न भी यदि मनुष्य के पास होता है, तो वह उसको बहुत ही सँभाल के साथ उसकी रक्षा करता है। मगर यदि वह उस रत्न को नाव में बैठकर देखने लगे और वह रत्न अचानक ही उसके हाथ से पानी में गिर जाय तो क्या वह उसे वापिस मिल सकता है ? और यदि मिल जाय तो बड़ी ही कठिनता से मिलता है। रत्न खोते समय उसके हृदय में कितनी वेदना होती है; उसका आभास उसकी विकृत मुखमुद्रा हमें बताती है। खोया हुआ रत्न ऐसा नहीं होता कि, फिर वैसे मनुष्य प्राप्त न कर सकता हो। मान लो कि, यदि वह प्राप्त नहीं कर सकता हो, तो भी उसकी इज्जत तो उस रत्न से नहीं जाती है। तो भी मनुष्य उस रत्न की प्राप्ति के लिए हजारों प्रयत्न करता है। अब सोचने की बात तो यह है कि, यह संसार-समुद्र अत्यंत गहरा और अनंत योजन लंबा है। उसके अंदर जीवों के रत्न खोये हुए हैं; वर्तमान में भी उनके मनुष्य जन्म रूपी अमूल्य और अलभ्य 'रत्न' प्रमाद से गिर गये हैं। मगर जीवों को उनका तनिकसा भी शोक नहीं है। जब शोक ही नहीं है, तब उसको प्राप्त करने का प्रयत्न तो वे करें ही किसलिए ? और इसका परिणाम यह होगा कि, उन्हें चौरासीलाख जीवयोनि में पर्यटन करना पड़ेगा। क्या यह बात खेदजनक नहीं है कि, जीव तुच्छ रत्न की इतनी परवाह करे और अमूल्य रत्न की ओर इस तरह दुर्लक्ष्य रक्खे ?

दस दृष्टान्त।

अकाम निर्जरा के योग से ' नदी—पाषाण ' न्याय से जीव को शायद मनुष्य जन्म मिले तो मिल भी जाय, मगर शास्त्रकार दस दृष्टान्त से मनुष्य जन्म की खास दुर्लभता बताते हैं। जैसे श्री उत्तराध्ययन की टीका में लिखा है:—

चुल्लग पासग धन्ने जूए रयणे अ सुमिणचक्के अ।
चम्म जुगे परमाणू दस दिठ्ठंता मणुअलंभे ॥

भावार्थ—चूल्हे का; पाशा का; धान्य का; जूए का; रत्न का; स्वप्न का; चक्र का; कूर्म का, धोंसर का और परमाणु का—ऐसे दस दृष्टान्तो द्वारा मनुष्य का जन्म दुर्लभ समझना चाहिए। प्रथम चूल्हे के दृष्टान्त का स्पष्टीकरण किया जायगा।

" एक चक्रवर्ती राजा किसी ब्राह्मण के ऊपर खुश होकर बोलाः—' हे ब्राह्मण, तेरी इच्छा हो सो माँग। मैं तुझ को देने के लिए तैयार हूँ।' ब्राह्मण अपनी स्त्रीके वश में था, इसलिए उसने उत्तर दियाः—' मैं घर सलाह लेकर माँगूँगा। ' राजाने स्वीकारता दी। ब्राह्मण अपने घर गया। दोनों स्त्री-पुरुष एकान्त में बैठकर सोचने लगे कि,—क्या माँगना चाहिए ? यदि ग्राम जागीरी माँगेगे तो हम को उल्टे व्याधि बढ़ेगी। इसलिए अपन ब्राह्मणों को तो यदि दक्षिणा सहित भोजन की प्राप्ति हो जाय तो बस है। दोनों की यही सलाह पक्की रही।

फिर ब्राह्मण चक्रवर्ती के पास जाकर खड़ा रहा। उसे देखकर चक्रवर्तीने कहा:—' बोल क्या चाहता है ? जो माँगेगा सोही तुझको मिलेगा। ' ब्राह्मणने प्रसन्न वदन होकर कहा:—'हे महाराज ! मैं यही चाहता हूँ कि आपके सारे राज्यमें से वारेफिरते प्रतिदिन भोजन और एक स्वर्णमुद्रा मिला करे।' ब्राह्मण की बात सुनकर, चक्रवर्ती को आश्चर्य हुआ। उसने मनही मन कहा,—' भले पुष्करावर्त मेघ की वर्षा बरसने लगे; परन्तु पर्वत के शिखर पर तो उतनाही जल ठहरता है; जितनी उस पर जगह होती है। खैर। जिसके भाग्य में जितना होता है उतनाही उसको मिलता है। '

तत्पश्चात् राजाने उस दिन अपने ही महल में उसको भोजन करा, दक्षिणा में स्वर्णमुद्रा दे, विदा किया। उसको चक्रवर्ती के घरका भोजन केवल एक दिन ही मिला। पाठक ! सोचिए कि, चक्रवर्ती के राज्य में छियानवे करोड घर होते हैं; उन छियानवे करोड के घर जीमन कर उसका चक्रवर्ती के घर आना क्या संभव है ? यदि यह संभव भी होजाय तो भी बार बार मनुष्य जन्म का मिलना तो बहुत ही कठिन है। "

दूसरा पासों का दृष्टान्त है। उसकी कथा इसतरह पर है:— "राजा चंद्रगुप्त के भंडार में खुब धन जमा करनेके लिए चाणक्यने एक देव की आराधना की। देवने प्रसन्न होकर उसको

दिव्य पासे दिये। उन पासों में यह गुण था कि, जो उनको लेकर खेलता था; वह कभी नहीं हारता था।

चाणक्यने वे पासे और स्वर्णमुद्रा का भरा हुआ एक थाल देकर, एक द्यूत क्रीडा कुशल पुरुष को नगर में भेजा। वह पुरुष चौराहे में जाकर बैठा और कहने लगा:—" हे लोगो! जो कोई व्यक्ति मुझको जीतेगा उसको सोनामहोरों से भरा हुआ सारा थाल दे दूँगा; और जो मुझसे हार जायगा, मैं उससे केवल एक ही महोर लेऊँगा।" ऐसे सुनकर उसके साथ हजारों मनुष्य खेले। मगर कोई भी उसको न जीत सका। दिव्य पासों के प्रभावसे जैसे उसको हराना दुर्लभ था, वैसेही मनुष्य जन्म पाना भी अति दुर्लभ है।

तीसरा धान्य का दृष्टान्त इस तरह है—" संसार के सारी तरह के धान्य इकट्ठे कर उसमें एक पायली सरसों डाल उसको एक वृद्धाके पास दिया जाय और कहा जाय कि, तू प्रत्येक धान्य को जुदा कर दे तो उससे उस धान्य का जुदा होना कठिन है; इसी तरह मनुष्य जन्म पाना भी बहुत ही दुर्लभ है।"

चौथा द्यूत का दृष्टान्त इस तरह है:—" एक राजा का ऐसा सभाभवन था कि जिसमें एकसौ आठ स्तंभ थे। प्रत्येक स्तंभ में एकसौ आठ हांस थे, राजा के एक पुत्र को राज्यगद्दी पर बैठने की अभिलाषा उत्पन्न हुई। मंत्रियों को यह बात ज्ञात हुई। राजाने

अपने सब पुत्रों और पोतों को जमा करके कहा कि,—जो राज लेना चाहे वह मेरे साथ जूआ खेले। जो मुझे जीतेगा वही राजा बनेगा। उसमें हारजीत की शर्त यह रहेगी कि,—लगातार एकसौ और आठवार जीते पर वह एक स्तंभ जीतेगा। और यदि बीचमें एक भी वार राजा का दाव आगया; राजा जीत गया तो, उसकी पहिली जीत सब व्यर्थ होगी। इसतरह जो एकसौ आठ स्तंभ जीतेगा वही राज्य का मालिक होगा। राजभवन के एकसौ आठ स्तंभ इस भाँति जीतना अतीव कठिन है। इसीतरह मनुष्य जन्म पाना भी अतीव कठिन है।

पाँचवाँ रत्न का दृष्टान्त इसतरह है,—"किसी सेठ के पास उसके पुरुषाओं का और स्वयं अपना किया हुआ रत्नसंग्रह था। वह कभी एक भी रत्न बाहिर नहीं निकालता था। एकवार वह देशान्तरों में व्यापार के लिए गया। उसके पुत्रोंने सोचा कि, पिता तो लोभ के वश धन बाहिर नहीं निकालते हैं। घरमें कोटि स्वर्णमुद्राएँ हैं, तो भी अपने घरपर भी दूसरे कोटिध्वजों की तरह ध्वजा क्यों न फरानी चाहिए? ऐसा सोच, उन्होंने विदेश से आये हुए किसी व्यापारीके हाथ अपने रत्न बेच दिये। वे कोटिध्वज बने। उनके घर भी ध्वजापताका उड़ने लगी। सेठ देशान्तर से वापिस आया। उसे रत्नों के बिकने की बात ज्ञात हुई। उसने अपने पुत्रों को बहुत नाराज होकर

रत्न वापिस लानेकी आज्ञा दी। उन रत्नों का आना जैसे अत्यन्त कठिन था; वैसे ही मनुष्य जन्म पाना भी अत्यन्त कठिन है।"

छट्ठा स्वप्न का दृष्टान्त इसतरह है;–" किसी दिन मूलदेव और एक भिक्षुक उज्जयनी नगरी के बाहिर एक कोठड़ी में सो रहे थे। उस समय दोनों को समान चंद्रपान की स्वप्न आया। मूलदेव उठ, नवकारमंत्र का स्मरण कर, देवदर्शन कर, फलफूल हाथमें ले; निमित्तिया के पास गया; और विनयपूर्वक उसने उसको अपना स्वप्न कह सुनाया। अष्टांगके ज्ञाता निमित्तियाने पहिले मूलदेव से अपने लड़की के साथ ब्याह करना स्वीकार करवाया और फिर उसको कहाः–" हे मूलदेव! आजके सातवें दिन तुझको राज्य मिलेगा।" और ऐसाही हुआ भी। भिक्षुक का बालक भी उठकर अपने गुरुके पास गया और बोलाः– " गुरुजी! मैंने स्वप्न में आज संपूर्ण चंद्र का पान किया है।" उसके अल्पज्ञ गुरुने उत्तर दियाः–" बच्चा! इस स्वप्न का फल यह होगा कि,–तुझको आज घी, गुडवाली रोटी मिलेगी।" ऐसाही हुआ। कुछ काल के बाद भिक्षुक के बालक को मालूम हुआ कि, उसका और मूलदेव का स्वप्न समान था। मगर मूलदेवने विधिपूर्वक स्वप्न की क्रिया की थी इसलिए उसको राज्य मिला था और मैंने नहीं की थी इसलिए मैं उससे वंचित रहा था। अब मैं फिर वैसा ही स्वप्न देखने के लिए उस कुटिया

में जाकर सोऊँ। ऐसा सोच कर, वह चंद्रपान के स्वप्न के लिए गया। मगर उसी स्वप्न का आना जैसे दुर्लभ है वैसे ही, मनुष्यजन्म पाना भी दुर्लभ है।

सातवाँ चक्र का—राधावेध का—दृष्टान्त इस तरह है:—"मानलो कि, एक स्तंभ, है, उस पर आठ चक्र निरंतर फिरते रहते हैं। उनमें से चार सीधे फिरते हैं और चार उल्टे फिरते हैं। सब चक्रों के आठ आठ आरे हैं। स्तंभ के ऊपर एक पुतली है। वह भी चक्रों की तरह निरन्तर फिरा करती है। उसके नीचे एक तैल की कढाई भरी रक्खी है। पुतली की बाईं आँख का उसमें प्रतिबिंब पड़ता है। जो कोई उस प्रतिबिंब में देख कर, बाणद्वारा पुतली की आँख में बाण मारता है, वही राधावेध साधक समझा जाता है। मगर यह बात बहुत ही कठिन है। इसी तरह मनुष्यजन्म पाना भी बहुत ही कठिन है।"

आठवाँ कूर्म का—कछुए का—दृष्टान्त इस तरह है;—"मानलो कि किसी तालाब में एक कछुआ कुटुंब सहित सानंद रहता है। उस तालाब में सेवाल इतनी ज्यादा है कि, कछुआ पानी के बाहिर सिर भी नहीं निकाल सकता है। मगर एक दिन उसके भाग्य से, पवनवेग द्वारा सेवाल हट गई। कछुएने बाहिर सिर निकाला। सिर निकालते ही उसको पूर्णचंद्र के दर्शन हुए। कछुएने सोचा, मैं अकेला ही इस दर्शन का आनंद भोगता

हूँ, इसकी अपेक्षा, यदि अपने कुटुंब को भी इसमें सम्मिलित करलूँ तो बहुत ही श्रेष्ठ हो। ऐसा सोच कर, कछुआ पानीमें गया और अपने कुटुंब को लेकर वापिस आया। मगर उसके वापिस आने तक वापिस सेवाल ऊपर आ गई। कछुवा उस छिद्र के लिए—जहाँसे कि सेवाल हट गई थी—फिर फिर कर थक गया। लेकिन उस छिद्र का मिलना अब अति कठिन है; इसी तरह मनुष्य—जन्म का मिलना भी अति कठिन है।"

नवाँ युग—समीला—धौंसर का दृष्टान्त इस तरह है;—"कोई देव दो लाख योजन प्रमाणवाले लवण समुद्र के अंदर, धौंसर को पूर्व के किनारे डाल दे और उसमें डालने की समीला धौंसर में डालने की कील को पश्चिम किनारे फैंक दे। इन दोनों चीजों का एक हो जाना यानी धौंसर में कीली का घुस जाना अत्यन्त कठिक, इसी तरह मनुष्य भव का पाना भी दुर्लभ है।"

दसवाँ परमाणु का दृष्टान्त इस तरह है;—"किसी देवने एक स्तंभ का चूर्ण कर, उसको एक बाँस की नली में भर दिया। फिर उसे मेरु पर्वत पर चढ कर दशों दिशाओं में फैंक दिया। उस चूर्ण को एकत्रित कर, फिरसे उसका स्तंभ बनाना कठिन है। इसी तरह मनुष्य जन्म पाना भी कठिन है।"

कुछ भोले लोग ऐसे हैं कि, जो मनुष्य जन्म के लिए ही दश दृष्टान्त समझते हैं; मगर उसके साथ इतना और समझना

चाहिए कि बे इन्द्री से तीन-इन्द्री बनना; तीन इन्द्री से चार इन्द्री बनना; और चार इन्द्री से पाँच इन्द्री बनना भी इन्हीं दस दृष्टान्तों से दुर्लभ है। इस तरह मनुष्य जन्म पाने के बाद आर्यदेश आदि की योगवाई मिलना भी दस दृष्टान्तों से कठिन है। इस मनुष्य भव में देव, गुरु की योगवाई भी पूर्व पुण्य के योग से ही मिलती है। उस योगवाई से भी यदि सफलता न हो, तो शहर में रहते हुए भी लुट जाने के समान है।

अहो। विवर्ध्यंते मुग्धैः क्रोधो न्यग्रोधवृक्षवत्।
अपि वर्द्धयितारं स्वं यो भक्षयति मूलतः ॥१॥

न किञ्चित् मानवा मानाधिरूढा गणयन्त्यमी।
मर्यादालङ्घिनो हस्त्यारूढहस्तिपका इव ॥२॥

कपिकच्छूबीजकोशीमिव मायां दुराशयाः।
उपतापकरीं नित्यं न त्यजन्ति शरीरिणः ॥३॥

दुग्धं तुषोदकेनेवाञ्जनेनेव सितांशुकम्।
निर्मलोऽपि गुणग्रामो लोभेनैकेन दुष्यते ॥४॥

कषाया भवकारायां चत्वारो यामिका इव।
यावज्जाग्रति पार्श्वस्थास्तावत् मोक्षः कुतो नृणाम् ॥५॥

भावार्थ—आश्चर्य है कि, जीव वटवृक्ष की तरह क्रोध को जो कि, अपने बढानेवाले ही को जड़मूल से खा जाता

है–बढ़ाते हैं। (१) (अभिप्राय यह है कि, वटवृक्ष जिस स्थान में उत्पन्न होता है उस स्थान को बरबाद कर देता है; इसी तरह क्रोध भी जिस मनुष्य के शरीर में उत्पन्न होता है, उसके रक्त मांस को नष्ट कर देता है।) जैसे हाथी पर चढा हुआ महावत–फीलवत–दूसरों को तुच्छ समझते हैं; इसी तरह मानारूढ और मर्यादाका उल्लंघन करनेवाले मनुष्य भी किसी की परवाह नही करते हैं। (२) सदा दुःख देनेवाली; कौंवच–बीज के समान माया को दुष्टाशयी मनुष्य नहीं छोड़ते हैं। (३) कौंच के बीज शरीर में लगाने से, शरीर में चट-पटी लगती है; शरीर सूज जाता है और मनुष्य को बहुत दुःख उठाना पड़ता है। इसी तरह मायाचारी मनुष्य भी अपनी आन्तरिक वृत्ति से सदैव सशंक रहता है। वह शान्तिपूर्वक सो भी नहीं सकता है।) जैसे कांजी के पानी से दूध और अंजन–काजल से–सफेद वस्त्र दूषित होता है; इसी तरह लोभ से सब गुण दूषित हो जाते हैं। (४) पूर्वोक्त चारों कषायें भवरूपी जेलखाने में रहते हुए जीवों के लिए चौकीदार समान हैं। जब तक ये जागृत रहते हैं, तब तक मनुष्यों को मोक्ष नहीं मिलता है। (५)

तात्पर्य यह है कि, कषायों की मंदता के विना, वैराग्य नहीं होता है; वैराग्य के विना तपक्रिया नहीं होती है; तप विना प्राचीन कर्मों का क्षय नहीं होता है और कर्मक्षय के

विना संसाररूपी कारागार से छुटी नहीं मिलती है। कर्म करता है, ऐसा कोई नहीं करता । देखो उसके विना जीवों की कैसी खराब दशा होती है ? :—

सौन्दर्येण स्वकीयेन य एव मदनायते ।
ग्रस्तो रोगेण घोरेण कङ्कालयी स एव ही ॥१॥
य एव च्छेकताभाजा वाचा वाचस्पतीयते ।
कालान् मुहुः स्खलज्जिह्वः सोपि मूकायतेतराम् ॥२॥
चारुचङ्क्रमणशक्त्या यो लात्यतुरगायते ।
वातादिभग्नगमनः पङ्गूयते स एव हि ॥३॥
हस्तेनौजायमानेन हस्तिमल्लायते च यः ।
रोगाद्यक्षमहस्तत्वात् स एव हि कुणीयते ॥४॥
दूरदर्शनशक्त्या च गृध्रायेत य एव हि ।
पुरोऽपि दर्शनाशक्तेरन्धायेत स एव हि ॥५॥
क्षणाद्रम्यमरम्यं च क्षणाच्च क्षममक्षमम् ।
क्षणाद् दृष्टमदृष्टं च प्राणिनां वपुरप्यहो ! ॥६॥

भावार्थ—अपने सौन्दर्य से जो पुरुष कामदेव के समान आचरण करता है, वही पुरुष घोर रोगों से घिरा रहता है, और हड्डियों की माला के समान दिखता है। (१) जिसका वाक्‌-चातुर्य बृहस्पति के समान होता है; वह भी काल के प्रभाव से, स्खलित-जिव्हा होकर मूकता को प्राप्त करता है।

(२) जो अपनी सुंदर चाल के बल से एक जातिवान अश्व की समानता करता है वही वायु आदि के रोगों से चलने की शक्ति को खो कर पंगु बन बैठता है। (३) जिन बाहुओं के पराक्रम से महान बलवान गिना जाता है, वही कभी रोगादि के कारण एक डाल पातविहीन ठूँठ के समान समझा जाता है। (४) दूर दर्शन की शक्ति के कारण जो एक गीध के समान होता है वही समय के प्रभाव से एक अंधे के समान बन जाता है। (५) अहो! प्राणियों का शरीर क्षण में सुन्दर और क्षण में खराब, क्षण में समर्थ और क्षण म असमथ, क्षण में दृष्ट और क्षण में अदृष्ट, हो जाता है। (६)

शरीर की सार्थकता।

यह शरीर यद्यपि क्षणिक है, तथापि धार्मिक पुरुषों के लिए महान उपयोगी है। क्योंकि वे इसको सार्थक बना लेते हैं। शरीर की स्थिति अच्छी होती है, तब इससे तपस्यादि कार्य हो सकते हैं। शरीर को मनुष्य उसी समय सार्थक बना सकता है, जब कि वह उसकी अस्थिरता और अपवित्रता को समझने लग जाय। जो इन दो बातों को समझता है वही शरीर को सार्थक बनाने का प्रयत्न करता है।

अस्थिरता।

शरीर की स्थिति क्षणिक है। जीव क्षणिक शरीर से चिर-

स्थायी कर्मबंध कर महान दुःख उठाता है। इसलिए शास्त्रकार फर्माते हैं कि, हे भव्य! जिस शरीर के लिए तु कर्मबंध करता है, वह तेरा नहीं है। हजारों उपाय करने पर भी वह तेरा होनेवाला नहीं है। जब शरीर भी तेरा नहीं है तब फिर अन्य वस्तुओं पर तु वृथा क्यों मोह करता है।

अनित्यं सर्वमप्यस्मिन् संसारे वस्तु वस्तुतः।
मुधा सुखलवेनापि तत्र मूर्च्छा शरीरिणाम् ॥ १ ॥
स्वतोऽन्यतश्च सर्वाभ्यो दिग्भ्यश्चागच्छदापदः।
कृतान्तदन्तयन्त्रस्थाः कष्टं जीवन्ति जन्तवः ॥ २ ॥
वज्रसारेषु देहेषु यद्यास्कन्दत्यनित्यता।
रम्भागर्भसगर्भाणां का कथा तर्हि देहिनाम् ॥ ३ ॥
असारेषु शरीरेषु स्थेमानं यश्चिकीर्षति।
जीर्णशीर्णपलालोत्थे चञ्चापुंसि करोतु सः ॥ ४ ॥
न मन्त्रतन्त्रभेषज्यकारणानि शरीरिणाम्।
त्राणाय मरणव्याघ्रमुखकोटरवासिनाम् ॥ ५ ॥
प्रवर्धमानं पुरुषं प्रथमं ग्रसते जरा।
ततः कृतान्तस्त्वरते धिगहो! जन्म देहिनाम् ॥ ६ ॥
यद्यात्मानं विजानीयात् कृतान्तवशवर्तिनम्।
को ग्रासमपि गृह्णीयात् पापकर्मसु का कथा? ॥ ७ ॥
समुत्पद्य समुत्पद्य विपद्यन्तेऽम्बु बुद्बुदाः।
यथा तथा क्षणेनैव शरीराणि शरीरिणाम् ॥८॥

आढ्यं निःस्वं नृपं रङ्कं ज्ञं मूर्खं सज्जनं खलम् ।
अविशेषेण संहर्तुं समवर्ती प्रवर्तते ॥ ९ ॥

न गुणेष्वस्य दाक्षिण्यं द्वेषो दोषेषु वास्ति न ।
दवाग्निवदरण्यानि विलुम्पत्यन्तको जनम् ॥१०॥

इदं तु मास्म शङ्कध्वं कुशास्त्रैरपि मोहिताः ।
कुतोऽप्यपायतः कायो निरपायो भवेदिति ॥११॥

ये मेरुं दण्डसात्कर्तुं पृथ्वीं वा छत्रसात् क्षमाः ।
तेऽपि त्रातुं स्वमन्यं वा न मृत्योः प्रभविष्णवः ॥१२॥

आ कीटादा च देवेन्द्रात् प्रभावन्तकशासने ।
अनुन्मत्तो न भाषेत कथञ्चित् कालवञ्चनम् ॥१३॥

पूर्वेषां चेत् क्वचित् कश्चित् जीवनं दृश्येत केश्चन ।
न्यायपथातीतमपि स्यात् तदा कालवञ्चनम् ॥१४॥

भावार्थ—यह संसार असार है। इसमें की सारी चीजें अनित्य स्वभाववाली हैं। इनका सुख वृथा और क्षणिक है तो भी प्राणियों की उसमें मूर्च्छा रहती है। (१) अपनेसे, अन्यों से और सब दिशाओं से जिसमें आपदाएँ आया करती हैं, ऐसे यमराज के दाँतरूप यंत्र में जीव रहते हैं और कष्ट से अपना जीवन बिताते हैं। (२) अभिप्राय यह है कि, दाँतों के बीच की चीज उसी समय तक साबित रहती हैं; जबतक कि, दाँत मिल नहीं जाते हैं, इसी तरह क्रूर काल के दाँतों में मनुष्य

का जीवन है। यदि वे थोड़े से इकट्ठे हो जायँ तो मनुष्य का जीवन तत्काल ही चला जाय—और जाता ही है। वज्रवृषभ-नाराच संहननवाले शरीरों में भी अनित्यता आक्रमण कर रही है। तो फिर केले के गर्भ के समान निर्बल और कोमल शरीर-वाले, प्राणियों के ऊपर वृद्धावस्था आक्रमण करे, तो उसमें विशेषता ही क्या है? (३) (चक्रवर्ती भरत और नल, राम, युधिष्ठिर के समान महापुरुष भी जब जरा-ग्रस्त हो गये थे तब दूसरों की तो बात ही क्या है?) जो मनुष्य इस असार शरीर के अंदर स्थिरता चाहता है, वह पुराने और सड़े हुए तृण से बने हुए पुतले में मानो मनुष्य जीवन को देखता है। (४) मृत्यु रूपी सिंह के मुख कोटर में—जीभ और तालु के बीच में—बसनेवाले जीवों की मंत्र, यंत्र, और औषध; कोई भी रक्षा नहीं कर सकता है। (५) (सिंह के मुँह में फँसा हुआ जन्तु जैसे बच नहीं सकता है, वैसे ही यमराज के पंजे में फँसा हुआ मनुष्य भी, मंत्र, यंत्र या चतुर डॉक्टरो की चिकित्सा से बच नहीं सकता है।) मनुष्य के ऐसे जीवन को धिक्कार है कि, जिस पर आगे बढ़ने पर वृद्धावस्था आक्रमण करती है; तत्पश्चात् उसे शीघ्र ही यमराज उठा ले जाता है। (६) (मनुष्य की आयु सौ बरस की है; उसकी प्राथमिक अवस्था खेल कूद में जाती है, कुछ समय बेसमझी से खोदिया जाता है; कुछ समय यौवन की उन्मतता में जाता है, और कुछ कुटुंब पालन के

प्रयत्न में जाता है, इतने ही में वृद्धावस्था आ पहुँचती है। मनुष्य साठ, सत्तर बरस का भी कठिनता से होने पाता है कि, यमराज उसको उठा लेजाता है।) यदि मनुष्य यह जानने लगजाय कि, उसका जीवन कालके हाथ में है तो वह एक ग्रास भी न ले सके, फिर पापकर्म करने की तो बात ही क्या है! (७) जैसे जलके अंदर बुद्बुदे उठते हैं और वे फिर नष्ट हो जाते हैं; वैसे ही प्राणियों के शरीर भी क्षणवार में नष्ट हो जाते हैं (८) धनी हो या निर्धन, राजा हो, या रंक, पंडित हो या मूर्ख; सज्जन हो या दुर्जन; चाहे कोई भी हो। यमराज किसीके साथ पक्षपात नहीं करता। वह सबका संहार करता है। (९) जैसे दावानल, राग और द्वेष रक्खे विना सबको जला देता है, इसी तरह काल भी गुणी की तरफदारी किये विना सबको समाप्त कर देता है। (१०) कुशास्त्रों के द्वारा मुग्ध बने हुए हे मनुष्यो! तुम को भी यह तो निश्चय रूप से समझना चाहिये कि, किसी भी उपाय से तुम्हारा शरीर सदा निरुपद्रव न रहेगा (तुम सदा जीवित न रह सकोगे) (११) जो पुरुष मेरु को दंड बनाने का और पृथ्वी को छत्र के समान धारण करने का सामर्थ्य रखता था, वे भी अपने को और दूसरे को काल के मुँह से नहीं बचा सके थे। (१२) कीडी से लेकर इन्द्र तक सबपर काल की आज्ञा चल रही है। उन्मत्त के सिवा कौन मनुष्य होगा, जो (उसकी आज्ञा से मुँह मोड़ने और) उसको ठगने की बात करेगा? (कोई नहीं)

(१३) काल को ठगने का कार्य न्यायमार्ग से विरुद्ध है। जैसे कि पूर्व पुरुषों में से किसी भी पुरुष को किसी भी जगह देखना न्याय से-स्वाभाविकता से विरुद्ध है। अर्थात् यह कार्य जैसे असंभवित है, वैसे काल से बच जाना असंभवित है। कालने न किसी को छोड़ा है और न किसी को छोड़ेहीगा। तत्ववेत्ताओंने कृतान्त या काल का नाम सर्वभक्षी—सब को खानेवाला सम-दृष्टिवर्ती—निष्पक्षता से वर्तनेवाला; बताया है। इसका कारण यह है कि, उसमें विवेक नहीं है। इसी तरह उस पर किसी का दबाव भी नहीं है कि जिससे वह अपना कार्य करने से रुक जाय। भोले लोगों के बहकाने के लिए कई ऐसी ऐसी गप्पें भी मारते हैं कि;—" अमुक पुरुष जीवन्मुक्त है; इसलिए वह रात को अमुक स्थान पर आता है; आकर कथा बाँचता है; अमुक पढाता है।" आदि।

भाइयो! यह कल्पना मिथ्या है। कोई भी मनुष्य उसको अनुभव में नहीं लासकता है। शायद वह भूत, पिशाच, ब्रह्म-राक्षस आदि होकर आवे तो आ भी जाय। मगर उसी शरीर से वापिस आता है; या वह मृत्यु से बचा हुआ है; ऐसा मानना सर्वथा भ्रममूलक है। आयुष्य पूर्ण होने पर ईश्वर नाम-धारी पुरुषों को भी कराल कालने नहीं छोड़ा है। श्रीमहावीर स्वामी के निर्वाण समय, इन्द्रने आकर प्रार्थना की कि,—" हे

भगवन् ! आप थोड़ासा अपना आयुष्य बढ़ा लीजिए, जिससे आपके भक्तों को, धर्मध्यान में पीड़ा पहुँचानेवाला भस्मग्रह, सताया न करे। " उस समय भगवानने उत्तर दिया:—" हे इन्द्र ! ऐसा न कभी हुआ है; न होता है और न होवे हीगा।" इसी का नाम यथार्थ कथन है। दूसरों में भी यदि इसी तरह यथार्थ कहने का गुण होता तो उक्त प्रकार की गप्पों का प्रचार नहीं होता। कराल कालने किसी को भी नहीं छोड़ा। महान्, महान् व्यक्तियाँ जैसे—चक्रवर्ती तीर्थंकर, वासुदेव, प्रतिवासुदेव आदि असंख्य इस संसार में हुईं और लय हो गईं। मगर कोई भी सदा रहनेवाला—अमर—नहीं हुआ। अमर (देव) भी अपनी आयु खत्म होने पर च्यवन किया करते हैं तो फिर दूसरे प्राणियों की तो बात ही क्या है ! " काल की विशेष रूप से महत्ता समझने के लिए निम्न—लिखित श्लोक भी खास मनन करने योग्य हैं।

संसारोऽयं विपत्खानिरस्मिन्नियततः सतः।
पिता माता सुहृद्बन्धुरन्योऽपि शरणं न हि ॥१॥
इन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्यत्र यन्मृत्योर्याति गोचरम्।
अहो ! तदन्तकातङ्के कः शरण्यः शरीरिणाम् ॥२॥
पितुर्मातुः स्वसुर्भ्रातुस्तनयानां च पश्यताम्।
अत्राणो नीयते जन्तुः कर्मभिर्यमसद्मनि ॥३॥

शोचन्ति स्वजनानन्तं नीयमानान्स्वकर्मभिः ।
नेष्यमाणं तु शोचन्ति नात्मानं मन्दबुद्धयः ॥४॥

संसारे दुःखदावाग्निज्वलज्ज्वाला करालिते ।
वने मृगार्भकस्येव शरणं नास्ति देहिनः ॥५॥

अष्टाङ्गेनायुर्वेदन जीवातुभिरथागदैः ।
मृत्युञ्जयादिभिर्मन्त्रैस्त्राणं नैवास्ति मृत्युतः ॥६॥

खड्गपञ्जरमध्यस्थचतुरङ्गचमूवृतः ।
रङ्कवत्कृष्यते राजा हठेन यमकिङ्करैः ॥७॥

यथा मृत्युप्रतीकारं पशवो नैव जानते ।
विपश्चितोऽपि हि तथा धिक् प्रतीकारमूढता ॥८॥

येऽसिमात्रोपकरणाः कुर्वते क्ष्मामकण्टकाम् ।
यमभ्रूभङ्गभीतास्तेऽप्यास्ये निदधतेऽङ्गुलीः ॥९॥

मुनीनामप्यपापानामसिधारोपमैर्व्रतैः ।
न शक्यते कृतान्तस्य प्रतिकर्तुं कदाचन ॥१०॥

अशरण्यमहो ! विश्वमराजकमनायकम् ।
तदेतदप्रतीकारं ग्रस्यते यमरक्षसा ॥११॥

योऽपि धर्मप्रतीकारो न सोऽपि मरणं प्रति ।
शुभां गतिं ददानस्तु प्रवि करोति कीर्त्यते ॥१२॥

प्रव्रज्यालक्षणोपायमादायाक्षयशर्मणे ।
चतुर्थपुरुषार्थाय यतितव्यमहो ! ततः ॥१३॥

भावार्थ—संसार विपत्तियों की खानि है। उनमें पड़े हुए प्राणियों के लिए माता, पिता, मित्र, भाई आदि कोई भी शरण नहीं है। उनको शरण है तो केवल एक धर्म है। २ इन्द्र और उपेन्द्रादि भी मृत्यु के आधीन हो जाते हैं; तो फिर प्राणी यमराज के भयसे बचने के लिए, किसका शरण लें? (कोई भी शरण नहीं है।) ३ माता, पिता, भाई, बहिन और पुत्रादि सब देखते रहते है; बिचारा शरण-हीन जीव पकड़ लिया जाता है और यमराज के घर पहुँचा दिया जाता है। ४ जो मन्द बुद्धी होते हैं वे ही कर्मद्वारा कालधर्मप्राप्त अपने स्वजन सम्बंधियों की चिन्ता करते हैं। मगर उनको यह चिन्ता नहीं होती है कि, उनको भी काल उठा ले जायगा। ५ दुःख दावानल की भयंकर ज्वालाओं से संसाररूपी अरण्य के अंदर बसते हुए जीवरूपी मृग की रक्षा करनेवाला कोई भी नहीं है। ६ अष्टांगनिमित्त, आयुर्वेद, जीवनप्रद औषध और मृत्युजपादि मंत्रोंद्वारा भी मनुष्य काल के मुखसे नहीं बच सकता है। (मृत्यु के समय चाहे कैसे ही बड़े बड़े डॉक्टरों का इलाज कराओ; चाहे कैसे ही शान्ति पाठ पढ़वाओ, जीव कभी मृत्यु के मुखसे नहीं बच सकता है।) ७ राजा को भी, भले तलवार के पिंजरे में बैठा हो; भले हाथी, घोड़े और पैदल रूप चतुरंगिणी सेना से घिरा हुआ हो—यमराज के नौकर एक रंक की तरह जबर्दस्तीसे पकड़ कर, ले जाते हैं। ८ पशु जैसे मौतसे बचने

का उपाय नहीं जानते हैं, इसी तरह विद्वान् भी मृत्यु को दूर करने का उपाय नहीं जानते हैं। मौत के इलाज का अज्ञान धिक्कारने योग्य है। धन्वंतरी के समान वैद्य, और अन्यान्य सेकड़ों मंत्रवादी और यंत्रवादी इस पृथ्वी पर हुए मगर उन्हें भी काल के आगे तो सिर झुकाना ही पड़ा। वर्तमान में भी पाश्चात्य लोगोंने जड़ पदार्थों पर—पंचमहाभूतों पर बहुत कुछ अधिकार कर लिया है। जिन्होंने रेल, फोटोग्राफ, तार, फोनोग्राफ, टेलीफोन आदि अनेक अद्भुत पदार्थों का आविष्कार किया। जो वर्षा को नियमित समय में, इच्छानुकूल बरसाने का यत्न कर रहे हैं। कुछ अंशों में जिनको सफलता भी हो गई है। जो मंत्र, यंत्र के विना विमान—हवाई जहाज—चलाते हैं; वे भी मृत्यु को जीतने का आविष्कार न कर सके और कर ही सकेंगे। जिन दिनों में यह लेख लिखा जा रहा था; उन्हीं दिनों में अपने राजाधिराज एडवर्ड सातवें का देहावसान होगया। दुनिया शोकग्रस्त हुए। हजारों देश के राजा उनके शरीर की अन्तिम क्रिया के समय उपस्थित हुए थे। बड़े डॉक्टरोंने इस तरह से एक सुंदर भवन में रक्खा कि जिससे उसमें लेशमात्र भी दुर्गंध पैदा नहीं हुई। शरीर कई दिनों तक बेबिगड़े रहा। इतना होने पर भी वे सम्राट के जीवन की रक्षा न कर सके। ये बातें हमें स्पष्टतया बताती हैं कि, प्राणियों को कोई भी काल के पंजे से नहीं बचा सकता है। ९—जो क्षत्रिय पुत्र पृथ्वी को अपनी

तलवार की सहायता से निष्कंटक बनाते हैं; बड़े बड़े भयंकर व्यक्तियों के सामने भी अपने अभिमान को नहीं छोड़ते हैं; वे ही काल की जरासी भ्रूभंगी से दाँतों में अँगुली दबाने लगते हैं। १०—मुनियों के निष्पापाचरण और तलवार की धार के समान व्रतसे भी काल का प्रतिकार नहीं हो सकता है। ११—अहो! यह विश्व, शरणहीन, अराजक, अनायक और प्रतिकार रहित ज्ञात होता है। क्योंकि उसको कालरूपी राक्षस भक्षण कर जाता है। १२—प्रतिकार एक धर्म कहा जा सकता है; मगर वह भी मरण का नहीं। वह शुभ गति देता है, इसीलिए वह (उपचार से) प्रतिकार कहा जाता है। कारण यह है कि, काल धर्मिष्ठ पुरुषों को भी नहीं छोड़ता है।

कोई शंका करे कि यदि काल का कोई प्रतिकार नहीं है तो फिर जीवों की मुक्ति कैसे हुई और होगी? इसका तेरहवें श्लोक में इस तरह उत्तर दिया गया हैं कि:— १३—दीक्षा रूपी उपाय को ग्रहण करके अक्षय सुखस्थान चौथे पुरुषार्थ—मोक्ष के लिएप्रयत्न करना चाहिए। इससे काल परास्त होगा और जीव अनुपम सुख का उपभोग कर सकेगा।

अपवित्रता।

उक्त श्लोकों से यह सिद्ध हुआ कि यह शरीर नाशमान और अशरण है। मगर यह शरीर अपवित्र भी है। शास्त्रकार कहते हैं:—

रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रान्त्रवर्चसाम् ।
अशुचीनां पदं कायः शुचित्वं तस्य तत्कुतः ॥१॥

नवस्रोतस्रवद्विस्ररसनिःस्यन्दपिच्छिले ।
देहेऽपि शौचसंकल्पो महामोहविजृम्भितम् ॥२॥

शुक्रशोणितसंभूतो मलनिःस्यन्दवर्द्धितः ।
गर्भे जरायुसंछन्नः शुचिः कायः कथं भवेत् ? ॥३॥

मातृजग्धान्नपानोत्थरसनाडीक्रमागतम् ।
पायं पायं विवृद्धः सन् शौचं मन्येत कस्तनोः ? ॥४॥

दोषधातुमलाकीर्णे कृमिगण्डुपदास्पदम् ।
रोगभोगिगणैर्जग्धं शरीरं को वदेच्छुचि ? ॥५॥

सुस्वादून्यन्नपानानि क्षीरेक्षुविकृतिरपि ।
भुक्तानि यत्र विष्ठायै तच्छरीरं कथं शुचि ? ॥६॥

विलेपनार्थमासक्तसुगन्धिर्यक्षकर्दमः ।
मलीमवंति यत्राशु क्व शौचं तत्र वर्ष्माणि ? ॥७॥

जग्ध्वा सुगन्धि ताम्बूलं सुप्तो निश्युत्थितः प्रगे ।
जुगुप्सते वक्त्रगन्धं यत्र किं तद्वपुः शुचि ? ॥८॥

स्वतः सुगन्धयो गन्धधूपपुष्पस्रगादयः ।
यत्सङ्गाद् यान्ति दौर्गन्ध्यं सोऽपि कायः शुचीयते ?॥९॥

अभ्यक्तोऽपि विलिप्तोऽपि धौतोऽपि घटकोटिभिः ।
न याति शुचितां कायः शुण्डाघट इवाशुचिः ॥१०॥

मृज्जलानलवातांशुस्नानैः शौचं वदन्ति ये ।
गतानुगतिकैस्तैस्तु विहितं तुषखण्डनम् ॥११॥
तदनेन शरीरेण कार्यं मोक्षफलं तपः ।
क्षाराब्धै रत्नवद्धीमान् असारात्सारमुद्धरेत् ॥१२॥

भावार्थ——१–यह शरीर रस, रुधिर, मांस, मेद, हड्डिया, मज्जा, शुक, आँते और विष्ठारूपी खराब पदार्थों का स्थान है । फिर इस शरीर में पवित्रता कैसे आसकती है ? २–जिसके नव द्वारों में से निरन्तर खराब रसके झरने झरते रहते हैं; जो खराब चीजों का उद्गमस्थान है उस शरीर में शौच की–शुद्धि की कल्पना करना महान् मोह की विडंबना मात्र है । ३–जो शरीर वीर्य और रुधिर से उत्पन्न होता है; मलके झरणे से बढ़ता है और गर्भ में जरायसे ढुंका रहता है वह पवित्र कैसे हो सकता है ? ४–जो शरीर, माताने अन्नजल ग्रहण किया; वह नसनस में फिरा; फिर क्रमशः उससे दुग्ध उत्पन्न हुआ ऐसे दुग्ध को पी कर बढा है; उसको कौन बुद्धिमान पवित्र मान सकता है ? ५–दोष (वात, पित्त और कफ) धातु (रस, रुधिरादि सात धातु) मल व्याप्त और छोटे छोटे कीड़ों के स्थान और रोगरूपी सर्प समूह से काटा हुआ शरीर कैसे पवित्र कहा जा सकता है ? ” ६–स्वादिष्ट भोजन, पान और अन्य पदार्थ भी खाने पर, जब शरीर में जाते हैं, तब विष्ठा होजाते हैं; तो फिर वह शरीर

पवित्र कैसे हो सकता है ? ७–सुगंधित केशर आदि भी जिस शरीर में लगने मलिन होजाते हैं उस शरीर में पवित्रता कैसे आ सकती है ? ८–मुँहको शुद्ध बनानेवाला तांबूल खाकर, रात को मनुष्य, सोजाता है, तो शरीर के योगमे वही तांबूल दुर्गंध-मय बन जाता है–मुँहमें से बदबू आने लग जाती है ऐसा शरीर कैसे पवित्र कहा जा सकता है ? ९–तैलादि से मर्दित किये जाने पर, चंदनादि से विलेपित किये जाने पर और करोड़ों जलके घड़ों से धोये जाने पर भी शरीर मदिरा के घड़े की तरह स्वच्छ, पवित्र नहीं होता है । १०–गतानुगतिक लोग कहते हैं, कि मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, सूर्य का किरण और स्नान से शरीर पवित्र होजाता है । मगर उनका यह कथन छिलके कूटना मात्र है । मदिरा के घड़े के अनुसार शरीर स्वभाव से ही अशुद्ध है । वह किसी भी उपाय से शुद्ध नहीं होता है । तो भी कई मनुष्य खा, पीके, मलमूत्र त्याग करके जलस्नान कर लेने से देह की शुद्धि मानते हैं; उसीमें धर्म मानते हैं । ये लोग जानते हैं, कि जल में हजारों प्रकार के जीवजन्तु रहते हैं, तो भी वे जल को, हद उपरांत, व्यय करते नहीं डरते हैं । इतनाही क्यों, वे जैन मुनियों की, जो परिमित जलका उपयोग करते हैं–निंदा करते नहीं चूकते हैं ।

यदि तत्त्वदृष्टि से विचार किया जायगा तो ज्ञात होगा कि, जैनमुनियों की सारी प्रवृत्तियाँ परोपकार के लिए ही होती है ।

स्वयं कष्ट सहन कर दूसरों को सुख पहुँचाना क्या कम परोपकार है ? नहीं तो स्नान, विलेपन, तैलमर्दन, दन्तधावन, धूप, दीप, ताम्बूल आदि से शरीर की शुद्धि, पलंग का शयन और पंखे का पवन आदि सुखके साधन कौन पसंद नहीं करता है ? सब करते हैं। केवल मोक्षाभिलाषी जीव होते हैं वेही इनका त्याग करते हैं। शास्त्रकारों का यह भी कथन है, कि 'ब्रह्मचारी सदा शुचिः' (ब्रह्मचारी सदैव शुद्ध होता है) इस वाक्यानुसार साधुओं को स्नान विलेपनादिकी आवश्यकता नहीं है। देवपूजादि के निमित्त जो क्रिया की जाती है, वह भी श्रावकों के लिए है; साधुओं के लिए नहीं। श्रावकों को भी यह आज्ञा दी गई है, कि वे परिमित जलसे जन्तुविहीन स्थान में विवेकपूर्वक स्नानक्रिया करें। कुआ, बावडी, तालाब आदि में, कूद जल जन्तुओं को पीडित कर, पवित्र बनना, सर्वथा अनुचित है। अन्यजीवों को दुखी करनेवाला कैसे शान्ति प्राप्त कर सकता ? हिन्दुधर्म में मनुस्मृति प्रामाणिक और पवित्र समझी जाती है। उसमें भी इसके संबंध में निम्नलिखि बातें लिखी हैं:—

एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश।
उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता ॥१॥
एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम्।
त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम् ॥२॥

भावार्थ—जो अपने शरीर की शुद्धि चाहता है, उसको चाहिए कि, वह लिङ्ग में मिट्टी का एक लेप, गुदामें तीन लेप, बाएँ हाथ में दस लेप और पीछे दोनों हाथों को शामिल करके सात लेप देवे। यह शौचविधि गृहस्थों के लिए है। ब्रह्मचारियों को इससे दुगने लेप, वानप्रस्थों को तीन गुने लेप और यतियों को चार गुने लेप करने चाहिए।

पाठक! देखिए। उक्त श्लोकों से 'ब्रह्मचारी सदा शुचिः' इस कथन का क्या मेल खाता है? इन श्लोकों से तो उक्त वाक्य सर्वथा निष्प्रयोजनीय ठहरता है। इन श्लोकों में जैसी विधि बताई गई है, वैसी विधि करनेवाला भी तो आजकल कोई नहीं दिखता। तो फिर आजकल के लोग क्या अपवित्र ही हैं? मनुस्मृति के इस आदेशानुसार यति—सन्यासि—यदि शुद्धि करने बैठेंगे तो मैं सोचता हूँ कि, उनको ईश्वरभजन का समय भी नहीं मिलेगा। मान लो कि वह बराबर इस तरह विधि कर लेगा तो भी दूसरे लोग तो उसको शुद्ध नहीं मानेंगे। यदि किसी मनुष्य पर उक्त प्रकार की क्रिया करनेवाले का थूक पड़ेगा, तो, जिस पर थूक पड़ा है, वह क्या कुपित हुए विना रह जायगा? कदापि नहीं। संभव है कि, वह साधु जान कर न बोले; तो भी उसके हृदय में तो अवश्यमेव दुःख होगा। अभिप्राय कहने का यह है कि, करोड़ों घड़ों से स्नान करो;

हजारों नदी कुओं में डुबकी मारो; और इस तरह शुद्ध बन कर, किसी पर थूक कर देखो लड़ाई होती है या नहीं ? शरीर को मदिरा के घड़े की और गंदगी के गड्ढे की उपमा दी गई है, वह सर्वथा ठीक है। तत्ववेत्ताओं का यह कहना सर्वथा ठीक है कि, जो जलादि से शरीरादि की शुद्धि मानते हैं वे छिल के कूट कर उनमें से आटा निकालना चाहते हैं। १२ इसलिए ऐसे (अपवित्र शरीर से) मोक्ष का फलदाता तपरत्न ग्रहण कर लेना चाहिए। खारे समुद्र में से भी रत्न निकाले जाते हैं। बुद्धिमान असार में से भी सार ग्रहण कर लेते हैं। इसी तरह इस अशुचि शरीर से धर्म कार्य करना चाहिए। इस प्रकार के शरीर की वास्तविक स्थिति को मनुष्य उसी समय समझ सकता है जब वह यह समझने लगता है कि;—" मैं अकेला हूँ। मेरा कोई नहीं हैं। मैं अकेला आया हूँ और अकेला ही जाऊँगा।" जबतक इस तरह से एकत्व भावना, मनुष्य नहीं भावेगा तब तक उसका शरीर पर का मोह कदापि नहीं छूटेगा। यहाँ एकत्व भावना का दिग्दर्शन कराया जाता है।

एकत्व भावना।

पुत्रमित्रकलत्रादेः शरीरस्यापि सत्क्रिया।
परकार्यमिदं सर्वं न स्वकार्यं मनागपि ॥ १ ॥

एक उत्पद्यते जन्तुरेक एव विपद्यते ।
कर्माण्यनुभवत्येकः प्रचितानि भवान्तरे ॥ २ ॥
अन्यैस्तेनार्जितं वित्तं भूयः संभूय भुज्यते ।
स त्वेको नरकक्रोडे क्लिश्यते निजकर्मभिः ॥ ३ ॥
दुःखदावाग्निभीष्मेऽस्मिन्विततं भवकानने ।
बंभ्रमीत्येक एवासौ जन्तुः कर्मवशीकृतः ॥ ४ ॥
इह जीवस्य मा भूवन् सहाया बान्धवादयः
शरीरं तु सहायश्चेत् सुखदुःखानुभूतिदम् ॥ ५ ॥
नायाति पूर्वभवतो न याति च भवान्तरम् ।
ततः कायः सहायः स्यात् संफेटमिलितः कथम् ॥६॥
धर्माधर्मौ समासन्नौ सहायाविति चेन्मतिः ।
नैषा सत्या न मोक्षेऽस्ति धर्माधर्मसहायता ॥७॥
तस्मादेको बंभ्रमीति भवे कुर्वन् शुभाशुभे ।
जन्तुर्वेदयते चैतदनुरूपे शुभाशुभे ॥ ८ ॥
एक एव समादत्ते मोक्षश्रियमनुत्तराम् ।
सर्वसंबन्धिविरहाद् द्वितीयस्य न संभवः ॥९॥
यद्दुःखं भवसंबन्धि यत्सुखं मोक्ष संभवम् ।
एक एवोपभुङ्क्ते तद् न सहायोऽस्ति कश्चन ॥१०॥
यथा चैकस्तरसिन्धुं पारं व्रजति तत्क्षणात् ।
न तु हृत्पाणिपादादिसंयोजित परिग्रहः ॥११॥

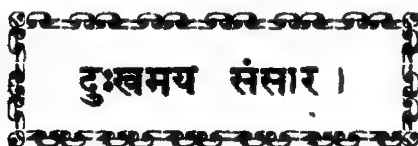
तथैव धनदेहादिपरिग्रहपराङ्मुखः ।
स्वस्य एको भवाम्भोधेः पारमासादयत्यसौ ॥१२॥
तत्सांसारिकसंबन्धं विहायैकाकिना सता ।
यतितव्य हि मोक्षाय शाश्वतान्तशर्मणे ॥१३॥

भावार्थ—१—हे जीव! पुत्र, मित्र, स्त्री और स्व शरीर की सुंदर प्रक्रिया यानी सत्कार यह सब कुछ परकार्य है। इसको तू स्वकाय न समझना। २—जीव अकेला जन्मता है; अकेला मरता है इसी तरह अपने इकट्ठे किये हुए कर्मों को भी भवान्तर में वह एकेला ही भोगता है। ३—अनेक प्रकार के कर्म करके जीव धन इकट्ठा करता है। उसका उपभोग अन्य मिलकर करते हैं। और वह नरक में जाता है। ४—आधि, व्याधि और उपाधि रूप दुःख दावानल से भयंकर बनी हुई संसार रूपी विस्तीर्ण अटवी में जीव, कर्माधीन होकर, अकेला भ्रमण करता है। ५—जीव को सुख और दुःख का अनुभव करानेवाला शरीर यदि सहायता करे तो फिर भाई, बहिन आदि कुटुंब सहायता न करे तो कोई हानि नहीं है। (जब शरीर ही मददगार नहीं होगा तो फिर अन्य कुटुंब की मदद की आशा करना तो केवल दुराशा मात्र ही है।) ६—पूर्व भव से शरीर न साथ में आया है और न वह भवान्तर में साथ में जावेहीगा। यह मार्ग में जाते हुए मिलनेवाले उदासीन भावधारी मुसाफिर के

अनुसार है। वह शरीर का कैसे सहायक हो सकता है? अर्थात् नहीं होता है। ७–जो यह कल्पना करते हैं, कि धर्म और अधर्म भवान्तर में जीव की सहायता करते हैं, सो भी मिथ्या है। क्योंकि मोक्ष में धर्म और अधर्म दोनों की आवश्यकता नहीं है। इस बात को तो सब मानते हैं कि, मोक्ष में पाप हेय है–त्याज्य है। तत्त्ववेत्ता धर्म को भी मोक्ष में हेय समझते हैं और इस बात को वे युक्तियों और शास्त्रों के द्वारा भली प्रकार समझाते हैं। धर्म पुण्य का कारण होने से बंध रूप है; और जीव मोक्ष उसी समय जासकता है, जब कि पुण्य का भी अभाव हो जाता है। ८–इससे जीव शुभ या अशुभ कार्य करता हुआ, संसार में अकेला ही भ्रमण करता है और अपने किये हुए पुण्य पाप का फल भी अकेला ही भोगता है। ९–जीव शुभ भावना भावित अन्तःकरणवाला बनने से मोक्ष लक्ष्मी को भी वह अकेला ही प्राप्त करता है। मोक्ष में सब संबंधों का अभाव है, वहाँ भी वह अकेला ही रहता है। १०–संसार के दुःख को और मोक्षके सुख को भी जीव अकेला ही भोगता है। उसमें न कोई सहायक होता है और न भागीदार ही। ११–बंधन-रहित पुरुष तैरता हुआ समुद्र के पार होजाता है; परन्तु जिसके हृदय पर या पीठ पर या हाथ पैरों में बोझा होता है, वह पार नहीं पहुँच सकता है। १२–इसी तरह संसार से उन्मुख बना हुआ, यानी भार रहित बना हुआ जीव ही अकेला संसार

समुद्र के पार आ सकता है १२–इसिलिए सत्पुरुषों को चाहिए कि वे सांसारिक संबंधों को छोड़कर, अनश्वर, अनुपम, अनन्त और अव्याबाध सुख को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करे।

उक्त श्लोक सदा स्वनाम की तरह आत्मकल्याणाभिलाषी पुरुषों को कण्ठस्थ रखने चाहिए। इन श्लोकों में स्पष्टतया एकत्व भावना का स्वरूप बताया गया है। जबतक प्राणियों के अन्तःकरण में एकत्व भावना रूप अंकुर उत्पन्न नहीं होता है, तबतक सच्चा वैराग्य नहीं होता है। वैराग्य के अभाव में उनको चार गतियों के असंख्य कष्ट सहन करने पड़ते है। चार गतियो में रहनेवाले जीवोंमें से एक भी जीव को वास्तविक सुख नहीं है। जिस को जीव सुख कहते हैं, वह सुखाभास मात्र है। तो भी जीव विष्ठा के कीड़े की तरह उसमें लिप्त रहते हैं। अब यहाँ चार गतियों का दिग्दर्शन कराते हैं।



दुःखमय संसार।

पारावार इवापारसंसारो घोर एष भोः!।
प्राणिनश्चतुरशीतियोनिलक्षेषु पातयन् ॥ १ ॥
श्रोत्रियः श्वपचः स्वामी पत्तिर्ब्रह्मा कृमिश्च सः।
संसारनाट्ये नटवत् संसारी हन्त! चेष्टते ॥ २ ॥

न याति कतमां योनिं कतमा वा न मुञ्चति ।
संसारी कर्मसम्बन्धादवक्रयकुटीमिव ! ॥ ३ ॥
समस्तलोकाकाशेऽपि नानारूपैः स्वकर्मतः ।
वालाग्रमपि तन्नास्ति यन्न स्पृष्टं शरीरिभिः ॥ ४ ॥
संसारिणश्चतुर्भेदाः श्वभ्रितिर्यग्नरामराः ।
प्रायेण दुःखबहुलाः कर्म संबन्धबाधिताः ॥ ५ ॥

भावार्थ—१–हे भव्यो ! यह घोर संसार, समुद्र की तरह अपार है, और प्राणियों को चौरासी लाख योनियों में भटकाने-वाला है । २–इस संसार रूपी नाटकशाला में जीव, किसीवार ब्राह्मण का रूप धरता है और किसीवार चांडाल बनता है । किसीवार सेवक होता है और किसीवार स्वामी का वेष लेता है । किसीवार ब्रह्मा का पार्ट करता है और किसीवार पेट का कीड़ा हो जाता है । ३–संसारी जीव किराये की कोठड़ी की तरह कौनसी योनि में नहीं जाता है ? और कौन कीसीको नहीं छोड़ता है ? अर्थात् जीव को सब योनियों में जाना पड़ता है और सबको वापिस छोड़ना भी पड़ता है । ४–नाना प्रकार के रूप धरकर जीव कर्म के योग से समस्त लोकाकाश में फिरा है । बाल बराबर भी स्थान ऐसा नहीं रहा जिस में जीव न गया हो । तात्पर्य कहने का यह है कि, जीव समस्त लोकाकाश में अनन्त-वार जन्म मरण कर चुका है । ५–संसारी जीव चार भागों में

विभक्त हैं। १—नरक; २—तिर्यंच; ३—मनुष्य; और ४—देव। इन गतियों के जीव कर्म-पीडित और दुःखी है।

नरक गति के दुःख।

आद्येषु त्रिषु नरकेषूष्णं शीतं परेषु च।
चतुर्थे शीतमुष्णं च दुःखं क्षेत्रोद्भवं त्विदम् ॥ ६ ॥

नरकेषूष्णशीतेषु चेत्पतेल्लोहपर्वतः।
विलीयेत विशीर्येत तदा भत्रमवाप्नुवन् ॥ ७ ॥

उदीरितमहादुःखा अन्योन्येनासुरैश्च ते।
इति त्रिविधदुःखार्ता वसन्ति नरकावनौ ॥ ८ ॥

समुत्पन्ना घटीयन्त्रेष्वधार्मिकसुरैर्बलात्।
आकृष्यन्ते लघुद्वारा यथा सीसशलाकिका ॥ ९ ॥

गृहीत्वा पाणिपादादौ वज्रकंटकसंकटे।
आस्फाल्यन्ते शिलापृष्ठे वासांसि रजकैरिव ॥ १० ॥

दारुदारं विदार्यन्ते दारुणैः क्रकचैः क्वचित्।
तिलपेशं च पिष्यन्ते चित्रयन्त्रैः क्वचित्पुनः ॥ ११ ॥

पिपासार्ताः पुनस्तप्तत्रपुसीसकवाहिनीम्।
नदीं वैतरणीं नामावतार्यन्ते वराककाः ॥ १२ ॥

छायाभिकांक्षिणः क्षिप्रमसिपत्रवनं गताः।
यत्र शस्त्रैः पतद्भिस्ते छिद्यन्ते तिलशोऽसकृत ॥ १३ ॥

संश्लेष्यन्ते च शाल्मल्यो वज्रकंटकसंकटाः ।
तप्तायःपुत्रिका क्वापि स्मारितान्यवधूरतम् ॥ १४ ॥
संस्मार्य मांसलोलत्वमाश्यन्ते मांसमंगजम् ।
प्रख्याप्य मधुलौल्यं च पाय्यन्ते तापितं त्रपुः ॥ १५ ॥
भ्राष्ट्रकंडुमहाशूलकुंभीपाकादिवेदनाः ।
अश्रान्तमनुभाव्यन्ते भृज्यन्ते च मटित्रवत् ॥ १६ ॥
छिन्नभिन्नशरीराणां भूयो मिलितवर्ष्मणाम् ।
नेत्राद्यंगानि कृष्यन्ते बककंकादिपक्षिभिः ॥ १७ ॥
एवं महादुःखहताः सुखांशेनापि वर्जिताः ।
गमयन्ति बहुं कालमात्रयस्त्रिंशसागरम् ॥ १८ ॥

भावार्थ—६–नरकगति में सात विभाग हैं। उनमें से पहिले के तीन भागों में उष्ण वेदना है; चौथे भाग में उष्ण और शीत दोनों प्रकार की वेदनाएँ हैं और पाँचवें, छठे और सातवें भाग में केवल शीत वेदना है। ७–उष्ण या शीत नरक में यदि लोहे का पर्वत पड़ता है तो वह उस जमीन पर पहुँचने के पहिले ही गल जाता है, या उसका चूरा हो जाता है। ८–वे परस्पर लड़ते हैं; दुःखी होते हैं। पन्द्रह प्रकारके परमाधार्मिक देव होते हैं। वे क्रीडा करनेके लिए नरक में जाते हैं और नारकी के जीवों को अत्यन्त दुःख देते हैं। इस प्रकार एक दूसरे को दी हुई वेदना; क्षेत्रवेदना और परमाधार्मिक कृत

वेदना नारकी के जीव निरंतर भोगते रहते हैं। ९—घंटाकार योनि में नारकी जीव उत्पन्न होते हैं। उनको परमाधार्मिक देव उनके जन्म-स्थानमें से ऐसे खींच लेते हैं, जैसे कि, शीशे की सली को जंतीमें से खींच लेते हैं। १०—कईवार वे भयंकर करवत से लकड़े की तरह चीरे जाते हैं और कईवार तिलों की तरह घानी में डालकर पील दिये जाते हैं। ११—बेचारे तृषार्त नारकी जीव वैतरणी नदी में—जिसमें कि तपा हुआ शीशा (यानी तपे हुए शीशे के समान उष्ण जल) बहता है—उतार दिये जाते हैं। १२—गरमी से घबराये हुए नारकी जीव असिपत्र बनमें लेजाये जाते हैं। वहाँ परमाधार्मिक देव वायु चलाकर, बरछी और भाले के समान पत्ते उन पर गिराते हैं। उनसे उनके नारकी जीवोंके तिल तिलके समान टुकड़े हो जाते हैं। १३—परमाधार्मिक देव नारकी जीवों को शाल्मलीनामा वृक्ष पर—जिसमें वज्र खीलों के समान काँटे होते हैं—चढाते हैं। तथा उनको यह याद दिलाकर कि तुमने जन्मान्तर में परस्त्री के साथ संभोग किया था—खुब गरम की हुई लोहे की पुतली गले लगाने के लिए विवश करते हैं। १४—वे पूर्व भवके, मांस लोलुप जीवों का मांस, दूसरे जीवोंको खिलाते हैं और मधुलोलुप जीवों को पिघला हुआ शीशा पिलाते हैं। १५—परमाधार्मिक देव भ्राष्ट्र, रंकु, महाशूल और कुंभीपाकादि की वेदना निरंतर नारकी के जीवों को भुगताते हैं; और उनको भुर्ते की तरह भूनते हैं।

१७–बगुले और कंकादि पक्षियों द्वारा उनके चक्षु आदि अवयव खिचाये जाते हैं। १८–उक्त प्रकार के महान दुःख झेलते हुए और सुख के लिए तरसते हुऐ नारकी के जीव उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम तक बहुत लंबा काल बिताते हैं।

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा तमःप्रभा और महातमप्रभा ये सात नरक की पृथ्वियाँ हैं। ये सातों नरकों के नाम नहीं ह। पृथ्वियों के नाम हैं। नरकों के नाम ये हैं–घमा, वंशा, शैला, अंजना, अरिष्टा, मघा और माघवती, ये सात नरकों के नाम हैं। पहिले के तीन नरकों में परमाधार्मिक देवकृत वेदना होती है। परमाधार्मिकदेव भुवनपति देव विशेष होते हैं। उनके नाम ये हैं;–अंब, अंबर्षि, श्याम, संबल, रुद्र, उपरुद्र, काल, महाकाल, असि, पत्रधनु, कुंभी, वालुक, वैतरणी, खरस्वर और महाघोष। ये मिथ्यात्वी होते हैं; पूर्वजन्म के महापापी होते हैं, और पाप में स्नेह रखनेवाले होते हैं। वे असुरगति पाकर, नारकियों को दुःख देने ही का कार्य प्राप्त करते हैं। नरकों के विचित्र प्रकारके दुःखों का सूयगडांग सुत्रके पाँचवें अध्ययनमें, अच्छा चित्र खींचा गया है। उनमें से चार गाथायें यहाँ उद्धृत की जाती हैं।

इंगालरासिं जलियं सजोतिं ततोवमं भूमिमणुक्कमंता।
ते डज्झमाणा कलुणं थणन्ति अरहस्सरा तत्थ चिरट्ठितीया ॥१॥

जइ ते सुया वेयरणी भिदुग्गा णिसिओ जहा खुर इव तिक्खसोया।
तरंति ते वेयरणीं भिदुग्गां उसुचोइया सत्तिसुहम्ममाणा ॥२॥
किलेहिं विज्झंति असाहुकम्मा नावं उविंते सइविप्पहूणा।
अन्ने तु सूलाहिं तिसूलियाहिं दीहाहिं विध्धूण अहेकरन्ति ॥३॥
केसिं च बंधितु गले सिलाओ उदगंसि बोलंति महालयंसि।
कलंबुयावालुय मुम्मुरे य लोलंति पचंति अ तत्थ अन्ने ॥४॥

मुद्गलसे मारो, तलवारसे काटो, त्रिशूलसे भेदो, अग्निसे जलाओ। आदि परमाधार्मिक देवोंके भयंकर शब्द सुनकर, नारकी जीव उक्त चार गाथाओं में बताया हुआ दुःख भोगते हैं। उनका अर्थ इसतरह है:—

१—अंगारे के ढेर पर और जलती हुई अग्नि की उपमा-वाली भूमि पर चलते हुए नारकी जीव जलते हैं। (यद्यपि नरक-भूमिको अग्नि की उपमा नहीं लग सकती; क्योंकि वहाँ बाहर अग्निका अभाव है; तथापि नरक के दुःखों का दिग्दर्शन कराने क लिए 'अंगारा' 'अग्नि' आदि का नाम दिया गया है। वास्तव में नरकमें नगरदाह की अपेक्षा भी विशेष वेदना है।) वे दीन होकर रुदन करते हैं; उनका स्वर विकृत होजाता है। इतना होने पर भी उनका आयुष्य निकाचित होता है, इसलिए उनको नरकही में दीर्घकाल तक रहना पड़ता है। २—श्रीसुधर्मास्वामी जंबूस्वामी से कहते हैं कि,—" हे जंबू! मैंने श्रीमहावीरस्वामी

से सुना है कि, नरकमें एक वैतरणी नदी बहती है। उसका जल बहुत उष्ण है। वह जीवों को अत्यंत दुःखदायी होता है। उसका प्रवाह अस्त्रों के समान है। उष्ण भूमि में चलने से और अन्य भी कई प्रकार के कारणों से तप्त होकर नारकी जीव शान्त होकर इस नदी की ओर दौड़ते हैं। मगर वहाँ जा उसे देख, भयभीत होजाते हैं। इतनेही में वहाँ परमाधार्मिक देव, 'बाण' और 'शक्ति' आदि शस्त्रोंद्वारा उन जीवों को वैतरणी नदी में गिराकर, तैरने को विवश करते हैं। १—अत्यंतखारे, उष्ण और दुर्गंधमय वैतरणी के जलसे नारकी जीव जब बहुत व्याकुल हो जाते हैं, तब परमाधार्मिक देव तपे हुए लोहेके कीलों के एक नौका बनाते हैं, और फिर उन्हें वे जबर्दस्ती घसीट कर उस नौका पर चढ़ाते हैं। कीले चारों तरफसे उनके बदन में घुस जाते हैं और वे बेचारे करुणाक्रंदन करने लगते हैं। नारकियों का शरीर नवजात पक्षी के बच्चे की तरह मुलायम होता है। इस लिए वे वैतरणी के जलसे ही मूर्च्छित प्रायः हो जाते हैं। मगर गरम लोहे जब उन के शरीर में घुसते हैं, तब वे बहुत बुरी तरहसे रोने चिल्लाने लगते हैं। (जैसे—डॉक्टर लोग क्लोरोफार्म सुंघा कर, रोगी को बेसुध कर देते हैं, और फिर उस का ओपरेशन करते हैं। तो भी उसके मुँहसे शरीर-धर्मानुसार रोगी चिल्ला उठता है और हाथ पैर पछाड़ता है। ऐसी ही दशा नारकी के जीवों की होती है।) मूर्च्छित

नारकी के जीवों को अन्य परमाधार्मिक देव शूली में बींधकर उलटे लटका देते हैं। ४—कई परमाधार्मिक देव बेचारे अनाथ, अशरण नारकियों को, उन के गले में एक बहुत बड़ी शिला बांध कर, उक्त स्वरूप वाली वैतरणी नदी में डुबाते हैं। वहांसे निकाल कर, उन्हें वे, कदंब पुष्प के समान रंगवाली तपनेसे बनी हुई—रेती में डालते हैं और भट्ठी की आग में डाल कर, उनको चने के समान भूजते हैं। कई नरकपाल उनको लोहे की सलाखों में पिरो कर, मांस के टुकड़े की तरह, सेकते हैं। आदि प्रकार से नरक की वेदनाएं अत्यंत भयंकर हैं। उन का थोड़ासा नमूना मात्र दिखाया गया है। सातों नरकों में आयुष्य और शरीर भिन्न भिन्न हैं। उस का हम यहां उल्लेख न करेंगे। क्यों कि ऐसा करना अस्थानमें होगा।

तिर्यंच गति में दुःख।

तिर्यग्गतिमपि प्राप्ताः संप्राप्यैकेन्द्रियादिताम्।
तत्रापि पृथिवीकायरूपतां समुपागताः॥ १॥

हलादिशस्त्रैः पाट्यन्ते मृद्यन्तेऽश्वगजादिभिः।
वारिप्रवाहैः प्लाव्यन्ते दह्यन्ते च दवाग्निना॥ २॥

व्यथ्यन्ते लवणाचाम्लमूत्रादिसलिलैरपि।
लवणक्षारतां प्राप्ताः क्वथ्यन्ते चोष्णवारिणि॥ ३॥

पच्यन्ते कुम्भकाराद्यैः कृत्वा कुंभेष्टकादिसात् ।
चीयन्ते भित्तिमध्ये च नीत्वा कर्दमरूपताम् ॥ ४ ॥

अप्कायतां पुनः प्राप्तास्ताप्यन्ते तपनांशुभि ।
घनीक्रियन्ते तुहिनैः संशोष्यन्ते च पांशुभिः ॥ ५ ॥

क्षारेतररसाश्लेषाद् विपद्यन्ते परस्परम् ।
स्थाल्यन्तःस्था विपच्यन्ते पीयन्ते च पिपासितैः ॥ ६ ॥

तेजःकायत्वमासाद्य विध्याप्यन्ते जलादिभिः ।
घनादिभिः प्रकुट्यन्ते ज्वाल्यन्ते चेन्धनादिभिः ॥ ७ ॥

वायुकायत्वमप्याप्ता हन्यन्ते व्यजनादिभिः ।
शीतोष्णादिद्रव्ययोगाद् विपद्यन्ते क्षणे क्षणे ॥ ८ ॥

प्राचीनाद्यास्तु सर्वेऽपि विराध्यन्ते परस्परम् ।
मुखादिवातैर्बाध्यन्ते पीयन्ते चोरगादिभिः ॥ ९ ॥

वनस्पतित्वं दशधा प्राप्ताः कंदादिभेदतः ।
छिद्यन्ते वाथ भिद्यन्ते पच्यन्ते वाग्नियोगतः ॥ १० ॥

संशोष्यन्ते निपिष्यन्ते प्लुष्यन्तेऽन्योन्यघर्षणैः ।
क्षारादिभिश्च दह्यन्ते सन्धीयन्ते च भोक्तृभिः ॥ ११ ॥

सर्वावस्थासु खाद्यन्ते भज्यन्ते च प्रभञ्जनैः ।
क्रियन्ते भस्मसाद् दावैरुन्मूल्यन्ते सरित्प्लवैः ॥ १२ ॥

सर्वेऽपि वनस्पतयः सर्वेषां भोज्यतां गताः ।
सर्वैः शस्त्रैः सर्वदानुभवन्ति क्लेशसंततिम् ॥ १३ ॥

द्वीन्द्रियत्वे च ताड्यन्ते पीयन्ते पूतरादयः ।
चूर्ण्यन्ते कृमयः पादैः भक्ष्यन्ते चटकादिभिः ॥ १४ ॥
शंखादयो निखन्यन्ते निकृष्यन्ते जलौकसः ।
गण्डूपदाद्याः पात्यन्ते जठरादौषधादिभिः ॥ १५ ॥
त्रीन्द्रियत्वेऽपि संप्राप्ते षट्पदीमत्कुणादयः ।
विमृद्यन्ते शरीरेण ताप्यन्ते चोष्णवारिणा ॥ १६ ॥
पिपीलिकास्तु तुद्यन्ते पादैः संमार्जनेन च ।
अदृश्यमानाः कुंथ्वाद्या मथ्यन्ते चासनादिभिः ॥ १७ ॥
चतुरिन्द्रियताभाजः सरघाभ्रमरादयः ।
मधुमक्षैर्विराध्यन्ते यष्टिलोष्टादिताडनैः ॥ १८ ॥
ताड्यन्ते तालवृन्ताद्यैर्द्राग् दंशमशकादयः ।
ग्रस्यन्ते गृहगोधाद्यैर्मक्षिकामर्कटादयः ॥ १९ ॥
पञ्चेन्द्रिया जलचराः खाद्यन्तेऽन्योन्यमुत्सुकाः ।
धीवरैः परिगृह्यन्ते गिल्यन्ते च बकादिभिः ॥ २० ॥
उत्कील्यन्ते त्वचयाद्भिः प्राप्यन्ते च भटित्रताम् ।
भोक्तुकामैर्विपाच्यन्ते निगाल्यन्ते वसार्थिभिः ॥ २१ ॥
स्थलचारिषु चोत्पन्ना अबला बलवत्तरैः ।
मृगाद्याः सिंह प्रमुखैर्मार्यन्ते मांसकांक्षिभिः ॥ २२ ॥
मृगयासक्त चित्तैस्तु क्रीडयामांसकाम्यया ।
नरैस्तैस्तैरुपायेन हन्यन्तेऽनपराधिनः ॥ २३ ॥

क्षुधापिपासाशीतोष्णातिभारारोपणादिना ।
कशांकुशप्रतोदैश्च वेदनां प्रसहन्त्यमी ॥ २४ ॥

खेचरास्तित्तिरिशुककपोतचटकादयः ।
श्येनसिञ्चानगृध्राद्यैः ग्रस्यन्ते मांसगृध्नुभिः ॥ २५ ॥

मांसलुब्धैः शाकुनिकैर्नानोपायप्रपञ्चतः ।
संगृह्य प्रतिहन्यन्ते नानारूपैर्विडम्बितैः ॥ २६ ॥

जलाग्निशस्त्रादिभवं तिरश्चां सर्वतो भयम् ।
कियद्वा वर्ण्यते स्वस्वकर्मबन्धनिबन्धनम् ॥ २७ ॥

भावार्थ—१–तिर्यंच गतिप्राप्त जीव पहिले एकेन्द्री होते हैं। उन में से पृथ्वीकाय जीवों की स्थिति इस प्रकार की होती है। २–पृथ्वीकाय के जीव हलादि शस्त्रों द्वारा चिरते हैं; हाथी, घोड़े आदि के पैरों से रौंदे जाते हैं; जल के प्रवाह में खिचते हैं और अग्नि में जलते हैं। ३–खारे, कषायले, खट्टे और मूत्रादि के जलसे वे पीडित किये जाते हैं; इसी तरह क्षार खट प्राप्त पृथ्वीकाय के जीव गरम पानी में डाल कर उबाले जाते हैं। ४–कुम्हार उन्हें घड़ा, ईंट आदि का रूप दे कर पकाते हैं और राज उन को कीचड़ रूप में ला कर, दीवारें चुनते हैं। ५–जल स्वरूप जीवों को (जल स्वरूप जीव अपूकाय कहलाते हैं) सूर्य की किरणें तपाती हैं; हिम का संयोग उन को पत्थर के समान जमाता है और मिट्टी उस को सुखा

देती है । ६—खारे और मीठे पानी के जीवों के परस्पर, मिल-नेसे, दुःख होता है । बरतन के अंदर पानी का जीव तपाया जाता है और पीने की इच्छावाले प्राणी उस को पी जाते हैं । ७—अग्निकाय के जीव पानीसे बुझा दिये जाते हैं; तप्त लोहे में रहे हुए जीव घनों और हथोड़ोंसे कूटे जाते हैं और वे ईंधन वगैरहसे जला दिये जाते हैं । ८—वायुकाय प्राप्त जीव पंखे आदिसे मारे जाते है । इसी तरह शीत और उष्ण वस्तुओं के संयोग के समय भी वे क्षण क्षण में नष्ट होते रहते हैं । ९—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण का वायु परस्पर टक रहता है इससे वायुकाय के जीव मरते हैं; मुँहमेंसे निक-लते हुए श्वासोश्वाससे भी वायुकाय के जीव मरते हैं और सर्प आदि भी उन को भक्षण कर जाते हैं । १०—सूरण आदि दश प्रकार के कंद के रूप में उद्भवित वन-स्पतिकाय के जीव भेदे जाते हैं और अग्नि की ताप लगाकर पकाये जाते हैं । ११—वे सुखाये जाते हैं; पेले जाते हैं । परस्पर संघर्ष होकर उनमें आग उत्पन्न होती है और वे जल जाते हैं । क्षारादिसे भी उनके प्राण हरण किये जाते हैं और जीभ के रसिक भी तो उनका आचार ही पका डालते हैं । १२—छोटी और मोटी सब प्रकार की वनस्पतियों को लोग खा जाते हैं । वायु का प्रबल वेग उनको उखाड़ देता है; अग्नि उनको जलाकर राख बना देती है और जल उनको बहा ले

जाता है। १२—सारी वनस्पतियाँ सब प्रकार के प्राणियों क उपभोग म आती हैं। सब प्रकार के शस्त्रों द्वारा भी उनको क्लेश परंपरा का अनुभव करना पड़ता है। तात्पर्य कहने का यह है कि, सारी वनस्पतियाँ अमुक एक जाति ही के जीवों के उपभोग में आती हो सो बात नहीं है। सामान्यतया उनको सब जातियों के जीव खाते हैं। इसीलिए यह कहा गया है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सब जीव इनको खाते हैं। कहावत है कि " ऊट छोड़े आकड़ो और बकरी छोड़े काँकरो " इस कहावतसे भी यह बात सिद्ध होती है कि, सब वनस्पतियाँ सब जाति क जोवों के उपयोग में आ सकती हैं। १३—द्वीन्द्रिय होने पर भी जीव तपाये जाते हैं और जल के साथ उनका पान करलिया जाता है। कीड़े पैरों तले कुचल जाते हैं। चिलिया आदि पक्षी भी उनको खाजाते हैं। १४—द्वीन्द्री शंखादि जीवों का ऊपरवाला भाग उतारलिया जाता है। झोंक को लोग खराब लोहू पिलाकर निचोड़ डालते हैं। पेट में जो कीड़े होते हैं वे औषधादि प्रयोगों द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं। १५—तीन इन्द्री जूँ खटमल आदि जीव शरीरसे कुचले जाते हैं; गरम पानी के द्वारा वे नष्ट भी किये जाते हैं. (पापी—धर्म के अजान लोग ही ऐसा करते हैं)। १७—कीड़े मंकोड़े और घीमेल चीव, खजूर के बने हुए झाड़ दे सपाटेसे दुःखी होते है। कई तो मर भी जाते है। कुंथुआ

आदि कई जीव ऐसे हैं जो दिखते नहीं हैं और आसनादि के नीचे दबकर मर जाते हैं । १८—चतुरेन्द्री बने हुए मधुमक्खि-कादि जीवों को शहद के लोभी जीव लकड़ियों और पत्थरों से मार देते हैं । १९—पंखे आदि से डाँस, मच्छर आदि जीव ताडित होते हैं और करोलिया आदि जीवों को गरोली आदि जीव भक्षण कर जाते हैं। २०—जो जीव पंचेन्द्री होते हैं उनके तीन भेद हैं । जलचर, स्थलचर और खेचर । उनकी दशा इस प्रकार की होती है । जलचर जीव एक दूसरे को खाने के लिए उद्यत रहते हैं । मच्छीमार लोग उनको पकड़ते हैं और बगुले आदि मांसाहारी उनको जीतेही निगल जाते हैं । २१—चमड़ी के लोभी उनकी चमड़ी उतार लेते हैं । जंगली लोग पकड़ कर उनका भुर्ता बनाते हैं । खानेके लोलुप उनको पकाकर खाते हैं और चरबी के लोभी उनको, गलाकर उनमें से चरबी निकाल लेते हैं । २२—स्थलचर जीवों की ऐसी दशा होती है कि, सिंह वगेरा विशेष बलवान जीव मृगादि दुबल जीवों को खा जाते हैं । २३—मांस की इच्छा से और क्रीड़ा के लिए भी शिकारी लोग बेचारे निरपराध पशुओं को मार डालते हैं । २४—भूख, प्यास, सरदी, गरमी, अतिभार, चाबुक, अंकुश, आदि की वेदना घोड़े, हाथी और बैल सहन करते हैं । २५—तीतर, कबूर, सूए और चिड़ियाँ आदि खेचर जीवों को श्येन, गीध आदि मांसभक्षी जीव खाजाते हैं। २६—मांस लोलुप

चिड़िमार नाना प्रकार के उपायों द्वारा, पक्षियों को पकड़ते हैं और उन्हें मार डालते हैं। २७—पशुओं को, अग्नि, पानी और शस्त्रादि का भय सदा बनाही रहता है। इसका कारण उनका कर्मबंध ही है। उनको कितना दुःख होता है सो न यहाँ कहा ही जा सकता है और न सर्वज्ञ के सिवा उसका पूरा विवेचन कोई कर ही सकता है ?

उक्त बातों पर जरा विशेष रूपसे प्रकाश डाला जायगा। मनुष्य नारकी और देवों को छोड़कर एकेन्द्री से पंचेंद्री तक सब जीव तिर्यच हैं। उनके ४८ भेद हैं। उनमें से २२ भेद एकेन्द्रिय जीवोंके हैं। शेष छब्बीस भेद रहे। उनमें से २० भेदवाले जीव अन्योन्य भक्षक हैं। बाकी छः द्वीन्द्री, त्रीन्द्री और चतुरिन्द्री अन्योन्य भक्षक नहीं हैं; परन्तु वे अन्य भक्षक हैं। जैसे कीड़ी कीड़ी को नहीं खाती इससे वे अन्योन्य भक्षक नहीं। मगर कीड़ी इल्ली को खाती है, इसलिए वह अन्यभक्षक है। कहा जाता है कि—" जीवो जीवस्य भक्षणम् " (जीव जीवका भक्षण है।) इससे यह बात समझ में आती है कि संसार मच्छ गलागल है। यानी एक मच्छ जैसे दूसरे मच्छ को खा जाता है वैसे ही सारे संसार की दशा है। जीवों का जीवन सर्वत्र भयग्रस्त है। जीव ऐसा समझते हैं, तो भी वे अपनी रक्षा करने में प्रयत्न के करोलिये की तरह स्वयमेव फँस जाते हैं। करोलिया गरोली के भयसे, अपनी राल अपने शरीर पर लपेट

देता है। मगर सवेरा होते होते तो वह राल सूख जाती है; दृढ़ होजाती है; करोलिया उसीमें बँध जाता है और वहां वह मर भी जाता है। इसीतरह मनुष्य अपने सुखके लिए धन, धान्य घर, द्वार, पुत्र, परिवार आदि की अभिवृद्धि करता है। इससे वह मोह बंधन में बँध जाता है; और आत्मकल्याण के हेतु रूप चारित्र धर्म से वंचित रह जाता है। मरकर नरक और तिर्यंच योनि में जाता है और उक्त प्रकार से नरक और तिर्यंच गतिके दुःख भोगता है। परवश पड़े हुए तिर्यंच भूख, प्यास, ताड़न, तर्जन आदि के दुःख उठाता है। उनको देखकर एकवार तो कठोर से कठोर मनुष्य का भी जीव पसीज जाता है। पूर्वोपार्जित कुकर्माधीन होकर जीव जो कष्ट उठाते हैं उनका सौवां हिस्सा भी यदि वे धर्म के लिए उठावें तो उनको शुभगति प्राप्त हो जाय और आगे के लिए वे दुःखों से छूट जायँ।

जैनशास्त्रकार निश्चयपूर्वक मानते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पाँचों प्रकार के स्थावरों में जीव है। दूसरे शास्त्रकार भी अग्नि के सिवा दूसरे स्थावरों में जीव होना स्वीकार करते हैं। इसीलिए स्थावर जीवों की यतना करना बताया गया है। बे इन्द्री से लेकर पंचेन्द्री तकके सब जीवों की भी गृहस्थियों को रक्षा करनी चाहिए। ऐसा करने से भवान्तर में सुख, समृद्धि मिलती है; नरक और तिर्यंच गति का भय दूर होता है और उत्तरोत्तर मनुष्य और देवगति से संबंध टूटकर

मोक्ष प्राप्त होता है। यदि कोई प्रश्न करे कि-" देव भी मनुष्य गति चाहते हैं और श्रेष्ठ मनुष्य भी देवगति की इच्छा रखते हैं, इससे मनुष्य और देवगति वांछनीय है। फिर तुम उनका त्याग कैसे अच्छा बताते हो ? इसके उत्तर में हम इतनाही कहेंगे कि मनुष्यगति और देवगति दुःख मिश्रित हैं। इसलिए वे हेय-छोड़ने योग्य हैं और मोक्षगति निराबाध है, इसलिए उपादेय है-ग्रहण करने योग्य है। मनुष्यगति कैसे दुःखमिश्रित है, इसके लिए आचार्य महाराज फरमाते हैं:—

मनुष्यगति के दुःख।

मनुष्यत्वेऽनार्यदेशे समुत्पन्नाः शरीरिणः।
तत्तत्पापं प्रकुर्वन्ति यद्वक्तुमपि न क्षमम् ॥ १ ॥

उत्पन्ना आर्यदेशेऽपि चाण्डालश्वपचादयः।
तत्तत्पापं प्रकुर्वन्ति दुःखान्यनुभवन्ति च ॥ २ ॥

परसम्पत्प्रकर्षेणापकर्षेण स्वसंपदाम्।
परप्रेष्यतया दग्धा दुःखं जीवन्ति मानवाः ॥ ३ ॥

रुग्जरामरणैर्ग्रस्ता नीचकर्मकदर्थिताः।
तां तां दुःखदशां दीनाः प्रपद्यन्ते दयास्पदम् ॥ ४ ॥

जराहजामृतिर्दास्यं न तथा दुःखकारणम्।
गर्भे वासो यथा घोरनरके वाससंनिभः ॥ ५ ॥

सूचिभिरग्निवर्णाभिर्भिन्नस्य प्रतिरोम यत् ।
दुःखं नरस्याष्टगुणं तद्भवेद्गर्भवासिनः ॥ ६ ॥
योनियन्त्राद्विनिष्क्रामन् यद् दुःखं लभते भवी ।
गर्भवासभवाद् दुःखात् तदनन्तगुणं खलु ॥ ७ ॥
बाल्ये मूत्रपुरीषाभ्यां यौवने रतचेष्टितैः ।
वार्धके श्वासकासाद्यैर्जनो जातु न लज्जते ॥ ८ ॥
पुरीषशूकरः पूर्वं ततो मदनगर्दभः ।
जराजरद्गवः पश्चात्कदापि न पुमान् पुमान् ॥ ९ ॥
स्याच्छैशवे मातृमुखस्तारुण्ये तरुणीमुखः ।
वृद्धभावे सुतमुखो मूर्खो नात्ममुखः क्वचित् ॥ १० ॥
सेवाकर्षणवाणिज्यपाशुपाल्यादिकर्मभिः ।
क्षपयत्यफलं जन्म धनाशाविह्वलो जनः ॥ ११ ॥
क्वचिच्चौर्यं क्वचिद् द्यूतं क्वचिन्नीचैर्भुजंगता ।
मनुष्याणां यथा भूयो भवभ्रमनिबन्धनम् ॥ १२ ॥
ज्ञानदर्शनचारित्ररत्नत्रितयभाजने ।
मनुजत्वे पापकर्म स्वर्णभाण्डे सुरोपमम् ॥ १३ ॥
आशास्यते यत्प्रयत्नादनुत्तरसुरैरपि ।
तत्संप्राप्तं मनुष्यत्वं पापैः पापेषु युज्यते ॥ १४ ॥
परोक्षं नरके दुःखं प्रत्यक्षं नरजन्मनि ।
तत्प्रपंचः प्रपंचेन किमर्थमुपवर्ण्यते ? ॥ १५ ॥

(भावार्थ)

१—मनुष्यगति में आकर जो जीव अनार्य देश में उत्पन्न होते हैं, वे ऐसे ऐसे पाप करते हैं कि उनका कथन करना भी अशक्य है। २—आर्यदेश में उत्पन्न हो कर भी यदि वह चांडाल हो जाता है तो अघोर पाप करता है और भयंकर दुःख भोगता है। ३—दूसरों की संपत्ति को बढ़ती हुई और अपनी संपत्ति को घटती हुई देख कर, और दूसरों की दासता करके मनुष्य दुखी होते हैं। ४—रोग, जरा और मरणग्रस्त और नीच कर्मोंद्वारा विडंबना प्राप्त अनेक मनुष्य अनेक दयाजनक दुःख सहते हैं। अभिप्राय यह है कि, कर्म से घिरे हुए जीव अन्य को दया उत्पन्न हो ऐसी स्थिति में आ गिरते हैं। ५—घोर नरकवास के समान गर्भ का जैसा दुःख है, वैसा दुःख जरा, रोग, मरण और दासता में भी नहीं है। ६—सुकुमाल शरीरवाले को, उसके रोम रोम में अग्नि से तपाई हुई सूइयाँ भोंकने से जितना दुःख होता है उससे आठ गुणा दुःख गर्भवासी जीवों को होता है। ७—गर्भवास से निकलते समय प्राणियों को जो दुःख होता है; वह गर्भवास के दुःखों से भी अधिक है; अनंतगुणा है। इसी भाँति जन्म से भी मरते समय जीवों को विशेष दुःख होता है। ८—मनुष्य, बाल्यावस्था में, विष्ठादि की क्रीडा से, युवावस्था में अशुचि पूर्ण मैथुन से और वृद्धावस्था में श्वास—कासादि के कारण मुखमें से टपकती हुई राळ से, लज्जित नहीं होता है।

९–मनुष्य बाल्यावस्था में विष्ठा खानेवाली सूँड के समान, यौवनावस्था में कामदेव के जोरसे गधे के समान और वृद्धावस्था में बूढे बछ के समान होता है। इससे मनुष्य मनुष्य नहीं रहता है। धर्म विना मनुष्य गधा कहा जाता है। १०–मनुष्य बाल्यावस्था में माता के आधीन रहता है; युवावस्था में युवती के आधीन रहता है और वृद्धावस्था में वह पुत्रादि के प्रेम में मग्न रहता है। मगर यह मूर्ख किसी वक्त भी आत्मदृष्टिवाला–आत्मविचार करनेवाला नहीं बनता है। ११–धन की आशा से व्याकुल होकर मनुष्य, सेवा, खेती, व्यापार और पशुपालनादि कर्म करता है और अपना जन्म वृथा खोता है। १२–मनुष्य देह पाकर भी जीवों को कभी चोरी, कभी जूआ और कभी नास्तिकों की संगति आदि भवभ्रमण के कारण मिलते हैं। १३–ज्ञान, दर्शन और चारित्र के भाजन रूप मनुष्यावतार पाकर, पापकर्म करना, मानो स्वर्ण के भाजनमें मदिरा भरना है। १४–अनुत्तर विमान के देव भी जिस मनुष्य भव को पाने का प्रयत्न करते हैं उसी मनुष्य भव को, जीव पाप में लगाते हैं। १५–नरक का दुःख तो परोक्ष है; मगर मनुष्य भव का दुःख तो प्रत्यक्ष ही है; फिर उसका वर्णन किस लिए किया जाय?

इस संसार में रहनेवाले जीवों के लिए एकान्त सुख तो कहीं भी नहीं है। किसी न किसी तरह का दुःख जीवों के पीछे

हमा ही रहता है । इसी लिए मनुष्य सौ बरस तक भी पूरे नहीं जीते हैं । किसी मनुष्य को मानसिक, किसी को शारीरिक और किसी को वाचिक दुःख होता ही है । पहिले तो मनुष्य जन्म पाना—जन्म पाना ही दश दृष्टांतों से—जिनका कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है—दुर्लभ है । उसके पाने पर भी जीवों को धन का दुःख; धन मिलने पर पुत्र का दुःख; और पुत्र मिलने पर उसको पालने पोसने का दुःख इस तरह दुःख परंपरा चली ही जाती है । राजा से लेकर रंक तक कोई भी सुखी नहीं है । हाँ किसी अपेक्षा से लेकर यदि किसी को सुखी बताना हो तो हम जिन—अनगारी अर्थात् जैनसाधुओं को बता सकते हैं । मगर यह ध्यान रखना चाहिए कि, वे ही जैनसाधु सुखी हैं जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार चारित्र का पालन करते हैं । आडंबरी और खटपटी नहीं । मोक्षतत्त्व के अभिलाषी, स्वपर को शान्ति देनेवाले, सर्वथा परिग्रह के त्यागी, ज्ञानादि आत्म-गुणों के भोगी, परभव के वियोगी, स्वभाव के योगी, पंचमहा-व्रतधारक, विकथादि परिहारक, सत्य और संतोषादि गुणों के धारक, मोहमल्ल के गुप्त दूषणदर्शक, सदागम के संगी, श्रीवीरप्रभु के यथार्थ वाक्य के रंगी, निःस्पृही, निर्मोही और मुमुक्षुजन ही संसार में सुखी होते हैं और हैं । अन्य वेषधारी पुरुषों को हम प्रत्यक्ष में विडंबना पाते हुए देखते हैं । गृहस्थ कोट्याधिप और अजपति होने पर भी वे सुखी नहीं होते हैं ।

उनके पीछे आधि, व्याधि और उपाधि लगी ही रहती है। यहाँ हम एक ब्राह्मण का उदाहरण देते हैं, उससे हमारे कथन की पुष्टि होगी।

" किसी ब्राह्मण के ऊपर एक महात्मा प्रसन्न हुए। उन्होंने ब्राह्मण से कहा:—" जो माँगेगा वही मैं तुझको दूँगा। " ब्राह्मणने उत्तर दिया:—" महाराज मुझ को छः महीने की अवधि दीजिए। इस अवधि में मैं देखूँगा कि संसार में सुखी कौन है ? यह जानकर फिर मैं माँगूँगा। " साधुने कहा:— " जा अनुभव कर फिर आना। " अब ब्राह्मण अनुभव करने को रवाना हुआ। पहिले वह राजवंशी पुरुषों में गया। वहाँ रहने पर उसको अनुभव हुआ कि, अमुक अमुक की मृत्यु चाहता है और अमुक अमुक को मारने के लिए अमुक लालच देता है। वे परस्पर में विश्वास नहीं रखते हैं और न एक दूसरे का भेजा हुआ भोजन ही करते हैं। ऐसी दशा देख, ब्राह्मण उन्हें छोड़कर पंडितों में गया। और उनकी सेवा करने लगा। थोड़े दिनों के बाद उसे ज्ञात हुआ कि वे एक दूसरे की कीर्ति को नहीं सहसकते हैं। वादविवाद करने में क्लेश करते हैं; शास्त्र व्यवस्था देने में पक्षपात करते हैं; वादि के भयसे रात दिन शास्त्रों के देखने में लगे रहते हैं, सुखी होकर भोजन भी नहीं करते छात्रों को पढ़ाने से उपकार होता है; परन्तु वे उसमें प्रसन्न नहीं होते। हाँ यदि कोई उन्हें पैसे देता है तो वे उसको

ज्ञानी, ध्यानी और उत्तमवंशी बताकर प्रसन्नतापूर्वक पढ़ाते हैं। ब्राह्मणों की पंडितों की—ऐसी दुर्दशा देखकर, ब्राह्मण वहाँसे व्यापारी वर्ग का अनुभव करने के लिए बाजार में गया। वहाँ उसने अनेक प्रकार के व्यापारियों को अनेक प्रकार के दुःख उठाते देखा। ब्राह्मण एक बहुत बड़े साहुकार की हवेली पर पहुँचा। दर्वाजे पर हथियारबंध सिपाही पहरा दे रहे थे। हाथी, घोड़े, रथ, पालकी आदि सवारियाँ इधर उधर अंदर तबेलों में पड़ी हुई थीं। लोग सेठ के गुणगान कर रहे थे। भाट चारण विरदावली बोल रहे थे। और आशीर्वाद दे रहे थे कि—"कुल की वृद्धि हो; तुम्हारी सदा जय हो" आदि। इस तरह का ठाठ बाट देख ब्राह्मण को कुछ संतोष हुआ। वह विचारने लगा कि, संसार में सुखी तो यही है। इस लिए मैं जाकर उसी सेठ का सुख माँगूँ। थोड़ी देरमें उसने और सोचा,—चलो एकबार सेठ से तो मिल लूँ। फिर महात्मा के पास जाऊँगा। सोचकर वह अंदर जाने लगा। चौकीदारने उसको रोका और पूछाः—"अंदर क्या काम है?" ब्राह्मणने उत्तर दियाः—"सेठ से मिलना है।" चौकीदारने कहाः—"ठहरो। हम सेठ को खबर देते हैं।" ब्राह्मण दर्वाजे पर खड़ा रहा। चौकीदारने अंदर जाकर कहाः—"सेठजी एक ब्राह्मण आपसे मिलने आया है।" सेठने यह सोचकर कि कोई भिखारी होगा, कह दिया कि, कहदो अभी फ़ुरसत नहीं है। सिपाहीने वापिस आकर ब्राह्मण से कहा कि

सेठ को अवकाश नहीं है। ब्राह्मण चुपचाप दर्वाजे के सामने चबूतरे पर जा बैठा। सेठ सैर करने के लिए बाहिर निकला। ब्राह्मण खड़ा हुआ। मगर सिपाहियोंने उसको बोलने नहीं दिया। सेठ गाड़ी में बैठकर चला गया। ब्राह्मण हताश होकर वहीं वापिस बैठ गया। सेठ सैर करके वापिस लौटा। ब्राह्मण खड़ा हुआ। सेठ अपने मुनीम को यह कहकर हवेली में चला गया कि इसको, आटा, दाल सीधा दिला देना। मुनीमने ब्राह्मण को सीधा लेनेके लिए कहा। ब्राह्मणने यही कहा कि मुझ को सेठ से मिलना है, सीधा नहीं चाहिए। मुनीमने जाकर सेठ से कहाः— " ब्राह्मण सीधा नहीं लेता। वह आपसे मिलना चाहता है।" सेठने सोचा,—मेरे पास आकर कुछ और विशेष चाहता होगा। मुझ को मिलने का अवकाश भी कहाँ है?—फिर कहाः—" कहो मिलने की फुरसत नहीं है। दो चार रुपये देकर विदा कर दो।" मुनीमने ब्राह्मण के पास जाकर कहाः—" महाराज सेठ को तो मिलने की बिलकुल फुर्सत नहीं है। आपको जो कुछ चाहिए उसके लिए आज्ञा दीजिए मैं लादूँ।" ब्राह्मणने कहाः—"मुझ को सेठ के मिलने के सिवा दूसरी कोई चीज नहीं चाहिए।" मुनीम यह कहकर चला गया कि, ब्राह्मणदेवता, भूखे मरते बैठे रहोगे तो भी सेठ से न मिल सकोगे।" ब्राह्मण वहीं बैठा रहा। भूखा प्यासा दो दिन तक बैठा रहा। सेठ को खबर लगी कि ब्राह्मण उससे मिलने की हठ करके दो रोजसे भूखा प्यासा बैठा है। सेठने

जरा घबराकर, ब्राह्मण को अपने पास बुलाया। ब्राह्मण के आते ही सेठने कहा:–"जल्दी कह। क्या काम है? मुझे फुर्सत न होने पर भी तेरी हठ से तुझ को मिलने बुलाया है।" ब्राह्मण सेठ के वचन सुनकर थोड़ा बहुत तत्त्व समझ गया। फिर भी उसने अपने आपको विशेष रूप से संतोष देनेके लिए कहा:–"मुझ पर एक संत प्रसन्न हुए हैं। उन्होंने मेरी इच्छानुकूल मुझ को देने के लिए कहा है। मैंने दुनिया में जो सबसे ज्यादा सुखी हो, उसी कासा सुख माँगने की इच्छा कर, महात्मा से छः मास की अवधी ली। महात्माने दी। फिरता हुआ मैं तुम्हारे दर्वाजे पर पहुँचा। तुम्हारा ठाठ बाट देखकर, तुम्हारा ही सुख माँगने की इच्छा हुई। फिर तुमसे मिलकर ही तुम्हारा सुख माँगने की ईच्छा हुई। इसलिए तुमसे मिलना चाहता था।" सुनकर सेठने कहा:–"भूलकर के भी मेरा सुख मत माँगना। मुझे लेशमात्र भी सुख नहीं है। मैं तो अत्यंत दुःखी हूँ।" इस प्रकार के सेठ के यथार्थ वाक्य सुन, ब्राह्मण हतोत्साह हो गया। वह वहाँसे रवाने होकर महात्मा के पास गया और उनके पैरों पर गिरकर बोला:–"महाराज मैं तो आपही का सुख चाहता हूँ।" साधुने तथास्तु कहा। ब्राह्मण अन्य लोगों की अपेक्षा सुखी हो गया।"

इस कथा से सिद्ध होता है कि, संसार में साधु के सिवा और कोई सुखी नहीं है।

देवगति के दुःख ।

देवगति में जाकर जीव सुखी होते हैं या नहीं इसका उत्तर निम्नलिखित श्लोकों से मिलजायगा ।

शोकामर्षविषादेर्ष्यादैन्यादिहतबुद्धिषु ।
अमरेष्वपि दुःखस्य साम्राज्यमनुवर्त्तते ॥ १ ॥
दृष्ट्वा परस्य महतीं श्रियं प्रागजन्मजीवितम् ।
अर्जितस्वल्पसुकृतं शोचन्ति सुचिरं सुराः ॥ २ ॥
न कृतं सुकृतं किञ्चित् आभियोग्यं ततो हि नः ।
दृष्टोत्तरोत्तरश्रीका विषीदन्तीति नाकिनः ॥ ३ ॥
दृष्ट्वान्येषां विमानस्त्रीरत्नोपवन संपदम् ।
यावज्जीवं विपच्यन्ते ज्वलदीर्ष्यानलोर्मिभिः ॥ ४ ॥
हा प्राणेश ! प्रभो ! देव ! प्रसीदेती सगद्गदम् ।
परैर्मूर्षितसर्वस्वा भाषन्ते दीनवृत्तयः ॥ ५ ॥
प्राप्तेऽपि पुण्यतः स्वर्गे कामक्रोधभयातुराः ।
न स्वस्थतामश्नुवते सुरा कान्दर्पिकादयः ॥ ६ ॥
अथ च्यवनचिह्नानि दृष्ट्वा दृष्ट्वा विमृश्य च ।
विलीयन्तेऽथ जल्पन्ति क्व निलीयामहे वयम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—१–शोक, असहिष्णुता, खेद, ईर्ष्या और दीनतादि के द्वारा हतबुद्धि देवों पर भी दुःख की सत्ता चलती है । अर्थात् देवों में भी शोक, असहिष्णुता, खेद, ईर्ष्या और दीन-

त्यादि दुर्गुण स्थित हैं। २—अपनी अपेक्षा बड़ी ऋद्धिवाले देवों को देखकर, और पूर्वभव में विशेष रूपसे पुण्यसंचय नहीं किया इसका विचार कर, देवता भी बहुत समयतक चिन्तित रहते हैं। ३—हमने पूर्व जन्म में पुण्यकर्म करने की सामग्री मिलने पर भी पुण्यकर्म नहीं किये, इससे हमें आभियोगिक (नौकर) देवों का पट्टा मिला है। ऐसा सोच अपने से विशेष प्रकार के ऋद्धिधारी देवों को देख, देवता भारी दुखी होते हैं। ४—देव दूसरे देवों की विमान, स्त्री, रत्न और उपवन की सम्पत्ति देखकर ईर्ष्याग्नि से रातदिन यावज्जीवन जलते रहते हैं। ५—दीनवृत्ति-वाले देव इसतरह आर्त-रुदन करते हैं कि,—" हे नाथ ! हे भो ! हे देव ! अन्य देवोंने हमें लूट लिया है। आप प्रसन्न होकर हमारी रक्षा कीजिए। " ६—कांदर्पिक देव पुण्ययोग से स्वर्ग मिलने पर भी काम, क्रोध और भयसे आतुर होकर स्वस्थता का अनुभव नहीं करते हैं। अर्थात् कामी देव न अपनी इच्छा ही पूरी कर सकते हैं और न स्वस्थ ही रह सकते हैं। ७ देवलोक से बचने के चिन्हों को देखकर, वे दुःखी होते हैं। और यह सोचकर बार बार रुदन करते हैं कि, अब हम इस समृद्धि को छोड़ कर कहाँ जायँगे।

देवों में भी क्रोध, मान, माया और लोभ है। मगर लोभ का जोर विशेषरूप से है। वे लोभ से लड़ाई करते हैं और लोभ

से दुखी होते हैं। उनका ज्यादा से ज्यादा तेतीस सागरोपम का और कमसे कम दस हजार बरस का आयुष्य होता है। देव मूल चार प्रकार के हैं, परन्तु उनके उत्तर भेद १९८ होते हैं। कई देव उच्च जाति के हैं और कई नीच जाति के भी हैं। और तो क्या, नीच जाति के देवों के पैरों की जूती भी इतनी कीमती होती है, कि उसकी कीमत सारे जंबूद्वीप की ऋद्धि के बराबर की जा सकती है, तो फिर उनकी दूसरी ऋद्धि का वर्णन तो सर्वज्ञ के सिवा अन्य कर ही कौन सकता है ? इतनी ऋद्धि समृद्धि के होते हुए और शाश्वत देवलोक के विमानों की भोग सामग्री का उपभोग करते हुए भी देव दुखी समझे जाते हैं। इसका कारण मोहदशा और उससे उद्भवित ममत्वभाव ही है। च्यवन के छः महीने पहिले ही उनको उसके चिन्ह दिखाई देते हैं। यानी कल्पद्रुम से उत्पन्न हुई हुई फूलमाला को अपने मुखकमल सहित मलिन हुई देखते हैं। उन्हें मालूम होता है कि मानो उनके अवयव शिथिल हो गये हैं। वे कल्पवृक्षों को–जिनको बड़े बड़े मल्ल भी नहीं हिला सकते हैं–काँपते हुए देखते हैं। उन्हें उनकी जन्म सहचारिणी शोभा और लज्जा दूर होती दिखाई देती है। वे अदीन होने पर भी दीनता धारण करते हैं; निद्रा रहित होने पर भी उन्हें निद्रा आने लगती है। निरोग होने पर भी उनके शरीर की संधियाँ उन्हें टूटती हुई मालूम होती हैं। पदार्थों को देखने में असमर्थ बनते हैं और जैसे मर-

णोन्मुख मनुष्य—मरने की इच्छा रखनेवाला मनुष्य कुपथ्य पदार्थों को भक्षण करता है, इसीतरह वे भी न्यायधर्म का परित्याग कर, विषयों में आसक्त होते हैं। आदि, च्यवन चिन्हों के द्वारा आकुलव्याकुल बने हुए देवों को किसी तरह से भी शान्ति नहीं मिलती है। देव यह सोचकर रुदन करते हैं कि हमें, देवांगना, विमान, पारिजात, मदार, संतान और हरिचंदनादि कल्पवृक्ष, रत्नजटित स्तंभ, मणियों की विचित्र रचनासे रचित यह भूमि रत्नमय वेदिका, तथा रत्न के सीनोवाली यह वापिका आदि पदार्थ छोडकर, मुझे अशुचि पूर्ण और निंद्य गर्भावास में जाना पड़ेगा। इससे स्पष्ट विदित होता है कि, जैसे नरक, तिर्यंच और मनुष्य गति म सुख नहीं है, वैसे ही देवगति में भी सुख नहीं है।



आस्त्रव विचार।

इन चार तरह की गतियों की प्राप्ति का कारण आस्त्रव है। आस्त्रव दो प्रकार का है। शुभ और अशुभ। शुभ आस्त्रव पुण्य के नामसे पहिचाना जाता है और अशुभ आस्त्रव पाप के नामसे। पुण्यबंध से मनुष्य और देवगति मिलती है और पाप बंधस नरक और तियंच गति।

बंध-हेतु ।

प्रथम शुभाश्रव और अशुभाश्रव के बन्ध हेतु जानने की आवश्यकता है । इसके जाने विना प्राणी, उसका त्याग नहीं कर सकता । उदाहरण के तौर पर—प्रभु ऋषभदेवने पुरुषों की ७२ कलाओं में कई ऐसी कलाएं भी दिखलाई है, जिनका आराधन करने से आत्मा दुर्गति में जाता है । यहाँ यह शंका होती है कि, यदि ऐसा है तो फिर वे बताई क्यों गई हैं ? उत्तर सीधा है । यदि किसी जीव को अमुक बुरी बात का ज्ञान नहीं होता है तो वह उनको छोड़ कैसे सकता है ? जैसे कपटकला बुरी है । मगर जब तक मनुष्य को यह ज्ञान नहीं होता है कि, अमुक कार्य जो मैंने किया है वह कपटरूप है, कपटमिश्रित है या कपटरहित है, तब तक वह कपट को छोड़ कैसे सकता है ? इसी तरह शुभाशुभ आस्रवों का हेतु बताना यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा । मन, वचन और काय—ये तीन योग कहलाते हैं । यही आस्रव के मूल हैं । इनकी शाखा प्रशाखाएँ बहुतसी हैं । जैसे—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनावाला मन शुभ कर्मों का संचय करता है और विषय कषायवाला मन अशुभ कर्मों को लाता है । श्रुतज्ञान के अनुरूप जो वचन उच्चारण किया जाता है वह वचन शुभास्रव का हेतु है और इससे विपरीत वचनोच्चारण अशुभास्रव का । सुयतनावाला शरीर शुभ आस्रव का हेतु होता है और आरंभादि युक्त शरीर अशुभास्रव का । सामान्यतया

कहें तो इन अशुभास्रव के हेतु—चार कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) पाँच इन्द्रियों के २३ विषय (जो आगे बताये जा चुके हैं) पन्द्रह योग (चार मन के, चार वचन के और चार काय के) पाँच मिथ्यात्व (आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक, सांशयिक, और अनाभोगिक, इनका सम्यक्त्व के अधिकार में वर्णन किया जायगा।) और आर्त्त, रौद्र ध्यान। शुभ कर्म के बंध हेतु दान, शील और तपादि हैं। अब 'आस्रव' शब्द की व्युत्पत्ति देखें। "आगच्छति पापानि यस्मात्स आस्रवः। अर्थात् जिससे पापकर्म आवे वह है आस्रव। आस्रव के मूल दो भेद हैं: १ सांपरायिक, २ ईर्यापथ। सकषाय आस्रव को सांपरायिक आस्रव कहते हैं। और अकषाय आस्रव को ईर्यापथ। ईर्यापथ आस्रव की स्थिति एक समय मात्र की होने से उसके भेदों की विवक्षा नहीं है। परन्तु सांपरायिक आस्रव के भेद तत्त्वार्थसूत्र में ३९ और नव तत्त्व आदि में ४२ दिखलाये हैं। उन ४२ भेदों के नाम ये हैं:—

१—प्राणातिपात; २—मृषावाद; ३—अदत्तादान; ४—मैथुन और ५—परिग्रह। इन पाँचों का त्याग नहीं करने को अव्रतास्रव कहते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों को कषायास्रव कहते हैं। स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय इन पाँचों इन्द्रियों को वशमें नहीं रखने का नाम इन्द्रियास्रव है और मन, वचन व काया के योगों

को योगादि विषयों में जाने से रोकने का नाम योगास्रव है। अव्रतास्रव पाँच, कषायास्रव चार, इन्द्रियास्रव पाँच और योगास्रव तीन हैं। ऐसे सब सत्रह आस्रव हुए। इन्हीं के साथ २५ क्रियास्रव जोड़ देने से ४२ होते हैं। ये ही ४२ आस्रव के प्रकार हैं।

क्रियास्रव के लिए हम यहाँ पर २५ क्रियाओं का कुछ विवेचन करेंगे। १–शरीर को अप्रमत्त भावों से–उपयोगरहित सक्रिय बनने देना; कायिकी क्रिया है। २–शस्त्रादि के द्वारा जीवों की हिंसा करने को अधिकरणिकी क्रिया कहते हैं। ३–जीव और अजीव पर द्वेषभाव रखना; उनके लिए खराब विचार करना, प्राद्वेषिकी क्रिया है। ४–जिस कृति से स्वपर को परिताप उत्पन्न होता है उसे पारितापिकी क्रिया कहते हैं। ५–एकेन्द्रियादि जीवों को मारना अथवा मरवाना प्राणातिपातिकी क्रिया है। ६–खेती आदि आरंभ का कार्य करना आरंभिकी क्रिया है। ७–धन, धान्यादि नौ प्रकार के परिग्रह पर ममत्व रखना; परिग्रहिकी क्रिया है। ८–छल कपट से दूसरे को ठगना मायाप्रत्ययिकी क्रिया है। ९–सत्य मार्ग पर श्रद्धा न रख असत्य मार्ग का पोषण करना मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी क्रिया है। १०–भक्ष्याभक्ष्य वस्तुओं का नियमन करने से जो पाप लगता है वह अप्रत्याख्यानकी क्रिया है। ११–सुंदर वस्तु को देख कर उस पर रागभावों का उत्पन्न करना दृष्टिकी

क्रिया है। १२—रागाधीन होकर स्त्री, घोड़ा, हाथी और गाय आदि कोमल पर हाथ फेरना पृष्टिकी क्रिया है। १३—अन्य मनुष्यों की ऋद्धि समृद्धि को देख कर, ईर्ष्या करना प्रातित्यि की क्रिया है। १४—अपनी सम्पत्ति की प्रशंसा सुन कर प्रसन्न होना; अथवा तैल, घृत, दुग्ध और दही आदि के बर्तनों को खुले रखना सामंतोपनिपातिकी क्रिया है। १५—राजादि की आज्ञा से शस्त्र तैयार करना; तथा कुआ, बावड़ी, तालाब खुदवाना नैशस्त्रिकी क्रिया है। १६— अपने आप अथवा कुत्तों के द्वारा मृगादि जीवों का शिकार करना; या जिस कार्य को नौकर कर सकते हैं उस क्रूर कार्य को स्वयं करना, स्वहस्ति की क्रिया है। १७—अन्य जीव अथवा अजीव के प्रयोग से अमुक पदार्थ अपने पास मँगवाने की कोशिश करना आनयनिकी क्रिया है। १८—जीव या अजीव पदार्थों का छेदन भेदन करना, विदारणिकी क्रिया है। १९—उपयोग विहीन शून्य चित्त से चीजों को उठाना, रखना; स्वयं उठना, बैठना चलना, फिरना, खाना, पीना, सोना आदि कार्य करना अनाभोगिकी क्रिया है। २०—इसलोक और परलोक के विरुद्ध कार्य करना अनवकांक्षा प्रत्ययिकी क्रिया है। २१—मन, वचन, और काय संबंधी जो बुरे ध्यान हैं, उनके अंदर प्रवृत्ति करना; निवृत्ति नहीं करना प्रायोगिकी क्रिया है। २२—ऐसा क्रूर कर्म करना कि जिससे आठों कर्मों का बंध एक साथ हो—समुदानि की

क्रिया है। २३–मोहगर्भित वचन–जिनसे अत्यन्त राग, प्रेम उत्पन्न हो–बोलना प्रेमिकी क्रिया है। २४–क्रोध और मान में आकर विपरीत वचन–जिस से दूसरों के हृदयों में ईर्ष्या उत्पन्न हो–बोलना द्वेषिकी क्रिया है। और २५–प्रमाद रहित मुनियों को तथा केवलियों को गमनागमन की जो क्रिया लगती है वह इर्यापथिकी क्रिया है।

इन ४२ भेदों के अतिरिक्त आस्रव के मंदभाव, तीव्रभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, वीर्य विशेष और अधिकरण विशेष से विशेष भेद भी होते हैं। तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम भावों से तीव्रादि आस्रव आते हैं और मन्द मन्दतर और मन्दतम भावों से मन्दादि आस्रव आते हैं। तदनुकूल जीवों के कर्मों का बंध भी पड़ता है। इसी लिए संसार में तीव्र, मंदादि भाव प्रसिद्ध हैं। वीर्यविशेष यानी आत्मीय क्षयोपशमादि भाव।

अधिकरण विशेष के दो भेद हैं। जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण। जीवके आश्रय से जो आस्रव होते हैं उन्हें जीवाधिकरण कहते हैं और अजीव के आश्रय से जो आस्रव होते हैं उन्हें अजीवाधिकरण कहते हैं। जीवाधिकरण के मूल तीन भेद हैं और उत्तर भेद १०८ हैं। मूल भेद हैं संरंभ, समारंभ और आरंभ। तत्त्वार्थ भाष्य में इनका स्वरूप इस तरह बताया गया है:—

संरम्भः सकषायः परितापनया भवेत्समारंभः ।
आरंभः प्राणिवधस्त्रिविधो योगस्ततो ज्ञेयः ॥

भावार्थ—कषाय सहित जो योग होता है उसको संरंभ कहते हैं; परितापनासे–दूसरे के सताने से–जो संरंभ होता है उसको समारंभ कहते हैं और जिस काय में प्राणियों का मरण होता है उसको आरंभ कहते हैं।

उक्त मूल तीन भेदों के साथ मन, वचन और काया को जोड़ने से नौ भेद होते हैं। जैसे—मनसंरंभ, वचनसंरंभ, और कायसंरंभ; मनसमारंभ, वचनसमारंभ और कायसमारंभ; मनआरंभ, वचनआरंभ और कायआरंभ। इस तरह नौ हुए। इनके साथ, कृत, कारित और अनुमोदित जोड़ने से सत्ताईस होते हैं। जैसे —कृतमनसंरंभ, कारितमनसंरंभ और अनुमोदित मनसंरंभ; कृत वचनसंरंभ, कारितवचनसंरंभ और अनुमोदित वचनसंरंभ; और कृतकायसंरंभ, कारितकायसंरंभ और अनुमोदित कायसंरंभ। इसी तरह कृत, कारित और अनुमोदित से समारंभ और आरंभ को भी गिनने से २७ हुए। इन सत्ताईस भेदों को क्रोध, मान, माया और लोभ के साथ जोड़ने से एकसौआठ भेद होते हैं।

१ क्रोधकृतमनः संरंभ — २ क्रोधकारितमनःसंरंभ
३ ,, अनुमोदितमनःसंरंभ — ४ ,, कृतवचन संरंभ
५ ,, कारितवचन संरंभ — ६ ,, अनुमोदित वचनसंरंभ
७ ,, कृतकाय संरंभ — ८ ,, कारितकाय संरंभ

९	,, अनुमोदित कायसंरंभ	१०	,, कृतमनः समारंभ
११	,, कारितमनःसमारंभ	१२	,, अनुमोदित मनःसमारंभ
१३	,, कृतवचन समारंभ	१४	,, कारितवचन समारंभ
१५	,, अनुमोदितवचनसमारंभ	१६	,, कृतकाय समारंभ
१७	,, कारितकाय समारंभ	१८	,, अनुमोदितकायसमारंभ
१९	,, कृतमनआरंभ	२०	,, कारितमनआरंभ
२१	,, अनुमोदितमनआरंभ	२२	,, कृतवचनारंभ
२३	,, कारितवचनारंभ	२४	,, अनुमोदितवचनारंभ
२५	,, कृतकायारंभ	२६	,, कारितकायारंभ
२७	,, अनुमोदितकायारंभ		

इसीतरह क्रोध के स्थान में, मान, माया और लोभ को रखकर गिनना चाहिए। इसतरह गिनने से २७ क्रोधके, २७ मानके, २७ मायाके और २७ लोभके सब मिलाकर १०८ भेद जीवाधिकरण के होते हैं। अजीवाधिकरण आस्रव के मूल भेद चार और उत्तरभेद ग्यारह हैं। मूल चार भेद ये हैं– निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्ग। निर्वर्तना के दो भेद हैं–मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरण और उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरण। पाँच शरीर, मन, वचन और श्वासोश्वास मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरण हैं और काष्ठ, पुस्तकादि के अंदर के चित्रकर्मादि उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरण हैं। दूसरे निक्षेपाधिकरण के चार भेद हैं। १–जमीन या अन्य किसी आधेय पदार्थ पर देखे बिना

कोई चीज रखना, अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण है। २–पूँजे विना जगह पर उन्मत्त की तरह पदार्थ को रखना दुष्प्रमार्जित-निक्षेपाधिकरण है। ३–पाट, चौकी आदि पदार्थों पर जीवादि का विचार किये विना ही एकदम किसी चीजको फैंक देना या रख देना, सहसानिक्षेपाधिकरण है। और ४–उपयोग रहित पदार्थ रखना अनाभोगनिक्षेपाधिकरण है। तीसरे संयोगाधि-करण के दो भेद हैं। १–जैसे दुग्ध में शक्कर मिलाई जाती है इसीतरह भोजनादि अन्य वस्तुओं में स्वाद के लिए, दूसरे पदार्थ मिलाना अन्नपानसंयोजनाधिकरण है। २–वस्त्रादि में रंग-बिरंगी गोटा, किनारी लगाने से, चंदोवाकी तरह एक वस्त्र में दूसरे वस्त्र को जोड़ने से जैसे अधिक सुंदरता आती है, वैसे ही दंड और पात्रादि में रंग लगाना, उपकरणाधिकरण है। चोथे निसर्गाधिकरण के तीन भेद हैं। १–प्रमत्तता के साथ शरीर को अयतना पूर्वक छुटा रखना कायनिसर्गाधिकरण है। २–वचन को नियम में न रखना वचननिसर्गाधिकरण है और मन को वश में नहीं रखना मननिसर्गाधिकरण है। इसतरह पहिले के दो, दूसरे के चार, तीसरे के दो और चौथे के तीन इसतरह कुल ११ भेद अजीवाधिकरण आस्रव के हुए। इसतरह प्रसंगवश आस्रव के भेद प्रभेद बताये गये। अब यहाँ यह बताना जरूरी है कि आठ कर्मों में से कौन कौनसे कर्म के लिए कौनसे आस्रव आते हैं।

पहिले यहाँ ज्ञानावरणी और दर्शनावरणी के बंध-हेतु आस्रवों का विवेचन करेंगे।

मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच ज्ञानों में से किसी ज्ञानकी, उक्त पाँच ज्ञानोंमें से किसी ज्ञान धारण करनेवाले की, ज्ञानी पुरुषों की, ज्ञानोपकरण की—स्लेट, पुस्तक, ठवणी, कवली, नोकरवाली, सापड़ा, सापड़ी आदिकी—और लिखित व मुद्रित पुस्तकों की प्रत्यनीकता यानी आसातना करने से और उसके विषय में विचार करने से आस्रव होता है। इसीतरह जिससे विद्या सीखी हो या सीखने में मदद ली हो उसके बजाय दूसरे का नाम बताने से, पदार्थ का स्वरूप जानते हुए भी गुप्त रखनेसे, ज्ञान, ज्ञानोपकरण और ज्ञानवान का शस्त्रादि द्वारा नाश करने से; इनके प्रति घृणा भाव रखनेसे; ज्ञानाभ्यास करने-वाले विद्यार्थियों को मिलते हुए अन्न, जल, वस्त्र और निवासस्थान आदि में अन्तरायभूत बननेसे, अध्ययन करते हुए विद्यार्थी को कार्यांतर में लगाने से, उन्हें विकथादि करने में नियुक्त करने से, पठित पुरुष पर जातिहीनता का असंभाव्य कलंक लगाने से, उन्हें द्वेषभाव से प्राणान्त कष्ट पहुँचाने से, अस्वाध्याय के समय स्वाध्याय करने से, योगोपधानादि अविधि से करने से; ज्ञानोप-करण के पास रहते हुए भी आहार, निहार, कुचेष्टा मैथुनादि कर्म करने से, ज्ञानोपकरण को पैर लगाने से, थूँक से अक्षर बिगाड़ने से, ज्ञानद्रव्य भक्षण करने से, कराने से और करनेवाले

की ओर उपेक्षा दृष्टि से देखने से, ज्ञानावरणीय कर्म के आस्रव आते हैं।

इसी तरह दर्शन की प्रत्यनीकता—आशातना—करने से दर्शनावरणी कर्म के आस्रव आते हैं। अर्थात् चक्षुदर्शन, अचक्षु दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन को धारण करनेवाले साधु महात्माओं के लिए अशुभ विचार करनेवाले, और सम्मतितर्क नयचक्र और तत्वार्थादि ग्रंथों की अवहेलना यानी अपमान करनेवाले जीवों के दर्शनावरणीय कर्म के आस्रव होते हैं।

देवपूजा, गुरु सेवा, सुपात्र दान, दया, क्षमा, सराग संयम, देशसंयम, अकामनिर्जरा (अंतःकरण शुद्धि) बाल तप (अज्ञान कष्ट) ये सातावेदनीय कर्म के आस्रव हैं। और दुःख, शोक, वध, ताप, आक्रंदन और रुदन स्वयं करने से व दूसरों से कराने से असातावेदनीय कर्म के आस्रव होते हैं।

मोहनीय कर्म के दो भेद हैं। दर्शनमोहनीय और चारित्र-मोहनीय। दर्शनमोहनीय के सामान्य आस्रवों का वर्णन श्रीमद् हेमचंद्राचार्यने श्रीसुविधिनाथ चरित्र में इस तरह किया है:—

वीतरागे श्रुतेसंघे धर्मे संघगुणेषु च।
अवर्णवादिता तीव्रमिथ्यात्वपरिणामता ॥ १ ॥
सर्वज्ञसिद्धदेवापह्नवो धार्मिकदूषणम्।
उन्मार्गदेशनानर्थाग्रहोऽसंयतपूजनम् ॥ २ ॥

असमीक्षितकारित्वं गुर्वादिष्वपमानता ।
इत्याद्यो दृष्टिमोहस्यास्रवाः परिकीर्तिताः ॥२॥

भावार्थ—वीतराग, शास्त्र व धर्मविषय में और संघ के गुणों में अवर्णवाद करने से; उनके विषय में अत्यंत मिथ्यात्व के परिणाम करने से; सर्वज्ञ, मोक्ष और देव का अभाव स्थापित करने से, धार्मिक पुरुषों के दूषण निकालने से; उन्मार्ग को बढ़ानेवाला उपदेश देने से, अनर्थ में आग्रह करने से, असंयमी की पूजा करने से; बे सोचे कार्य करने से और देव, गुरु व धर्म का अपमान करने से दर्शनमोहनीय का आस्रव होता है ।

चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं । कषायचारित्रमोहनीय और नोकषायचारित्रमोहनीय । क्रोध, मान, माया और लोभ के कारण आत्मा के अत्यंत कलुषित परिणाम हो जाते हैं वे चारित्र मोहनीय के कारण हैं और जो हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद इनको नोकषाय कहते हैं । इन्हीं के बंधहेतु नोकषायमोहनीय कर्म के आस्रव होते हैं ।

अत्यंत हँसना, कामचेष्टा विषयक मसखरी करना, बहुत ठट्ठा करना, अतिशय बकवाद करना, और दीनवचन बोलना, हास्यनोकषायमोहनीय के बंधहेतु—आस्रव हैं । देश, विदेश देखने की उत्कट इच्छा करना, चौपाड़, ताश, शतरंज, आदि के खेल में मन लगाना, दूसरों को भी उसमें शामिल करना आदि रतिनोकषायमोहनीय मोहनीय के आस्रव हैं ।

अपने से अधिक—ऋद्धिवाले को, या ज्ञानी को देखकर ईर्ष्या करना; गुणीजनों के गुणों में दूषण ढूँढना; पापमय स्वभाव रखना; दूसरों के सुखों का नाश करना और दूसरों की हानि में हर्ष प्रकट करना आदि अरति के आस्रव हैं। दूसरे को शोक उत्पन्न कराना, तथा आप स्वयं शोकाकुल बन उन्हीं विचारों में निमग्न रहकर रोना चिल्लाना, शोक के आस्रव हैं। स्वयमेव भयभीत होना; दूसरे को, चेष्टा करके डराना; दूसरे को दुःख देना और निर्दय कर्म करना आदि भय के आस्रव हैं। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ की निंदा करना; उनसे जुगुप्सा करना और उनके सदाचार को दूषित बताना आदि जुगुप्सा के कारण हैं। ईर्ष्या, विषय-गृद्धता, मृषावाद, अति कुटिलता और परस्त्री आसक्ति आदि स्त्रीवेद के आस्रव हैं। स्वदारा संतोष, ईर्ष्या का अभाव, कषाय की मंदता, सरल आचार और स्वभाव आदि पुरुषवेद के आस्रव हैं। स्त्री और पुरुष दोनों के साथ काम सेवन की अत्यंत अभिलाषा, तीव्र काम लालसा, पाखंड और किसी व्रत बलपूर्वक भंग करना आदि नपुंसकवेद के आस्रव हैं।

चारित्रमोहनीय कर्म के आस्रव सामान्यतया इस तरह बताये गये हैं:—

साधुनां गर्हणा धर्मोन्मुखानां विघ्नकारिता।
मधुमांसविरतानामविरत्यभिवर्णनम् ॥ १ ॥

विरताविरतानां चान्तरायकरणं मुहुः ।
अचारित्रगुणाख्यानं तथा चारित्रदूषणम् ॥ २ ॥

कषायनोकषायाणामन्यस्थानामुदीरणम् ।
चारित्रमोहनीयस्य सामान्येनास्रवा अमी ॥ ३ ॥

भावार्थ—मुनियों की निंदा करना; धर्माभिमुख मनुष्यों को कुयुक्तियों द्वारा धर्मच्युत करना; यानी उनके चारित्रग्रहण करने के भावों को फिरा देना; मांस मदिराभक्षी मनुष्यों के व्यवहारों की प्रशंसा करना यानी व्यसनियों की तारीफ करना; देशविरति यानी बारह व्रत पालने की इच्छा करनेवाले अथवा पालनेवाले को अन्तराय डालना; अचारित्र गुण की प्रशंसा करना; चारित्र में दूषण निकालना; यानी कोई मुनिपद धारण करने की इच्छा रखता हो तो उसको पतित मुनियों के आचार को सामने रख, चारित्र से उपेक्षा करनेवाला बना देना; उसको कहना कि, साधु बनने में कोई लाभ नहीं है। क्योंकि साधु बनने पर कोई कार्य नहीं होता; लाभ श्रावकपन ही में है। हम साधु नहीं हुए इसको हम अपना अहोभाग्य समझते हैं; सोलह कषाय और नव नोकषाय जो सत्ता में रहे हुए हैं, उनकी उदीरणा करना; यानी, अनंतानुबंधी, प्रत्याख्यानावरणी, अप्रत्याख्यानावरणी, और संज्वलन—इन चारों के साथ क्रोध, मान, माया और लोभ, गुणने से १६ कषाय होते हैं; इनका और नोकषायों—जो

उदय में नहीं होते हैं उनकी उदीरणा करना; आदि सामान्य-तया चारित्र मोहनीय के आस्रव हैं।

मोहनीय कर्म के बाद आयुष्य कर्म आता है। उसके चार विभाग हैं। नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु। इन सब के आस्रव अलग अलग हैं।

नरकायु के आस्रव।

पञ्चेन्द्रियप्राणिवधो बहारम्भपरिग्रहौ।
निरनुग्रहतामांसभोजनं स्थिरवैरिता ॥ १ ॥
रौद्रध्यानं मिथ्यात्वानुबंधिकषायते।
कृष्णनीलकापोताश्च लेश्या अनृतभाषणम्। २ ॥
परद्रव्यापहरणं मुहुर्मैथुनसेवनम्।
अवशेन्द्रियता चेति नरकायुष आस्रवाः ॥ ३ ॥

भावार्थ—पंचेन्द्रीय का वध, अत्यंत आरंभ, अत्यंत परि-ग्रह, कृपा भावों का अभाव, मांस भोजन, सदा वैरभाव, रौद्र-ध्यान, मिथ्यात्वभाव, अनंतानुबंधी कषायभाव, कृष्ण, नील और कापोतलेश्या, मिथ्या भाषण, परद्रव्य हरण, प्रतिक्षण मैथुनासक्ति और इन्द्रियाधीनता ये नरकायु के आस्रव हैं।

उन्मार्ग प्रतिपादक और सन्मार्ग का नाश, गूढ हृदयता, आर्तध्यान, शल्यसहित माया, आरंभ, परिग्रह, अतिचार

सहित शीलव्रत, नील और कापोत लेश्या, अव्रत और कषाय तिर्यंचायु के आस्रव है।

कलिकाल सर्वज्ञ हेमचंद्राचार्य महाराजने मनुष्यायु के आस्रव निम्न प्रकार से बताये हैं—

अल्पौ परिग्रहारम्भौ सहजे मार्दवार्जवे।
कापोत पीतलेश्यत्वं धर्मध्यानानुरागिता ॥ १ ॥
प्रत्याख्यानकषायत्वं परिणामश्च मध्यमः।
संविभागविधायित्वं देवतागुरुपूजनम् ॥ २ ॥
पूर्वालापप्रियालापौ सुखप्रज्ञापनीयता।
लोकयात्रासु माध्यस्थ्यं मानुषायुष आश्रवाः ॥ ३ ॥

भावार्थ—अल्पारंभ और अल्पपरिग्रह, स्वाभाविक मृदुता और सरलता, कापोत और पीतलेश्या के भाव, धर्मध्यान में अनुराग; कषाय का त्याग, मध्यम परिणाम, प्रतिदिन सुपात्र को दान देकर भोजन ग्रहण, देवगुरू का पूजन, प्रिय भाषण, आगत का स्वागत और सुखपृच्छा और लोकव्यवहार में मध्यस्थता ये मनुष्यायु के आस्रव हैं।

देवायु के बंध हेतु ये है—

सरागसंयमो देशसंयमोऽकामनिर्जरा।
कल्याणमित्रसंपर्को धर्मश्रवणशीलता ॥ ॥ १ ॥
पात्रे दानं तपः श्रद्धारत्नत्रयाविराधना।
मृत्युकाले परिणामो लेश्ययोः पद्मपीतयोः ॥ २ ॥

बालतपोग्नितोयादिसाधनोल्लम्बनानि च ।
अव्यक्तसामायिकता देवस्यायुष आस्रवाः ॥ १ ॥

भावार्थ—सरागसंयम, देशसंयम, अकालनिर्जरा, सन्मित्रसंयोग, धर्मतत्वो कों सुनने का स्वभाव, सुपात्रदान, तपस्या, श्रद्धा; ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप रत्नत्रय की विराधना का अभाव; मृत्यु समय पीत और पद्म लेश्या के परिणाम; बालतप (ज्ञान विना, स्वर्ग या राज्य के लोभ से तप करना) अग्नि अथवा जलसे या गले में फाँसा डाल कर मरना, (शान्तिपूर्वक स्त्री पति के साथ अग्निप्रवेश कर अपने प्राण त्यागती है; वह स्वर्ग में जाती है । जलमें डूब कर मरनेवाला व्यंतर देव होता है; प्रेमाधीन हो, जो गलेमें फाँसी डाल कर मरता है, उसके परिणाम उस समय एक ही ओर रहते हैं, इसलिए वह भी व्यंतर होता है । इसी लिए जल मरना, डूब कर मरना, और फाँसा खाकर मरना स्वर्ग के कारण बताये गये हैं) और अविधिपूर्वक की हुई सामायिकतादि क्रियाएँ ये देवायु के आस्रव हैं ।

नामकर्म के आस्रव तीन भागों में विभक्त किये गये हैं । जैसे—अशुभ नामकर्म के, शुभ नामकर्म के और तीर्थंकर नामकर्म के । अशुभ नामकर्म के आस्रव ये हैं:—

अमुक कार्य के लिये मन, वचन और काय की वक्रता; दूसरों को ठगना; कपट भाव, मिथ्यात्वभाव, चुगली; चित्त की

वंचकता, झूठा सिक्का बनाना; झूठी साक्षी देना; स्पर्श, रस वर्ण और गंध से दूसरों को ठगना; एक बात को दूसरी तरह बताना (जैसे—सगाई करते समय कन्या श्याम वर्ण की हो तो भी गौर वर्ण की बताना। इसी तरह और भी बातें समझना चाहिए) पशुओं के अंगोपांग का छेद करना (जैसे कई कुत्तों की पूँछ काट देते हैं; कई घोड़ों और बैलों को खीसी—अखता—बनाते हैं। आदि) यंत्र कर्म, पंजर कर्म, झूठे माप और तोल रखना, दूसरों की निंदा और आत्मप्रशंसा करना, हिंसा, अनृत भाषण, चोरी, अब्रह्म सेवन, परिग्रह और महारंभ करना, कठोर और अनुचित वचन कहना; किसी की मनोहर वेष और सुंदर अलंकारों से सहायता करना; बहुत बड़बड़ाना; आक्रोश करना (बिना कारण ही किसीका अपमान करना) अन्य की शोभाका घात करना; किसी पर जादू टोना करना; दिल्लगी या अन्य किसी चेष्टा द्वारा अन्यको कौतुहल उत्पन्न करना; वेश्याकी शोभा बढ़ाने के लिए उसको अलंकारादि देना; दावानल लगाना; धर्मात्मा पुरुषों से देवपूजा के नाम सुगंधित पदार्थ लेना; अत्यंत कषाय करना; देवालय, उपाश्रय, धर्मशाला और देवमूर्ति आदिका नाश करना; इसी तरह अंगारादि पन्द्रह कर्मादान करना और कराना। ये सब अशुभनाम कर्म के आस्रव हैं। ऊपर बताये हुए परिणामों से विपरीत परिणाम होना; प्रमादकी हानि, सद्भावकी वृद्धि; क्षमादि गुण, धार्मिक पुरुषों के दर्शनों से

उत्पन्न होनेवाला उल्लास आदि शुभनाम कर्म के आस्रव हैं।
तीर्थंकर नाम कर्मके बीस आस्रव हैं।

१—तीन लोक के पूज्य, ध्येय और स्तवनीय श्री तीर्थंकर भगवान की भक्ति करना, २—कृतकृत्य और निष्ठितार्थ श्रीसिद्ध भगवानकी भक्ति करना। ३—पंचमहाव्रतधारी, त्यागी, वैरागी, क्रियापात्र और ज्ञान, ध्यानादि गुणरूपी रत्नों के आकर मुनियों की भक्ति करना। ४—छत्तीस गुण-गणसमन्वित गच्छनायक श्रीआचार्य महाराज की भक्ति करना। ५—समस्त द्रव्यानुयोग, चरितानुयोग और कथानुयोगादि शास्त्रों के पारगामी बहुश्रुतकी भक्ति करना। ६—आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, गणावच्छेदक, गणी और स्थविरादियुक्त, समुदाय जो गच्छ उसकी भक्ति करना। ७—ज्ञानदाता ग्रंथ लिखना, लिखाना, लिखे हुओं की संभाल रखना, जीर्णों का उद्धार करना: लोकोपकारी ज्ञान का प्रचार करना; उसके उपकरणों की—पाटी, पुस्तक, ठवणी, कवली, सापड़ा सापड़ी आदि की—अवज्ञा न करना; ज्ञानाराधक तिथियों की सम्यक प्रकार से आराधना करना। 'नमोनाणस्स' इस पद की बीस नोकरवाली गिनना; निरंत ५१ खमासमण देना और ५१ लोगस्सका काउसग्ग करना। इस प्रकार से ज्ञान भक्ति करना। इसको श्रुतभक्ति कहते हैं। ८—छठ, अट्ठम, दशम, द्वादश, पंचदश और मासक्षमणादि की देशकालानुसार तपस्या करनेवाले तपस्वी

की भक्ति करना। ९—उभयकालीन आवश्यक (प्रतिक्रमण) क्रिया में अप्रमत्त रहना। १०—व्रत और शील में अप्रमत्तभाव रखना। ११—उचित विनय करना। इसका अर्थ यह नहीं है कि, हरेक के सामने विनय करना। विनय विशेष गुणवान के सामने दिखाना चाहिए। अन्यथा करने से धर्म के बदले अधर्म होता है। इसलिए उचित विनयभाव करना चाहिए। १२—ज्ञानाभ्यास आत्मकल्याण के निमित्त करना चाहिए। आजीविका या वादविवाद के लिए नहीं। जगत में ऐसे भी अनेक हैं जिन्होंने उन्मार्ग का पोषण करने और दूसरों को परास्त करने के लिए ज्ञानाभ्यास किया है। ज्ञानाभ्यास उसीका नाम है जो आत्महित के लिए किया जाता है। १३—आशंसा रहित छः प्रकार का अंतरंग और छः प्रकार का बाह्य तप करना। १४—आप संयम पालना, दूसरे से संयम पलवाना और संयम पालने में किसीके अन्तराय, हो तो उसको मन, वचन और काय से दूर करने का प्रयत्न करना। इस भाँति चौदहवें संयम पद की आराधन करना। १५—एकान्त में बैठकर आत्मस्वरूप का चिन्तवन करना। सांसारिक संबंधों को उपाधिभूत समझ, विभाव से मुक्त हो, स्वभाव में प्रवेश करना और निर्विकल्प दशा का आस्वादन करना इस तरह ध्यान पद का आराधन करना चाहिए। १६—त्रिकरण योगसे, यथाशक्ति उपदेश द्वारा जैनधर्म की वास्तविक पवित्रता तथा प्राचीनता जनसमूह में प्रकट

करना; कि जिससे जैनधर्म से अजान भद्रिक परिणामी लोगों के हृदय से विकल्प नष्ट हों और वास्तविक धर्म का साधन कर सकें। तीर्थंकर देव की भक्ति करना; और जगडुशाह की भाँति दयार्द्र परिणामी होकर, जगत के उद्धार के लिए दान देना। इस तरह शासन प्रभावना पद की आराधना करनी चाहिए। १७—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप संघ के अंदर समाधि हो इस प्रकार के प्रयत्न करना। अर्थात संघ समाधि नामा पद की आराधना करना। १८—साधुओं की शुद्ध आहार, पानी, वस्त्र, पात्र और औषधादि द्वारा भक्ति करके उनको सम्यक प्रकार से संयम आराधन के योग्य बनाना। यानी साधु सेवा करना। १९—अपूर्व ज्ञान को ग्रहण करना। २०—दर्शन विशुद्धि करना।

उक्त बीस पद या बीस स्थानक की सम्यक प्रकार से आराधना करने से तीर्थंकरनाम कर्म आस्रव होते हैं। इन्हीं की आराधना से तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है। प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेव स्वामी और अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीर स्वामीने इन्हीं बीस स्थानकों का आराधन कर तीर्थंकर पद प्राप्त किया था।

अब सातवें गोत्रकर्म के आस्रव बताये जाते हैं। गोत्रकर्म के दो भेद हैं। उच्च और नीच। नीच गोत्र के आस्रव ये हैं:—दूसरे की निंदा, अवज्ञा और दिल्लगी करना। दूसरे के

गुणों छिपाना, उसके अंदर जो दोष नहीं होते हैं उनका भी उसको दोषी बताना; अपने ही मुँहसे अपनी प्रशंसा करना; अपने अंदर गुण न होने पर भी उस गुण की ख्याति करना, निज दोषों को ढकना और जाति आदि का मद करना। इन बातों से विपरीत व्यवहार करना, गर्व नहीं करना। और मन, वचन काय से विनय करना। ये उच्च गोत्र के आस्रव हैं।

अन्तिम अन्तराय कर्म है। दूसरे के दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में अन्तराय डालना अन्तराय कर्म के आस्रव हैं।

ऊपर आठों कर्मों के आस्रवों का दिग्दर्शन कराया गया है। यथामति उनको मनमें धारण कर तदनुसार व्यवहार करना चाहिए। यद्यपि शुभास्रव भी अन्त में त्याज्य होते हैं तो भी उन्हें मोक्ष के हेतु समझ कर पूर्वाचार्योंने उनको ग्रहण किया है; उनका आश्रय लिया है। इसलिए मोक्षाभिलाषी जीवों को भी शुभास्रवों को मन, वचन और काम से ग्रहण करना चाहिए और अशुभ को छोड़ना चाहिए। क्योंकि संसार का कारण आस्रव ही है।

व्रत की श्रेष्ठता।

संसार रूपी समुद्र से तैरने के लिए दीक्षा जहाज के समान है। उसका धारण करना ही संसार से तैरने का सर्वोत्कृष्ट मार्ग ग्रहण करना है। जैसे—सूर्य के ताप को शान्त करने का मेघ में सामर्थ्य है; हाथियों को भगाने का सिंह में सामर्थ्य है; अंधकार को नष्ट करने का सूर्य में सामर्थ्य है; भयंकर विषधरों को भगाने का गरुड़ में सामर्थ्य है और दुःख दावानल को द्विगुण करने-वाली दरिद्रता को नष्ट करने का कल्पवृक्ष में सामर्थ्य है वैसे ही संसार समुद्र से डरे हुए भव्य जीवों को संसार से पार उतारने का व्रत में सामर्थ्य है।

कहा है किः—

आरोग्यं रूपलावण्ये, दीर्घायुष्यं महर्द्धिता।
आज्ञैश्वर्यं प्रतापित्वं साम्राज्यं चक्रवर्तिता॥ १॥
सुरत्वं सामानिकत्वमिन्द्रत्वमहमिन्द्रता।
सिद्धत्वं तीर्थनाथत्वं सर्वं व्रतफलं ह्यदः॥ २॥
एकाहमपि निर्मोहः प्रव्रज्यापरिपालकः।
नचेन्मोक्षमवाप्नोति तथापि स्वर्गभाग्भवेत्॥ ३॥

भावार्थ—आरोग्य, रूपलावण्य, दीर्घायु, बहुत बड़ी ऋद्धि,

आज्ञाप्रधानता, मंडलेश्वरपन, चक्रवर्तीपन, देवत्व, इन्द्र तुल्य ऋद्धि धारी सामानिक देव बनना, इन्द्रत्व, नवग्रैवेयकत्व, सर्वार्थ सिद्धि में देव बनना, सिद्ध होना, और तीर्थंकर पद मिलना। ये सब व्रत के ही फल हैं। जो मात्र एक दिन ही मोहरहित होकर यथाविधि साधु व्रत पालन करता है, वह यदि मोक्षमें नहीं जाता है तो भी उसको वैमानिक देवपद तो अवश्यमेव मिलता है। जैसे—मंत्र, यंत्र, तंत्र, औषध, शकुन और चमत्कारिक विषयों विधिपूर्वक सेवन करने से फलदायी होते हैं, वैसे ही प्रव्रज्या—जिसको दीक्षा, संयम, व्रत, योग, सन्यास आदि भी कहते हैं—भी यदि विधि सहित सेवन किया जाता है तो वह उक्त प्रकार के फलों को देती है; अन्यथा उसका विपरीत फल होता है। प्रव्रज्या के अधिकारी जीव में क्षान्ति गुण का होना सबसे ज्यादा जरूरी है। क्षान्तिसे प्रव्रज्या का पालन पोषण होता है। क्षांतिके अभाव में सब गुणों का अभाव होता है और क्षान्तिकी उपस्थिति में सब की उपस्थिति। गुण रूपी रत्नों की रक्षा करने के लिए क्षान्ति एक तिजोरी के समान है। क्षमाविहीन साधु सकलशास्त्र पारगामी होने पर भी, स्वपर कल्याण नहीं कर सकता है। इस बात को सारा संसार स्वीकार करता है। आबाल वृद्ध अनुभव प्रमाण से इसको सत्य मानते हैं। इसीके पुष्टि में हम यहाँ पूर्वाचार्यों के कथन का कुछ उल्लेख करेंगे। कहा है कि:—

क्षान्तिरेव महादानं क्षान्तिरेव महातपः ।
क्षान्तिरेव महाज्ञानं क्षान्तिरेव महादमः ॥ १ ॥

क्षान्तिरेव महाशीलं क्षान्तिरेव महाकुलम् ।
क्षान्तिरेव महावीर्यं क्षान्तिरेव पराक्रमः ॥ २ ॥

क्षान्तिरेव च संतोषः क्षान्तिरिन्द्रियनिग्रहः ।
क्षान्तिरेव महाशौचं क्षान्तिरेव महादया ॥ ३ ॥

क्षान्तिरेव महारूपं क्षान्तिरेव महाबलम् ।
क्षान्तिरेव महैश्वर्यं क्षान्ति धैर्यमुदाहृता ॥ ४ ॥

क्षान्तिरेव परं ब्रह्म सत्यं क्षान्तिः प्रकीर्त्तिता ।
क्षान्तिरेव परा मुक्तिः क्षान्तिः सर्वार्थसाधिका ॥ ५ ॥

क्षान्तिरेव जगद्वन्द्या क्षान्तिरेव जगद्धिता ।
क्षान्तिरेव जगज्ज्येष्ठा क्षान्तिः कल्याणदायिका ॥ ६ ॥

क्षान्तिरेव जगत्पूज्या क्षान्तिः परममङ्गलम् ।
क्षान्तिरेवौषधं चारु सर्वव्याधिनिबर्हणम् ॥ ७ ॥

क्षान्तिरेवारिनिर्णाशं चतुरङ्गमहाबलम् ।
किं चात्र बहुनोक्तेन क्षान्तौ सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ८ ॥

भावार्थ—क्षान्ति ही महादान है, क्षान्ति ही महा तप है, क्षान्ति ही महाज्ञान है, क्षान्ति ही महादमन है क्षान्ति ही महाशील है, क्षान्ति ही महाकुल है, क्षान्ति ही महावीर्य है, क्षान्ति ही महापराक्रम है, क्षान्ति ही इन्द्रियनिग्रह है, क्षान्ति

ही संतोष है, क्षान्ति ही शौच धर्म है, क्षान्ति ही महादया है, महान स्वरूप, महान शक्ति, महान एश्वर्य, और महान धैर्य भी क्षान्ति ही है। क्षान्ति ही सत्य क्षान्ति ही परब्रह्म है, क्षान्ति ही परममुक्ति है, क्षान्ति ही सर्वार्थ साधक है, क्षान्ति ही जगतवंदनीय है, क्षान्ति ही जगतहितकारिणी है, क्षान्ति है संसार में सबसे उच्च है, क्षान्ति ही कल्याणकर्ता है, क्षान्ति ही जगत्पूज्य है; परममंगलकारक और सर्वव्याधि विनाशक औषध भी क्षान्ति ही है; रागादि महान शत्रुओं को नष्ट करने के लिए महान पराक्रमी चतुरंगिणी सेना है। विशेष क्या क्या कहें ? क्षान्ति में ही सब कुछ है ॥ ८ ॥

इस प्रकरण की पूर्णाहुति करने के पहिले श्रीगौतमकुल की बीस गाथाएँ यहाँ उद्धृत कर देना उचित है। ये सबके लिए महान हितकारिणी होंगी।

लुद्धा नरा अत्थपरा हवन्ति मूढा नरा कामपरा हवन्ति।
बुद्धा नरा खंतिपरा हवन्ति मिस्सा नरा तिन्निवि आयरन्ति ॥१॥

ते पंडिया जे विरया विरोहे ते साहुणो जे समयं चरन्ति।
ते सत्तिणो जेन चलन्ति धम्मं ते बंधवा जे वसणे हवन्ति ॥२॥

कोहाभिभूया न सुहं लहन्ति माणंसिणो सोयपरा हवन्ति।
मायाविणो हुन्ति परस्स पेसा लुद्धा महिच्छा नरयं उवेंति ॥३॥

कोहो विसं किं अमयं अहिंसा माणो अरी किं हियमप्पमाओ ।
माया मयं किं सरणं तु सच्चं लोहो दुहो किं सुहमाह तुठ्ठी ॥४॥

बुद्धि अचंडं भयए विणीयं कुद्धं कुसीलं भयए अकित्ती ।
संभन्नचित्त भयए अलच्छी सच्चे ठियंसं भयए सिरीय ॥५॥

चयंति मित्ताणि नरं कयग्धं चयन्ति पावाइ मुणिं जयन्तं ।
चयन्ति सुक्काणि सराणि हंसा चएइ बुद्धी कुवियं मणुस्सं ॥६॥

अरोई अत्थं कहिए विलावो असंपहारे कहिए विलावो ।
बिक्खित्तचित्तो कहिए विलावो बहुं कुसीसे कहिए विलावो ॥७॥

दुट्ठा हिवा दंडपरा हवन्ति विज्जाहरा मंतपरा हवन्ति ।
मुक्खा नरा कोहपरा हवन्ति सुसाहुणो तत्तपरा हवन्ति ॥८॥

सोहा भवे उग्गतवस्स खंती समाहिजोगो पसमस्स सोहा ।
नाणं सुझाणं चरणस्स सोहा सीसस्स सोहाविणंए पवित्ति ॥९॥

अभूसणो सोहइ बंभयारी अकिंचणो सोहइ दिक्खधारी ।
बुद्धिजुओ सोहइ रायमंती लज्जाजुओ सोहइ एगपत्ति ॥१०॥

अप्पा अरी हो अणवट्ठियस्स अप्पा जसो सीलमओ नरस्स ।
अप्पा दुरप्पा अणवट्ठियस्स अप्पा जिअप्पा सरणं गई य ॥११॥

न धम्मकज्जा परमत्थि कज्जं न पाणिहिंसा परमं अकज्जं ।
न पेमरागा परमत्थि बन्धो न बोहिलाभा परमत्थि लाभो ॥१२॥

न सेवियव्वा पमया परक्का न सेवियव्वा पुरिसा अविज्जा ।
न सेवियव्वा अहिमानहीणा न सेवियव्वा पिसुणा मणुस्सा ॥१३॥

जे धम्मिया ते खलु सेवियव्वा जे पंडिया ते खलु पुच्छियव्वा ।
जे साहुणो ते अभिवंदियव्वा जे निम्ममा ते पडिलाभियव्वा ॥१४॥
पुत्ता य सीसा य समं विभत्ता रिसी य देवा य समं विभत्ता ।
मुक्खा तिरिक्खा य समं विभत्ता मुआ दरिद्दा य समं विभत्ता ॥१५॥
सव्वा कला धम्मकला जिणाइं सव्वा कहा धम्मकहा जिणाइं ।
सव्वं बलं धम्मबलं जिणाइं सव्वं सुहं धम्मसुहं जिणाइं ॥१६॥
जूए पसत्तस्स धनस्स नासो मंसे पसत्तस्स दयाइनासो ।
मज्जे पसत्तस्स जसस्स नासो वेसापसत्तस्स कुलस्सनासो ॥१७॥
हिंसापसत्तस्स सुधम्मनासो चोरीपसत्तस्स सरीरनासो ।
तहा परत्थीसु पसत्तयस्स सव्वस्स नासो अहमा गई य ॥१८॥
दाणं दरिद्दस्स पहुस्सखंती इच्छानिरोहो य सुहोइयस्स ।
तारुण्णए इंदियनिग्गहो य चत्तारि एयाणि सुदुक्कराणि ॥ १९ ॥
असासयं जीवियमाहु लोए धम्मं चरे साहुजणोवइट्ठं ।
धम्मो य ताणं सरणं गई य धम्मं निसेवित्तु सुहं लहन्ति ॥२०॥

भावार्थ—१—लोभी द्रव्योपार्जन में, मूर्ख काम भोग में, और तत्त्ववेत्ता क्षमा में अपनी तत्परता दिखाते हैं। मगर सामान्य मनुष्य अर्थ, काम और क्षमा इन तीनों को अंगीकार करते हैं। २—पंडित वेही हैं जो क्रोध और विरोध से अलग रहते हैं; साधु वेही हैं जो सिद्धान्तानुकूल चलते हैं; सत्यवादी वेही हैं जो धर्मसे विचलित नहीं होते हैं और बंधु वही है जो

कष्ट के समय में सहायता करते हैं। ३—क्रोध व्याप्त मनुष्यों को कभी सुख नहीं मिलता, अहंकारी सदैव शोकाच्छन्न रहते हैं; कपटी इस भव में और परभव में दूसरों के दास होते हैं और लोभी व बहुत बड़ी तृष्णावाले प्राणी नरक में जाते हैं। ४—विष का बीज है?—क्रोध। अमृत क्या है?—अहिंसा दया। शत्रु कौन है?—मान। हित क्या है?—अप्रमाद। भय क्या है?—माया। शरण कौन है?—सत्य। दुःख क्या है?—लोभ। सुख क्या है?—संतोष। ५—सौम्य परिणामी शान्त स्वभाववाले विनयी को बुद्धि (विद्या) प्राप्त होती है; क्रोधी और कुशील-वाले को अपकीर्ति मिलती है; भग्नचित्तवाले को—अस्थिर चित्त-वाले को निर्धनता मिलती है और सत्यवान को लक्ष्मी का लाभ होता है। ६—कृतघ्न यानी नमकहराम मनुष्य को मित्र छोड देते हैं; यत्नशील मुनिको पाप छोड़ देते हैं; सुखे हुए सरोवर को हंस छोड़ जाते हैं और कुपित मनुष्य का बुद्धि त्याग कर देती है। ७—अरुचिवाले मनुष्य को परमार्थ की बात कहना अरण्य-रुदन समान है—व्यर्थ है; अर्थ का निश्चय किये विना बोलना वृथा प्रलाप है; विक्षिप्त चित्तवाले को कुछ कहना निर-र्थक विलाप है और कुशिष्य को विशेष कुछ कहना फिजूल रोना है। ८—दुष्ट राजा प्रजाको दंड देने में, विद्याधर मंत्रसाधन में, मूर्ख क्रोध करने में और साधुपुरुष तत्त्व विचार में तत्पर होते हैं। ९—क्षमा उग्रतपस्वी की शोभा है; समाधियोग उपशम

की शोभा है; ज्ञान और शुभध्यान चारित्र की शोभा है और विनयप्रवृत्ति विनय करना शिष्य की शोभा है। १०—ब्रह्मचारी आभूषणविहीन, दीक्षाधारी साधु परिग्रहरहित, बुद्धिमान मंत्रीयुक्त राजा और लज्जावान स्त्री शोभा पाते हैं। ११—अनवस्थित यानी अस्थिर चित्तवाले का आत्मा ही उसका शत्रु होता है; शीलवान मनुष्य की जगत में कीर्ति होती है; अस्थिर चित्तवाला दुरात्मा कहलाता है और जितात्मा इन्द्रियों का जीतनेवाला, अपने मनको वशमें रखनेवाला (संसार भय भ्रान्त प्राणियों के लिये) शरण होता है। १२—धर्मकृत्य के समान बड़ा दुसरा कोई कार्य नहीं; प्राणियों की हिंसा से बढ़कर, दुसरा कोई अकार्य नहीं; स्नेहराग से उत्कृष्ट दुसरा कोई बंध नहीं और सम्यक्त्व रूपी बोधि बीजको प्राप्ति के समान दुसरा कोई लाभ नहीं। १३—परस्त्री का समागम और मूर्ख लोगों की, अभिमानी लोगों की, नीच पुरुषों की और चुगलखोर आदमीयों की कभी सेवा नहीं करना चाहिए। १४—सेवा वास्तविक धर्मात्मा पुरुषों की करना चाहिए, मन की शंकाएँ वास्तविक पंडितों से पूछना चाहिए; साधु ही वंदनीय होते हैं; उनको वंदना करना चाहिए; और निरहंकारी व मोहममताहीन मुनियों को आहार पानी आदि देना चाहिए। १५—पुत्र और शिष्य को; मुनि और देव को; मूर्ख और तिर्यंच को; और मृत और दरिद्र को समान समझना चाहिए। १६—सब कलाओं में धर्म कला ही जीतती

है; सब तरह की कथाओं में धर्मकथा ही विजेता बनती है; सब तरह की ताकातों में धर्म की ताकात ही फतेहतया होती है और सब तरह के सुखों में धार्मिक सुखकी ही जयपताका फरांती है। १७—पासे खेलने में जो मनुष्य आसक्त होता है उसका धन नष्ट होता है; मांस लोलुपी मनुष्यकी दया का विनाश होता है; मदिरासक्त मनुष्य का यश विलीन होता है और वेश्यासक्त मनुष्य के कुलका दुनिया से नामोनिशान उठ जाता है। १८—हिंसासक्त मनुष्य के प्रत्येक धर्म का नाश होता है; चोरी में आसक्त होने से शरीर नष्ट होता है; और परस्त्री लंपट पुरुष के द्रव्य और गुण का नाश होकर अन्त में वह अधम गति जाता है। १९—दरिद्र मनुष्य से दान होना कठिन है; ठकुराई में क्षमा रहना कठिन है; सुख निमग्न मनुष्य से इच्छाओं का निरोध कठिन है और जवानी में इन्द्रियनिग्रह कठिन है। ये चारों बातें अत्यंत कठिन हैं। २०—श्रीजिनेश्वर भगवानने संसारी जीवों का जीवितव्य (आयु) अशाश्वत बताया है। इसलिये हे जीव! तू साधुजन उपदेशित धर्म का आचरण करना। क्योंकि संसार में धर्म ही एक शरण है। यानी अनर्थों से बचानेवाला है। इसका सेवन करनेवाले जीव सदा सुखी रहते हैं; क्योंकि सुख का देनेवाला भी यह धर्म ही है।



चतुर्थ प्रकरण।

तीसरे प्रकरण में खास करके वैराग्य की ही पुष्टि की गई है। मगर सब मनुष्य वैरागी नहीं बन सकते इसलिए उनके लिए मार्गानुसारीका उपदेश आवश्यक है। चौथे प्रकरण में उन्हीं गुणों का विवेचन किया जायगा। मनुष्य वही धर्मात्मा हो सकता है जो मार्गानुसारी गुणों का धारक होता है। मार्गानुसारी के पैंतीस गुण होते हैं। योगशास्त्र में उनका अच्छा विवेचन किया गया है। हम भी उसीका अनुसरण करके यहाँ ३५ गुणों का वर्णन करेंगे।

मार्गानुसारी के गुण।

मार्गानुसारी जीव सरलता से सम्यक्त्व के मूल बारह व्रतों का धारी बन सकता है। यद्यपि सम्यक्त्व और बारह व्रतों की आगे व्याख्या की जायगी तथापि यहाँ भी हम क्रमप्राप्त मार्गानुसारी के ३५ गुण बतानेवाले १० श्लोकों का कुलक यहाँ दिया जाता है।

न्यायसंपन्नविभवः शिष्टाचार प्रशंसकः ।
कुलशीलसमैः सार्धं कृतोद्वाहोन्यगोत्रजैः ॥ १ ॥

पापभीरुः प्रसिद्धं च देशाचारं समाचरन् ।
अवर्णवादी न क्वापि राजादिषु विशेषतः ॥ २ ॥

अनतिव्यक्तगुप्ते च स्थाने सुप्रातिवेश्मिकः ।
अनेकनिर्गमद्वारविवर्जितनिकेतनः ॥ ३ ॥

कृतसङ्गः सदाचारैर्मातापित्रोश्च पूजकः ।
त्यजन्नुपप्लुतस्थानमप्रवृत्तिश्च गर्हिते ॥ ४ ॥

व्ययमायोचितं कुर्वन् वेषं वित्तानुसारतः ।
अष्टभिर्धीगुणैर्युक्तः शृण्वानो धर्ममन्वहम् ॥ ५ ॥

अजीर्णे भोजनत्यागी काले भोक्ता च सात्म्यतः ।
अन्योन्याप्रतिबन्धेन त्रिवर्गमपि साधयेत् ॥ ६ ॥

यथावदतिथौ साधौ दाने च प्रतिपत्तिकृत् ।
सदानभिनिविष्टश्च पक्षपाती गुणेषु च ॥ ७ ॥

अदेशकालयोश्चर्यां त्यजन् जानन् बलाबलम् ।
वृत्तस्थज्ञानवृद्धानां पूजकः पोष्यपोषकः ॥ ८ ॥

दीर्घदर्शी विशेषज्ञः कृतज्ञो लोकवल्लभः ।
सलज्जः सदयः सौम्यः परोपकृतिकर्मठः ॥ ९ ॥

अन्तरङ्गारिषड्वर्ग परिहारपरायणः ।
वशीकृतेन्द्रियग्रामो गृहिधर्माय कल्पते ॥ १० ॥

प्रथम गुण

सबसे प्रथम गुण है न्यायसंपन्नविभवः, यानी न्याय से उत्पन्न किया हुआ द्रव्य है। जिसके पास न्यायपूर्वक कमाया हुआ धन होता है, उसीके पीछे से सब गुण आ मिलते हैं। जो धन वैभव न्याय से प्राप्त होता है, वही न्यायसंपन्न विभव कहलाता है। मगर न्याय क्या है, सो जाने बिना कोई न्यायपूर्वक बर्ताव नहीं कर सकता है। इसलिए यहाँ पहिले न्याय का स्वरूप बताया जाता है।

स्वामिद्रोह-मित्रद्रोह-विश्वसितवञ्चनचौर्यादिगर्ह्यार्थोपार्जनपरिहारेणार्थोपार्जनोपायभूतः स्वस्ववर्णानुरूपः सदाचारो न्यायः (स्वामिद्रोह, मित्रद्रोह, विश्वास रखनेवाले पुरुषों को ठगना; चोरी आदि निंदित कार्योंद्वारा पैसा पैदा करना; और अपने अपने वर्णानुसार सदाचार का पालन करना न्याय है।) इस न्याय से जो द्रव्य प्राप्त होता है उसको न्यायसंपन्न द्रव्य कहते हैं। न्यायसंपन्न द्रव्य से दोनों लोक में सुख मिलता है और अन्यायसंपन्न द्रव्य उभयलोक के लिए दुःखदायी है। न्यायसंपन्न द्रव्य को मनुष्य निःशंक होकर खर्च सकता है; उससे अपने सगे संबंधियों का उद्धार कर कीर्ति संपादन कर सकता है और गरीबों और दीनों को दुःख से छुड़ा कर उनके आशीर्वाद प्राप्त कर सकता है। अन्यायसंपन्न द्रव्य को खर्च करने में

मनुष्य का मन आगापीछा करता है। वह यदि उसका उपभोग करता है तो लोग उस पर शंका करते हैं। वे कहते हैं, इसके पास पहिले तो कुछ भी नहीं था। अब धन कहाँसे आगया? कपड़ेलत्ते भी नये बनवा लिए हैं; जेवर भी करवा लिया है। घरमें भी नित्यप्रति कढाई कुड़छी खड़कती रहती है। इससे जान पड़ता है कि इसने जरूर किसी का माल मारा है; या किसी को ठगकर लाया है। राजा जानता है, तो वह उसको दंड देता है। यदि किसीके पुण्य का जोर होता है तो वह इस लोक में निंदासे और राजदंड से बच भी जाता है; परन्तु भवांतर में तो उसको अवश्यमेव उसका कटुफल चखना पड़ता है; नरकादि का दुःख भोगना पड़ता है। अन्यायसंपन्न द्रव्य का नाश भी अन्याय मार्ग में ही होता है। इस विषय में हमें एक राजा की कथा याद आती है—

" एक राजा को किला बनाने की इच्छा हुई। इसलिए उसने ज्योतिषी लोगों को बुलाया और कहाः—" किले की बुनियाद डालने का एक उत्तम मुहूर्त्त बताओ। जिससे शुभ मुहूर्त में बना हुआ किला मुझको सुखदाई हो। वह सदा मेरी वंशपरंपरा के अधिकार में रहे और २१ पीढी उसमें आनंद-पूर्वक निवास करें, राजतेज अखंड रहे।" ज्योतिषियोंने उत्तमो-त्तम मुहूर्त निकाल दिया। मुहूर्त के एकदिन पहिले नगर में घोषणा करवा दी गई। लाखों मनुष्य नियत स्थानपर आ जमा

हुए। राजा, मंत्री, पुरोहित, सेनापति, सेठ, साहुकार आदि १८ वर्ण के लोग वहाँ एकत्रित हुए। राजाने पंडितों से पूछा कि– "अब मुहूर्त की घडी में कितनी देर है?" पंडितोंने उत्तर दिया:– "महाराज अब विशेष देर नहीं है; परन्तु एक बात की आवश्यकता है। यानी इसमें पाँच प्रकारके रत्नों की आवश्यकता है।" राजा–"भंडार में बहुत से रत्न हैं।" पंडितोंने कहा:– "महाराज! यदि वे रत्न नीतिपूर्वक जमा किये हुए होंगे तो मुहूर्त की महिमा सदा कायम रहेगी, अन्यथा मुहूर्त का, चाहिए वैसा, प्रभाव नहीं रहेगा।" राजाने कहा:–"राजभंडार में सारे रत्न नीति के हैं।" पंडित बोले:–"महाराज! राज्यलक्ष्मी के लिए पंडितों का और ही अभिप्राय है; इसलिए किसी व्यापारी के पाससे रत्न मँगवाईए।" राजा के आसपास हजारों साहुकार बैठे हुए थे। राजाने उनकी ओर देखा। मगर कोई रत्न देने को आगे नहीं आया। तब मंत्रीने कहा:–"राजप्रिय बनने का यह उत्तम अवसर है। जो नीति पुरस्सर व्यापार करते हों वे आगे आवें।" मगर कोई आगे नहीं आया। क्योंकि वे सब अपनी स्थिति को और व्यापार नीति को जानते थे। वे जानते थे कि, हमने स्वप्न में भी नीति-व्यवहार नहीं किया है। सब मौनधारी मुनि की तरह चुप रहे। तब राजाने कहा:– "क्या मेरे शहर में एक भी नीतिमान व्यापारी नहीं है?" राजाके वचन सुनकर, एक प्रामाणिक पुरुषने कहा:–" महाराज!

"पाप जाने आप, माँ जाने बाप।" इस न्याय के अनुसार यहाँ लोग उपस्थित हैं वे सब अनीति प्रीय जान पड़ते हैं। अपने नगर में सेठ लक्ष्मीचंद हैं। वे नीतिमान हैं। मगर इस समय वे यहाँ उपस्थित नहीं हैं। अपने घर होंगे।" राजा की आज्ञा होते ही उनके घर एक घोड़ागाड़ी लेकर मंत्री गया। मंत्रीने कहाः—"सेठजी! चलो राजाने आपको याद किया है।" सुनकर, वह बहुत प्रसन्न हुआ और कपड़े पहिन कर, चलने को तत्पर हुआ। मंत्रीने उसको गाड़ी में बैठने के लिए कहा। उसने कहाः—"घोड़े मेरा अन्नपानी नहीं खाते, इसलिए मैं गाड़ी में नहीं बैठूँगा। आप चलो। मैं अभी आता हूँ।" सेठ पैदल ही राजाके पास पहुँचा। उचित सत्कार, अभिनंदन कर बैठ गया। राजाने पूछाः—"तुम्हारे पास न्यायसंपन्न द्रव्य है।" उसने उत्तर दियाः—"हाँ है।" राजा खातमुहूर्त के लिए रत्न चाहिए सो हमें दो। सेठ—महाराज! नीति का पैसा अनीति में नहीं दिया जाता।" सेठ का उत्तर सुनकर राजा को क्रोध आया। उसने आँखे दिखाकर कहाः—"तुम्हें रत्न देने ही पड़ेंगे।" सेठने नम्रतापूर्वक उत्तर दियाः—"महाराज! घरबार सब आपही के हैं। आप इनको ग्रहण कीजिए।" पंडित लोग बोलेः—"यदि जबर्दस्ती सेठके घर से द्रव्य मँगवाया जायगा तो, वह भी अनीति का ही समझा जायगा।" इस तरह बातें करते हुए मुहूर्त बीत गया। राजाने कहाः—

" यह कैसे माना जा सकता है कि तुम्हारा धन नीति पूर्वक उपार्जन किया हुआ है और हमारा अनीति पूर्वक। " सेठने कहा:—" परीक्षा कर के आप यह जान सकते हैं ? " राजाने मंत्री को बुलाया। एक सेठ की और अपनी ऐसे दो सोना महोरें, निशानी कर के कहा:—" मेरी महोर किसी पवित्र पुरुष को देना और सेठ की किसी महान पापी पुरुष को। " बुद्धिमान मंत्रीने विश्वस्त मनुष्यों को यह कार्य सौंपा। सेठ की स्वर्णमुद्रा ले कर, पुरुष शहर की बाहिर निकला। उसने मच्छीमार को देखा और सोचा,—इसके बराबर दुनिया में दूसरा कौन मनुष्य पापी होगा ? यह हमेशा सवेरे ही निरपराध मच्छियों को अपने स्वार्थ के लिए मारता है। इस लिए यदि इस को महोर दूँगा तो यह इसका सूत ला कर जाल बनावेगा और विशेष मच्छियां पकड़ कर, विशेष पाप करेगा। ऐसा सोचकर, वह महोर मच्छीमार को दे कर चला गया। बिचारे मच्छीमार को अपने जन्म में पहिली ही वार महोर मिली थी। इससे वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसके पास कोई कपड़ा भी नहीं था कि, जिसमें वह महोर को बांध लेता। उसके पहिनने को एक लंगोटी मात्रथी, इस लिए उसने महोर को अपने मुँहमें रक्खा। नीति संपन्न महोर का कुछ अंश थूक के साथ उसके गले में उतरा। उसके विचार बदले ! उसने सोचा,—किसी धर्मात्माने धर्म समझ कर मुझ को यह महोर दी

है। इस के कमसे कम पन्द्रह रुपये आयँगे। और इन मछ-लियों का क्या आयगा? चार या छः आने! इस लिए अच्छा यही है कि, उस धर्मात्मा के नामसे मछलियों को—जो अभी तक जीवित ही हैं—वापिस तालाब में छोड़ दूँ। उसने वापिस जा कर सारी मछलियां तालाब में छोड़ दीं। फिर वह अपने घर गया। जाते समय जवार, बाजरी, गेहूँ आदि धान्य लेता गया। उस की स्त्रीने सोचा कि—आज ये इतने जल्दी कैसे आ गये हैं! इनका चहरा भी प्रसन्न है। नाज भी बहुतसा ले कर आये हैं। स्त्रीने नाज ले कर रक्खा। छोकरे बच्चे कच्चा ही खाने लगे। स्त्रीने पूछा:—"आज इतना नाज कहांसे लाये हो?" मच्छीमारने उत्तर दिया:—"एक धर्मात्माने मुझ को महोर दी थी। उस को ऊठा कर एक रुपये का यह नाज लाया

अभी चोदह रुपये मेरे पास और हैं।" उसने रुपये अपने स्त्री बच्चों को बताये। उस की स्त्री बोली:—"दो महीने का खर्चा तो मिल गया है। इस लिए अब यह नीच रोजगार छोड दो। रात में जा कर व्यर्थ निरपराध मछलियों को पकड कर मारने की अपेक्षा मजदूरी कर के खाना अच्छा है। चलो हम मजदूरी कर के अपना पेट भरेंगे। मच्छीमारने मछलियां मारने का कार्य छोड दिया। वह एक साहुकार के पास छोटासा घर ले कर रहा और मजदूरी कर के अपना निर्वाह करने लगा।

राजा की सोना महोर पंचाग्नि तप करनेवाले एक योगी के

सामने—जो उस समय ध्याननिमग्न था—रख दी गई। राज पुरुष यह देखने के लिये एक वृक्ष तले बैठ गया कि साधु इस महोर का क्या करता है ! योगीने ध्यान छोडा। आँखें खोलीं। सूर्य किरणों में चमकती हुई महोर उसके नजर आई। अनीति संपन्न महोरने योगी का ध्यान अपनी ओर खींचा। वह सोचने लगा,—"मैंने किसीसे याचना नहीं की तो भी यह महोर मेरे पास कहांसे आई ? शिव ! शिव ! मांगने पर भी कभी दो चार आनेसे ज्यादह नहीं मिलते और यह तो महोर ! सोना ! परमात्माने प्रसन्न हो कर ही यह महोर दी है। मैंने ध्यानद्वारा जगत् का स्वरूप तो देख लिया है, परंतु स्त्रीभोगादिका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया है। जान पडता है, इसी लिए परमात्माने स्वर्णमुद्रा भेज दी है।" इस तरहसे अनर्थोत्पादक विचार योगी के हृदयमें उत्पन्न हुए। योगीने अपना चालीस बरस का योग गंगा के प्रवाह में बहा था। धन और स्त्री के संसर्ग में क्या कभी योग रह सकता है ? कहा है किः—

आरंभे नत्थि दया महिलासंगेण नासई बंभं।
संकाए सम्मत्तं अत्थगहणेण पव्वज्जा नासई ॥ १ ॥

भावार्थ—आरंभसे दया, स्त्री संगसे ब्रह्मचर्य, शंकासे श्रद्धा और द्रव्य लोभसे दीक्षा नष्ट होते हैं।

नीति के पैसे से मच्छीमार को लाभ हुआ और अनीति

के पैसेसे योगी की हानि हुई। ये दोनों बातें राजा के पास पहुँचाई गई। राजाने मनमें सोचा,—नीतिवान मनुष्य सदा निर्भीक रहता है और अनीतिमान सशंक। नीति ही संसार में सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है। कहा है किः—

सर्वत्र शुचयो धीराः स्वकर्मबलगर्विताः।
कुकर्मनिहतात्मानः पापाः सर्वत्र शङ्किताः ॥ १ ॥

भावार्थ—पवित्र, धीर पुरुष अपने श्रेष्ठ व्यवहार के कारण सदैव निर्भीक रहते हैं और कुकर्मों द्वारा आहत बने हुए पापी लोगों के हृदय में हर समय शंका घुसी रहती है।

उक्त उदाहरण हमें बताता है कि, अनीति संपन्न द्रव्य मनुष्यों की सद्बुद्धि को नष्ट कर देती है और उन्हें अधर्म के मार्ग की ओर ले जाती है। इस लिए बुद्धिमान मनुष्यों को नीति पूर्वक द्रव्य एकत्रित करने का प्रयत्न करना चाहिए। कहा है किः—

सुधीरर्थार्जने यत्नं कुर्यान्न्यायपरायणः।
न्याय एवानपायोऽयमुपायः संपदां यतः ॥ १ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान मनुष्यों को न्यायपरायण बन कर, द्रव्योपार्जन करने का यत्न करना चाहिए। क्यों कि न्याय ही लक्ष्मी का विघ्न रहित उपाय है।

कहा है किः—

वरं विभववन्ध्यता सुजनभावभाजां नृणा-
मसाधुचरितार्जिता न पुनरूर्जिताः संपदः।
कृशत्वमपि शोभते सहजमायतौ सुंदरं।
विपाकविरसा न तु श्वयथुसंभवा स्थूलता ॥१॥

भावार्थ—सुजन मनुष्यों के लिए सदाचारपूर्वक व्यवहार कर लक्ष्मी हीन रहना अच्छा है; मगर असद् व्यवहार से प्राप्त की हुई महान् संपत्ति भी व्यर्थ है। जैसे कि, स्वभावतः प्राप्त और सुंदर परिणामवाली दुर्बलता भी अच्छी होती है मगर, खराब परिणामवाली, सूजन से प्राप्त स्थूलता व्यर्थ होती है।

इसलिए संपदा की—लक्ष्मी की प्राप्ति की इच्छा रखनेवालों को शुभकर्म करने चाहिए। शुभ कर्म नीति से होते हैं। जहाँ नीति होती है वहाँ संपदा स्वभावतः चली आती है। कहा है कि:—

निपानमिव मण्डूकाः सरः पूर्णमिवाण्डजाः।
शुभकर्माणमायान्ति विवशाः सर्वसंपदः ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे-निपान-खोबचे के पास मेंढक और जल-पूर्ण सरोवर के पास पक्षी आते हैं वैसे ही शुभ कर्म वाले मनुष्य के पास संपदा विवश होकर चली आती है। इसलिए हरेक को सब से पहिले न्यायपूर्वक द्रव्य उपार्जन करने का गुण प्राप्त करना चाहिए।

दूसरा गुण ।

अब मार्गानुसारी के दूसरे गुण का विवेचन किया जायगा। कहा है-' शिष्टाचारप्रशंसकः । ' (शिष्ट पुरुषों के आचार का प्रशंसक होना) जो श्रेष्ठ आचार और आचारी की प्रशंसा करता है वह भी एक दिन अवश्यमेव श्रेष्ठाचारी बनजाते है। व्रती, ज्ञानी और वृद्ध पुरुषों की सेवा करके जिसने शिक्षा पाई होती है वह शिष्ट कहलाता है । ऐसे शिष्टों के आचार का नाम है शिष्टाचार । कहा हैः—

लोकापवादभीरुत्वं दीनाभ्युद्धरणादयः ।
कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं सदाचारः प्रकीर्तितः ॥ १ ॥

भावार्थ—लोकापवाद से डरने, अनाथ प्राणियों के उद्धार का प्रयत्न करने और कृतज्ञता व दाक्षिण्य को सदाचार कहते हैं ।

ऐसा भी कहा गया है कि—"सतां आचारः सदाचारः" (सत्पुरुषों के आचरण का नाम सदाचार है ।) एक कविने सत्पुरुषों से आचार की इन शब्दो में प्रशंसा की है ।

विपद्युच्चैः स्थैर्यं पदमनुविधेयं च महतां
प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम् ।
असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यस्तनुधनः
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥ १ ॥

भावार्थ—कष्ट के समय ऊँचे प्रकारकी स्थिरता रखना; महा पुरुष के पद का अनुसरण करना, न्याययुक्त वृत्तिको प्रिय समझना, प्राण नाश का मौका आजाय तो भी अकार्य न करना, दुर्जनों से प्रार्थना न करना और थोड़े धनवाले मित्र से भी धन की याचना न करना। ऐसा असिधारा के समान सत्पुरुषो का आचार किसने बताया है ? यानी इसके बतानेवाले सत्यवक्ता और तत्ववेत्ता हैं। संक्षेप में यह है कि, शिष्टाचार की प्रशंसा धर्मरूपी बीज का आधार है। यह परलोक में भी धर्म प्राप्ति का कारण होता है। इतना ही क्यों, यह मोक्ष का भी कारण होती है इसलिए मनुष्यों को अवश्यमेव यह गुण धारण करना चाहिए।

तीसरा गुण।

मार्गानुसारी का तीसरा गुण है—'कुलशीलसमैः सार्धं कृतोद्वाहोन्यगोत्रजैः।' (कुलशील समान हो मगर गोत्र भिन्न हो उसके साथ ब्याह करना) पिता पितामह आदि के वंश का नाम है कुल, और मद्य, मांस, रात्रि भोजन आदि के त्याग का नाम है शील। उक्त कुल और शील जिन का समान होता है तब ही उनको धर्मसाधन में अनुकूलता मिलती है। यदि कुल शील समान नहीं होता है तो परस्पर में झगड़ा होने की संभावना रहती है। उत्तम कुल की कन्या, नीचे कुलवाले को धमकाया करती है और कहा करती है कि, यदि ज्यादा गड़बड़

करेगा तो मैं अपने पीहर चली जाऊँगी। यदि हलके कुल की होती है तो वह पतिव्रतादि धर्म भली प्रकार से नहीं पालती है। इसलिए समान कुल की खास तरह से आवश्यकता है। इसी तरह यदि शील भिन्न होता है तो उनके धर्मसाधन में प्रत्यक्ष बाधा पड़ती है। एक को मद्य, मांस, मदिरा अच्छे लगते हैं और दूसरे को इन चीजों से घृणा हो तो दोनों के आपस में विरोध रहता है। और इससे सांसारिक व्यवहार में बाधा पहुँ-चती है। उनके आपस में प्रेम भी नहीं होता है। जब सांसा-रीक व्यवहार ही ठीक नहीं चलते तब धर्मकार्य में बाधा पड़े इसमें तो कहना ही क्या है? इसलिए समान शील की भी खास जरूरत है। वर्तमान में एक धर्म के दो विभाग हैं। उनमें केवल क्रियाकांड का ही फरक है। मगर उनमें भी यदि ब्याह हो जाता है तो वे जन्मभर प्रायः एक दूसरे के प्रतिकूल ही रहते हैं। तब जिनका कुलशील सर्वथैव असमान हो उनमें वैमनस्य न हो ऐसा कौन कह सकता है! गोत्र भी दोनों के भिन्न ही होने चाहिए। वंश का नाम गोत्र है। एक ही वंश में जो पैदा होता हैं वे गोत्रज कहलाते हैं। वे यदि परस्पर लग्न कर लें तो उनको लोकविरुद्धता का दोष लगता है। चिरकाल आगत मर्यादा कईवार लोगों को बड़े बड़े अनर्थ करने से रोकती है। एक वंश के लोगो में ब्याह नहीं होने की रीति प्रचलित रहने ही से बहिन भाई का नाता कायम रहता है। यह यवन

व्यवहार यदि आर्य लोगों में भी प्रचलित हो जाय तो बड़ी बड़ी आपत्तियाँ उठ खड़ी हो। अतः भिन्न गोत्र में ब्याह करने की शास्त्रकारोंने आज्ञा दी है। और वह बहुत अच्छी है। मर्यादा-युक्त विवाह से शुद्ध स्त्री की प्राप्ति होती है। उसका फल सुजातपुत्र की उत्पत्ति और चित्तनिवृत्ति होती है इससे संसारमें भी प्रशंसा होती है और देव व अतिथिजन की भी भक्ति सुरक्षित रहती है। स्त्री की रक्षा करनेके चार साधन भी पुरुषोंको अवश्यमेव ध्यानमें रखने चाहिए। १ सारी गृहव्यवस्था स्त्रीके जिम्मे रखना; २—धन अपने अधिकारमें रखना, स्त्रीको आवश्यकता से विशेष नहीं देना। ३—उसे अनुचित स्वतंत्रता—स्वच्छंदता नहीं देना यानी उसे अपने अधिकारमें रखना और ४—स्वयं अपनी स्त्रीके सिवा अन्य सब स्त्रियोंको अपनी माता और बहिन के समान समझना। पुरुषोंको चाहिए कि वे अपनी स्त्रीकी रक्षाके लिए उक्त चार बातोंका पूर्णतया ध्यान रक्खे। इसी तरह स्त्रियोंको भी चाहिए कि वे अपने शीलव्रत के लिए निम्नलिखित बातोंका खास तरहसे ध्यान रक्खें। जैसे—

यात्रा जागरदूरनीरहरणं मातुर्गृहेऽवस्थितिः
वस्त्रार्थं रजकोपसर्पणमपि स्याद्दूतिकामेलकः।

स्थानभ्रंशसखीविवाहगमनं भर्तृप्रवासादयो
व्यापारः खलु शीलजीवितहराः प्रायः सतीनामपि ॥१॥

ताम्बूलं प्रतिकर्म मर्मवचनं क्रीडासुगन्धस्पृहा

वेषाडम्बर हास्यगीतकुतुकानङ्गक्रिया तूलिका ।

कौसुम्भं सरसान्नपुष्पघुसृणं रात्रौ बहिर्निर्गमः

शश्वत्त्याज्यमिदं सुशीलविधवस्त्रीणां कुलीनात्मनाम् ॥ २ ॥

भावार्थ—अकेले जाना, जागरण करना, दूरसे पानी लाना, माताके घर रहना, कपड़े लेनेको धोबीके पास जाना, दूतीके साथ संबंध रखना, अपने स्थानसे च्युत होना, सखिके विवाहमें जाना और पतिका विदेश जाना, आदि कार्य स्त्रियोंके शीलको भ्रष्ट करने के कारण होते हैं। तांबूल, शृंगार, मर्मकारी वचन, क्रीडा, सुगंध की इच्छा, उद्भटवेष, हास्य, गीत, कौतुक, कामक्रीडा दर्शन, शय्या, कसूंबी वस्त्र, कसूँबी वस्त्र, इस सहित अन्न, पुष्प, केशर और रात्रिके समय घरसे बाहिर जाना आदि बातें कुलीना और सुशीला विधवा स्त्रीको छोड़ देनी चाहिए।

चौथा गुण।

पापभीरुः। प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से अपाय के कारण रूप पापों का परित्याग करना, मार्गानुसारी का चौथा गुण है। चोरी, परस्त्री गमन, जूआ आदि जिनसे व्यवहार में राज-कृत विडंबना होती है—जिनके करने से राजा दंड देता है ऐसे कार्य करना प्रत्यक्ष कष्टके कारण हैं। मद्य, मांस, अभक्ष्य भक्षण आदि कार्य परोक्ष कष्टके कारण हैं। इनसे नरकादि के दुःख भोगने पड़ते हैं।

पाँचवाँ गुण ।

प्रसिद्धं देशाचारं समाचरन् । अर्थात् प्रसिद्ध देशाचार का आदर करना, मार्गानुसारी का पाँचवाँ गुण है । भोजन, वस्त्रादि का उत्तम व्यवहार जो चिरकाल से चला आ रहा है उसके विरुद्ध नहीं चलना चाहिए । विरुद्ध चलने से उस देशके निवासी लोगों के साथ विरोध होता है । विरोध होने से चित्त व्यवस्था ठीक नहीं रहती है । इसका परिणाम यह होता है कि, वह भली प्रकार से धर्मकृति नहीं कर सकता है । इसलिए प्रचलित देशाचार को व्यवहार में लाना चाहिए ।

छठा गुण ।

अवर्णवादी न क्वापि राजादिषु विशेषतः ।

अर्थात—किसी का अवर्णवाद–निंदा–नहीं करना; विशेष करके राजा की निंदा न करना, मार्गानुसारी का छठा गुण है । छोटेसे ले कर बड़े तक किसी की निंदा नहीं करना चाहिए । निंदा करनेवाला निंदक कहलाता है । निंदा करनेसे कष्टदायी कर्मों का बंध होता है । कहा है कि:

> परपरिभवपरिवादादात्मोत्कर्षाच्च बद्ध्यते कर्म ।
> नीचैर्गोत्रं प्रतिभवमनेकभवकोटिदुर्मोचम् ॥ १ ॥

भावार्थ—निंदा दूसरों का नाश करनेवाली है । जो व्यक्ति दूसरे की निंदा करता है, और अपनी प्रशंसा करता है, उसके

प्रत्येक भवमें नीच गोत्र कर्मबंध होता है। यह नीच गोत्र कर्म बंध बड़ी ही कठिनतासे छूटता है। राजा, मंत्री, पुरोहित आदि किसी की भी निंदा करना अनुचित है। इससे नरकादि दुर्गति भी मिलती है। इनमें भी राजा की निंदा करना तो महान् बुरा है। क्योंकि इससे प्रत्यक्ष में भी द्रव्य हरण, जेल आदि का दुःख उठाना पडता है और परोक्षमें तो नरकगति मिलती ही है। इस लिए कभी किसी की निंदा नही करना चाहिए। यदि निंदा करने का स्वभाव पड़ गया हो तो अपनी ही निंदा करना चाहिए।

सातवाँ गुण

अनतिव्यक्तगुप्ते च स्थाने सुप्रतिवेश्मकः।
अनेकनिर्गमद्वारविवर्जित निकेतनः ॥

भावार्थ —जिस गृहस्थ के घर में आने जाने के कई रस्ते नहीं होते हैं, वह गृहस्थ सुखी होता है। अनेक दर्वाजों से परिमित द्वारवाले घर में रहना निश्चित होता है। इससे चोर, जारकी भीति भी कम रहती है। यदि घरमें अनेक दर्वाजे होते हैं, तो दुष्ट आदमी पीड़ा देते हैं। घर बहुत खुले मैदान में या बहुत गुप्त स्थान में नहीं होना चाहिए। यदि घर विशेष खुले मैदान में होता है तो चोरों को डर रहता है और यदि विशेष गुप्त स्थान में होता है तो उस घर की शोभा मारी जाती है।

अग्नि आदि का उपद्रव भी उस मकान में रहता है। रहना ऐसे स्थान में चाहिए कि जहाँ अच्छे पड़ौसी हों। अच्छे पड़ौसियों से स्त्रीपुत्रादि के बिगड़ने की कम आशंका रहती है। पड़ौसी यदि खराब होते हैं तो स्त्रीपुत्रादि के आचार, विचारों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए अच्छे पड़ौस में रहना चाहिए।

आठवाँ गुण।

कृतसंगः सदाचारैः। अर्थात्—उत्तम आचरणवाले सत्पुरुष की संगति करना, मार्गानुसारी का आठवाँ गुण है। नीच पुरुषों की यानी जुआरी, धूर्त, दुराचारी, भट, याचक, भाँड, नट, धोबी, माली, कुम्हार आदि की संगति धार्मिक पुरुषों को नहीं करना चाहिए। आजकल के कुछ वेषधारी व्यक्ति हल्की जाति के मनुष्यों को अपने साथ रखते हैं। इसका परिणाम बहुत ही भयंकर होता है। नीच पुरुषों की संगति करना जब गृहस्थों के लिए भी मना किया गया है तब साधुओं के लिए तो ऐसी इजाजत हो ही कैसे सकती है? ऐसे नीच पुरुषों की संगति करनेवाले साधु की जो गृहस्थ रक्षा करता है उस गृहस्थ को पाप की रक्षा करनेवाला समझना चाहिए। यदि मनुष्यों को सद्गुण प्राप्त करने की इच्छा हो तो उन्हें उत्तम पुरुषों की संगति करना चाहिए। सज्जन पुरुषों की संगति से महान लाभ होता है। इसके लिए नारदजी का उदाहरण प्रत्येक के ध्यान में रखने योग्य है।

" एकबार ब्रह्मचारियों में शिरोमणि नारदजीने कृष्णजी से पूछा:—" महाराज, सत्संग का क्या फल है ? " कृष्णजीने उत्तर दिया:—" क्या तुम सत्संगति का फल जानना चाहते हो ? " नारदजीने कहा:—" हाँ महाराज ! " कृष्णजी बोले:—" अमुक नरक में जाओ, वहाँ एक कीड़ा है । वह तुमको सत्संगति का फल बतायगा । " नारदजी नरक में गये । उन्होंने वहाँ कृष्णजी के बताये हुए कीड़े को देखा । नारदजी को देखते ही कीड़ा मर गया । नारदजी वापिस कृष्णजी के पास आये और कहने लगे:—" महाराज ! आपने अच्छा सत्संगति का फल बताया । मैं गया था फल लेने और मिली मुझको जीवहिंसा । " कृष्णजीने कहा:—" धैर्य रक्खो, सत्संगति का फल अच्छा ही होगा । "

एकबार फिरसे नारदजीने कृष्णजी से सत्संगति का फल पूछा, कृष्णजीने कहा:—" अमुक बगीचे में जाओ । वहाँ अमुक वृक्षके ऊपर एक पक्षी का घौंसला है, उसमें एक छोटासा बच्चा है वह तुमको सत्संगति का फल बतायगा । " नारदजी बाग में गए । जैसे ही नारदजी की और बच्चे की चार आँखें हुईं, वैसे ही बच्चा मर गया । नारदजी विचार करते हुए कृष्णजी के पास गये । कृष्णजी को सारा हाल सुनाया । थोड़े दिन बाद नारदजीने और कृष्णजी से सत्संगति का फल पूछा । कृष्णजीने कहा:— " अमुक गवाले की गाय को आज बछड़ा हुआ है । उसके पास

जाओ। वह तुमको सत्संगति का फल बतायगा।" नारदजी कृष्णजी के विश्वास पर गवाले के घर गये। नारदजी के साथ बच्चे की चार आँखें हुईं। बच्चा तत्काल ही मर गया। नारदजी को इस गोहत्या के कारण बहुत दुःख हुआ। उन्होंने निश्चय किया कि अब कभी कृष्णजी से सत्संगति का फल नहीं पूछूँगा। अस्तु। कुछ महीने बाद नारदजी से कृष्णजी मिले। कृष्णजीने पूछा:—"आजकल सत्संगति का फल क्यों नहीं पूछते?" उन्होंने उत्तर दिया:—"महाराज! मुझको सत्संगति का फल नहीं देखना। ऐसी हिंसाएँ करके मैं अपने आत्मा को भारी बनाना नहीं चाहता।" कृष्णजीने आश्वासन देकर कहा:—"नारदजी! आज मेरा कहना और मानो। अमुक राजा के घर आजही पुत्र जन्मा है। उसके पास जाओ। वह तुमको सत्संगति का फल बतायगा।" नारदजीने स्पष्ट शब्दों में कहा:—"महाराज! मुझको क्षमा कीजिए। आजतक जीवों की हिंसा हुई, उसमें तो मुझको कोई पूछनेवाला नहीं था; परन्तु अब यदि राजा का कुँवर मर जाय तो राजा मेरा कचूमर बनवा दे। महाराज! मैं वहाँ जाकर सत्संग का फल पूछना नहीं चाहता।" कृष्णजीने नारदजी को, धीरज देकर कहा:—"नारदजी! डरो मत! निर्भी-कता के साथ जाओ। इसबार लड़का तुमको जरूर सत्संग का फल बतायगा।" नारदजी भगवान का नाम लेकर डरते हुए राजा के पास गये और बोले:—मैंने सुना है कि, आज आपके

घर पुत्र का जन्म हुआ है। क्या यह बात सत्य है ?" राजाने स्वीकार किया। तब नारदजीने कहा:—" उस बालक को यहाँ मँगवाइए। ताकी उसे देखूँ और अपनी उत्कंठा को पूर्ण करूँ।" राजाने कहा:—" नारदजी महाराज ! आजका ही जन्मा हुआ बचा यहाँ कैसे लाया जा सकता है ! आप ब्रह्मचारी हैं; ऋषि हैं। आपके लिए अन्तःपुर में जाने की रोक नहीं है। आप सानंद अंदर पधारिए और बालक को दर्शन दीजिए।" नारदजी अन्तःपुर में गये। दासी नवजात शिशुको नारदजी के पास लाई। नारदजी को देखते ही बालक बोल उठा:—" नारदजी ! क्या अब भी आप सत्संग का फल न देख सके ?" नारदजी उसी दिनके जन्मे और अपने हृदय की बात को कहते हुए बालक की बातें सुनकर चकित हुए। बालकने फिर कहा:—" महाराज नरक का कीड़ा मैं ही हूँ। आपके दर्शन से—आपके सत्संग से मैं पक्षी हुआ। वहाँ से मरकर बछड़ा हुआ और वहाँ भी आपके समान बालब्रह्मचारी के दर्शन हुए इससे मरकर मैं राजा का पुत्र हुआ हूँ। इससे बढ़कर सत्संग का फल और विशेष क्या हो सकता है ?" नारदजी बहुत प्रसन्न होकर अपने स्थान को गये।"

अभिप्राय कहने का यह है कि, संत पुरुषों का समागम मनुष्यों को बहुत ही लाभ पहुँचाता है। इसलिए इस गुण को अवश्य धारण करना चाहिए।

नवमाँ गुण ।

मातापित्रोश्च पूजकः—अर्थात् त्रिकाल माता, पिता की पूजा वंदना करना मार्गानुसारी का नवमाँ गुण है । माता पिता को, परलोक में लाभ पहुँचानेवाली क्रिया में लगाना, देवता के समान उनके आगे उत्तम फल भोजनादि रखना। उनकी इच्छानुकूल वे खालें उसके पश्चात् आप खाना । उनकी इच्छानुसार प्रत्येक व्यवहार करना । ऐसा करना ही मनुष्यका कर्तव्य है । इनके मनुष्य के ऊपर अनेक उपकार होते हैं । पिता की अपेक्षा माता का विशेष उपकार होता है । इसे पिता के पहिले माता का नाम रक्खा गया है । कहा है किः—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ १ ॥

भावार्थ—दश उपाध्यायों की अपेक्षा एक आचार्य, सौ आचार्यों की अपेक्षा एक पिता और हजार पिताओं की अपेक्षा एक माता विशेष पूज्य होती है । इस भाँति पूज्य माता पिता का जो पूजक होता है वही धर्म सेवन के योग्य हो सकता है ।

दशवाँ गुण ।

त्यजन्नुपप्लुतस्थानं । अर्थात् उपद्रववाले स्थानका परित्याग करना, मार्गानुसारी का दसवाँ गुण है । स्वचक्र-परचक्र, दुर्भिक्ष, प्लेग, मरी, ईति, भीति और जनविरोध आदि उपद्रव हैं ।

ये उपद्रव जहाँ न हो वहाँ रहना चाहिए। उपद्रव वाले स्था- नोंमें रहने से अकाल मृत्यु होती है; धर्म और अर्थ का नाश होता है। इनके नष्ट होने से हृदय में मलिनता आती है और अपना अनिष्ट होता है। अतः उपद्रव वाले स्थान को अवश्य- मेव छोड़ देना चाहिए।

ग्यारहवाँ गुण।

अप्रवृत्तश्च गर्हिते। अर्थात् निन्द्य कार्य में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। देश, जाति और कुल की अपेक्षा निंद्य कर्म तीन प्रकार का होता है। जैसे सौ वीर देशमें कृषिकर्म, लाटमें मद्य बनाना। जाति की अपेक्षा से ब्राह्मण का सुरापान और तिल—लवणादि का व्यापार। और कुल की अपेक्षा से चौलुक्य वंशी राजाओं का मद्यपान गर्हित है।

ऐसे गर्हित कार्य करनेवालों की धर्मकृति हास्यास्पद होती है।

बारहवाँ गुण।

व्ययमायोचितं कुर्वन्। अर्थात्—आय के अनुसार खर्च करना, मार्गानुसारी का बारहवाँ गुण है। अधिक अथवा कम खर्च करनेवाला मनुष्य अप्रामाणिक समझा जाता है। लोग अधिक खर्च करनेवाले को फूलफकीर और कम खर्च करनेवाले को लोभी कहते हैं। इसलिए अपने कुटुंब के पोषण में, अपने सुख आराम में, देवता और अतिथि की भक्ति में उचित खर्च

करना चाहिए। मनुष्य को अपनी आय चार भागों में बाँटनी चाहिए। ऐसा करने से दोनों लोक में सुख मिलता है। कहा है:—

> पादमायान्निधिं कुर्यात्पादं वित्ताय वर्द्धयेत्।
> धर्मोपभोगयोः पादं पादं भर्तव्यपोषणे ॥

भावार्थ—आमदनी का चौथा भाग भंडार में डालना, चौथा धर्म और उपभोग में खर्चना, चौथा व्यापार में लगाना और चौथे से कुटुंब का पालन करना चाहिए। अथवा:—

> आयादर्द्धं नियुञ्जीत धर्मे समधिकं ततः
> शेषेण शेषं कुर्वीत यत्नतस्तुच्छमैहिकम् ॥१॥

भावार्थ—आय का आधा भाग या आधे से भी ज्यादा धर्म में खर्चना चाहिए और अवशेष से तुच्छ सांसारिक कार्य करना चाहिए। जो आय के अनुसार योग्य रीति से धर्मकार्य में धन नहीं खर्चता है वह कृतघ्न कहलाता है। जिस धर्म के प्रताप से मनुष्य के सुख का साधन धन मिलता है। उसी धर्म के लिए यदि मनुष्य कुछ खर्च न करे तो वह कृतघ्न के सिवा और क्या कहा जासकता है? एक कवि युक्तिपूर्वक धनाढ्यों को धर्म कृत्यों में व्यय करने की शिक्षा देता हुआ कहता है:—

> लक्ष्मीदायादाश्चत्वारो धर्माग्निराजतस्कराः।
> ज्येष्ठपुत्रापमानेन कुप्यन्ति बान्धवास्त्रयः ॥१॥

भावार्थ—लक्ष्मी के चार पुत्र हैं। उनके समान भाग हैं। उनके नाम हैं— धर्म, अग्नि, राजा, और चोर। इनमें सबसे बड़ा और माननीय पुत्र धर्म है। इसके अपमान से तीन भाई नाराज होते हैं। अर्थात् धर्म नहीं करनेवाले मनुष्य की लक्ष्मी अग्नि द्वारा नष्ट होती है; राजा द्वारा लूटी जाती है या चोरों द्वारा चुराई जाती है। इसलिए शास्त्रकारोंने कहा है कि, आयका चौथा भाग या आधा भाग धर्मकार्य में व्यय करो। यदि इतना नहीं कर सको तो भी जितना किया जाय उतना तो अवश्यमेव करो। ऐसा कौन होगा जो चंचल धन को व्यय कर निश्चल धर्म रत्न को न खरीदेगा? वास्तव में देखा जाय तो मनुष्य मात्र लाभार्थी है। मगर सब मनुष्य अपने धन की ठीक व्यवस्था नहीं करसकते इससे उनको पूर्ण लाभ नहीं होता है। शास्त्रों की आज्ञानुसार जो अपने धन की व्यवस्था करता है उसीको पूर्ण लाभ होता है। इसलिए प्रत्येक को चाहिए कि वह आय के प्रमाण में धर्मकार्य में जरूर धन खर्चे।

तेरहवाँ गुण।

वेषं वित्तानुसारतः। अर्थात् पोशाक वित्त—धन के अनुसार रखना मार्गानुसारी का तेरहवाँ गुण है। जो लोग ऐसा नहीं करते हैं उन्हें दुनिया साहसी, ठग आदि कहकर पुकारती है। वह कहती है—पास में पैसा न होने पर भी छेलछबीला बना फिरता है। जान पड़ता है, यहकिसी को ठगकर, पैसा

आर आया है। या ठगने के लिए धनाढ्य का सॉँग कर विदेश जाना चाहता है। द्रव्य होने पर भी जो रद्दी वस्त्र पहिनता है, वह मक्खीचूस कहलाता है। इसलिए द्रव्यानुसार पोशाक पहिनना चाहिए। ऐसा करने से लोगों में सन्मान होता है। सन्मान भी धर्म कार्यों में बहुत सहायक होता है।

चौदहवाँ गुण।

अष्टभिर्धीगुणैर्युक्तः। अर्थात् बुद्धि के आठ गुणों सहित रहना, मार्गानुसारी का चौदहवाँ गुण है। धर्मश्रवण में बुद्धि के आठ गुणों का होना बहुत ही आवश्यक है। अन्यथा, मात्र धर्म श्रवण से गैरसमझ पैदा हो जाती है। इसके लिए यहाँ हम एक उदाहरण देते हैं:—

" एक महाराज रामचरित पढ़ते थे। उसमें आया कि, 'सीता का हरण हुआ' उनमें एक व्यक्ति—जो बुद्धि के गुण—विहीन था—ने विचारा सीताजी हरण हो गई ? " कथा पूरी हो गई। मगर उसकी शंका का समाधान नहीं हुआ। इसलिए वह महाराज के पास जाकर कहने लगा:— " महाराज ! सारी बातें स्पष्ट हो गई, परन्तु एक बात रह गई। " कथा बाचनेवाले महाराज विचार में पड़े। वे सोचने लगे कि कोई श्लोक छूट गया है ! या उल्टा सीधा हो गया है जिससे यह ऐसा कह रहा है ! फिर उन्होंने पूछा:—" भाई !

क्या बात रह गई ? " उसने उत्तर दिया:—" आपने प्रथम कहा था कि, सीता जी हरण हो गई सो अब वे वापिस हरण की मनुष्य बनी या नहीं ? "

महाराज उसकी बात सुन कर हँस पड़े। फिर बोले:— " भाई ! सीताजी का हरण हुआ इसका अर्थ यह है, कि रावण उनको ले गया। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे हिरननामा पशु हो गईं। " महाराज की बात सुनी तब वह वास्तविक बात समझा। यदि वह महाराज से नहीं पूछ कर, चला जाता तो दूसरे लोगों के साथ व्यर्थ ही झगड़ता। इसलिए धर्मश्रवणमें बुद्धि के गुणों की खास जरूरत है। बुद्धि के आठ गुण इस तरह है:—

> शुश्रुषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
> उहापोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ॥ १ ॥

भावार्थ—१–शुश्रुषा–सुनने की इच्छा; २–श्रवण–सुनना; ३–ग्रहण–सुने हुए शास्त्रोपदेश को ग्रहण करना; ४–धारणा–सुने हुए को न भूलना। ५–ऊहा–ज्ञातअर्थ का अवलंब करके, उसीके समान अन्य विषय में व्याप्ति द्वारा तर्क करना; ६–अपोह–अनुभव और युक्ति विरुद्ध हिंसादि अनर्थजनक कार्यों से निवृत्त होना। अथवा उह–सामान्यज्ञान और अपोह–विशेष-ज्ञान। ७–अर्थज्ञान–तर्क वितर्क के योगसे, मोह, संदेह और

विपर्यास रहित वस्तु धर्म का जानना। ८-तत्वज्ञान—अमुक पदार्थ इसी तरह है। इसमें लेशमात्र भी परिवर्तन नहीं हो सकता है; ऐसा निश्चय।

पन्द्रहवाँ गुण।

शृण्वानो धर्ममन्वहम्। अर्थात्—धर्म सुननेवाला धर्म योग्य होता है, धर्मश्रवण मार्गानुसारी का पन्द्रवाँ गुण है। ऊपर बुद्धि के आठ गुण बताये गये हैं। उनका धारण करनेवाला पुरुष कभी अकल्याण का भागी नहीं होता है। इसी लिए धर्म सुननेवाला धर्म का अधिकारी बताया गया है। यहाँ धर्मश्रवण विशेष गुण समझना चाहिए। बुद्धि के गुणों में जो श्रवण गुण आया है वह श्रवण मात्र अर्थवाला है। इसलिए दोनों के एक होने का संशय नहीं करना चाहिए। धर्म सुननेवाले के विशेष गुण निम्न लिखित श्लोक से स्पष्ट होंगे।

> क्लान्तमपोज्झति खेदं तप्तं निर्वाति बुद्ध्यते मूढम्।
> स्थिरतामेति व्याकुलमुपयुक्तसुभाषितं चेतः॥

भावार्थ—यथावस्थित सुभाषितवालामन खेद को दूर करता है; दुःख दावानल से तप्त पुरुषों को शान्त करता है; अज्ञानी को बोध देता है; व्याकुल मनुष्य को स्थिर बनाता है; यानी सुन्दर वचन—वर्गणा का श्रवण सारे शुभ पदार्थों को देनेवाला होता है। यदि सुंदर उक्ति प्राप्त हो जाय तो फिर अलंकारादि

की अपेक्षा रखना अनावश्यक है। एक कविने कहा है कि:—

किं हारैः किमुकङ्कणैः किमसमैः कर्णावतंसैरलं
केयूरैर्मणिकुण्डलैरलमलं साडम्बरैरम्बरैः।
पुंसामेकमखण्डितं पुनरिदं मन्यामहे मण्डनं
यन्निष्पीडित पार्वणामृतकरस्यन्दोपमाः सूक्तयः॥

भावार्थ—यदि मनुष्य को पूर्णिमा के चंद्र से झरते हुए अमृत की उपमा के समान यथार्थ वचन वर्गणा प्राप्त हो जाय तो फिर हारों से क्या होता है? कंकणों से भी क्या होता है? अमूल्य कर्णभूषणों से भी क्या प्रयोजन है? बाजूबंध की भी कोई आवश्यकता नहीं है। मणिमय कुंडलों से भी क्या प्रयोजन है? और अति स्वच्छ वस्त्र भी व्यर्थ है, यानी यथार्थ वचन वर्गणा और मधुर भाषण ही मनुष्य का भूषण है। मधुर भाषण की प्राप्ति मनुष्य को धर्मश्रवण से मिलती है।

सोलहवाँ गुण।

अजीर्णे भोजन—त्यागी। अर्थात अजीर्ण में भोजन नहीं करना मार्गानुसारी का सोलहवाँ गुण है। जो अजीर्ण में भोजन नहीं करता है उसका शरीर स्वस्थ रहता है। स्वस्थ मनुष्य ही धर्म की साधना कर सकता है। इसीलिए व्यवहारनय का आश्रय लेकर कई कहते हैं कि, शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम् (शरीर प्रथम धर्म का साधन है।) मगर वस्तुस्थिति के अनुसार यह

कहना चाहिए कि—शरीरमाद्यं खलु पापं साधनम् (शरीर प्रथम पाप का साधन है) जिसके शरीर नहीं होता है उसके पाप का बंध भी नहीं होता है। सिद्ध जीवों के शरीर नहीं होता इसलिए उनके पाप का बंध भी नहीं होता। शरीर पाप का कारण है और पाप शरीर का कारण है। जहाँ शरीर नहीं, वहाँ पाप नहीं और जहाँ पाप नहीं वहाँ शरीर नहीं। इस तरह दोनों की अन्वय व्यतिरेक व्याप्ति है। तो भी व्यावहारिक दृष्टि से शरीर प्रथम धर्म का साधन माना गया है। इसीलिए अजीर्ण में भोजन का त्याग करना बताया गया है। वैद्यक शास्त्रों में लिखा है कि,—अजीर्णप्रभवा रोगाः (रोग अजीर्ण से उत्पन्न होते है।)

शंका—कई स्थानों में लिखा है कि—धातुक्षयप्रभवा रोगाः (धातु के क्षय से रोग उत्पन्न होते हैं।) इन दोनों वाक्यों में से कौन से वाक्य को सत्य मानना चाहिए ? उत्तर—धातु का क्षय भी अजीर्ण ही से होता है। यदि अन्न भली प्रकार से पच जाय तो मनुष्य को कभी धातुक्षय रोग न हो। किसी तरह परिश्रम से निर्बलता नहीं आती। मनुष्य वही निर्बल होता है जिसको भोजन हजम नहीं होता है। अजीर्ण होने पर भी इन्द्रिय लालसा से भोजन करता है, वह स्वशरीर को नष्ट करता है। अजीर्ण के लक्षण जानने के लिए निम्नलिखित श्लोक हरेक को कण्ठाग्र कर लेना चाहिए। कहा है कि:—

मलवातयोर्विगन्धो विड्भेदो गात्रगौरवमरुच्यम् ।
अविशुद्धश्चोद्गारः षडजीर्णव्यक्तलिङ्गानि ॥

भावार्थ—(१) मलमें और अपान वायु में दुर्गंध आने लगे (२) टट्टी में गड़बड़ी हो (३) आलस्य आवें (४) पेट फूल जाय (५) भोजन पर कम रुचि रहे (६) खराब डकारें आवे तो जानना की अजीर्ण हो गया है। अर्थात् इन छ बातों का होना अजीर्ण का चिन्ह है।

इनमें से यदि एक भी बात शरीर में हो जाय तो तत्काल ही भोजन छोड़ देना चाहिए। ऐसा करने से जठराग्नि विकार को भस्म कर देती है। धर्मशास्त्र कहते हैं कि, प्रतिपक्ष एक उपवास करना चाहिए। जो धर्मशास्त्रों की इस आज्ञा को मानता है, उसकी प्रकृती कभी विकृत नहीं होती, वह कभी रोगी नहीं होता। कर्मजनित रोग के लिए कोई कुछ नहीं कर सकता है। आजकल कई कहते हैं कि उपवास न करके दस्त लेना चाहिए। मगर यदि हम शान्ति से विचार करेंगे तो मालुम होगा कि, दस्त लेना, इसलोक और परलोक दोनों में हानिकर्ता है। मगर उपवास दोनों लोकों का सुधारनेवाला है। दस्त लेनेसे प्रकृति में परिवर्तन होता है। कई वार तो वायु के प्रकोप से दस्त लेनेवालों को बहुत हानि उठानी पड़ती है। इससे पेट में के कीड़े मर जाते हैं, इसलिये हिंसा होती है, और हिंसा परलोक

को बिगाड़नेवाली है। इसलिए कहा जाता है कि दस्त लेना दोनों लोकों में हानि पहुँचानेवाली बात है। पाक्षिक उपवास पन्द्रह दिन में खाये हुए अन्नका परिपाक कराता है; मन को निर्मल बनाता है; ईश्वर भजन में लगाता है और अन्नपर रुचि कराता है। जिस से रोग नहीं होता है। इसलिए पन्द्रह दिन में एक उपवास अवश्यमेव करना चाहिए। अजीर्ण में भोजन करने से शरीर ठीक हो जाता है। अजीर्ण न हो तो नियम से थोड़ा भोजन करना चाहिए। भूख से कुछ कम खाने से खाया हुआ भोजन, अच्छा रस, वीर्य उत्पन्न करता है। कहा है कि:— 'यो मितं भुङ्क्ते स बहु भुङ्क्ते' (जो थोड़ा खाता है वह बहुत खाता है। इसलिए खानें की विशेष लालसा न कर अजीर्ण के समय भोजन का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

सत्रहवाँ गुण।

काले भोक्ता च सात्म्यतः। अर्थात् समय पर प्रकृति के अनुकूल भोजन करना मार्गानुसारी का सत्रहवाँ गुण है। जैसे विष थोड़ा होने पर भी हानिकर होता है इसीतरह आवश्यकता से थोड़ासा ज्यादा खाना भी हानिकर होता है। इसीलिए सात्म्य पदार्थ खाने का उपदेश दिया गया है। कहा है कि—

पानाहारादयो यस्याविरुद्धाः प्रकृतेरपि।
सुखित्वायाऽवकल्पन्ते तत्सात्म्यमिति गीयते ॥

भावार्थ—जो खाना, पीना प्रकृति के अनुकूल होता है वही सात्म्य आहार कहलाता है। बलवान पुरुष के लिए सब पदार्थ पथ्य हैं। तो भी योग्य समय में योग्य पदार्थ खाना ही उचित है। क्यों कि ऐसा करने ही से हमेशा स्वास्थ्य ठीक रह सकता है; और स्वास्थ्य के ठीक रहने ही से धर्म की साधना हो सकती है। संसार का हरेक कार्य विधिपूर्वक किया जाना चाहिए। जैसे दूसरे कामों की विधि बताई गई है, वैसे ही भोजन की भी विधि बताई गई है। इसलिए गृहस्थियों को अनुसार भोजनादि बनाने चाहिए। कहा गया है कि—

पितुर्मातुः शिशूनां च गर्भिणीवृद्धरोगिणाम् ।
प्रथमं भोजनं दत्त्वा स्वयं भोक्तव्यमुत्तमैः ॥

भावार्थ—माता, पिता, बालक, गर्भिणी, वृद्ध और रोगी इन सबको पहिले भोजन देकर फिर भोजन करना चाहिए। ऐसा करना उत्तम पुरुषों का कर्तव्य है। और भी कहा है कि:—

चतुष्पदानां सर्वेषां धृतानां च तथानृणाम् ।
चिन्तां विधाय धर्मज्ञः स्वयं भुञ्जीत नान्यथा ।

भावार्थ—धर्मज्ञ—धर्मात्मा मनुष्यों को अपने रक्खे हुए पशु पक्षियों की और नौकर लोगों की पहिले खबर लें तब वे स्वयं भोजन करें। अन्यथा नहीं। इसतरह उचित समय में भोजन करना मार्गानुसारी का सत्रहवाँ गुण है।

अठारहवाँ गुण ।

अन्योन्याप्रतिबन्धेन त्रिवर्गमपि साधनम् । अर्थात् धर्म, अर्थ, और कामरूप त्रिवर्ग की विरोध रहित साधना करना, मार्गानुसारी का अठारहवाँ गुण है । कहा है किः—

यस्य त्रिवर्गशून्यानि दिनान्यायान्ति यान्ति च ।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥

भावार्थ—जिसके दिन धर्म, अर्थ, और काम रहित जाते हैं और आते हैं, वह लोहार की धौंकनी के समान श्वासोश्वास लेता हुआ भी मृतक है । दूसरे शब्दों में कहें तो वह पशु के समान है । कहा है किः—

त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य ।
तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति न तं विना यद्भवतोऽर्थकामौ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य धर्म, अर्थ और काम की साधना नहीं करता है उसके जीवन को पशु के समान निष्फल समझना चाहिए । इन तीनों में धर्म श्रेष्ठ है । क्योंकि धर्म साधन के बिना अर्थ और काम की प्राप्ति नहीं होती है । धर्म सुख का अर्थ का और काम का कारण है । यहाँ तक कि मुक्ति का कारण भी धर्म ही है । धर्म से समस्त पदार्थों की प्राप्ति होती है । धर्म पुण्य लक्षण या संज्ञानरूप है । पुण्य लक्षण धर्म संज्ञान लक्षण धर्म का कारण है । कार्य उत्पन्न कर, कारण मझे हुए

रहे। इससे कोई हानिलाभ नहीं है। धर्म सात कुलों को पवित्र बनाता है। कहा है कि:—

धर्मः श्रुतोऽपि दृष्टो वा कृतो वा कारितोऽपि वा।
अनुमोदितोऽपि राजेन्द्र! पुनात्यासप्तमं कुलम् ॥

भावार्थ—हे राजेन्द्र! सुना हुआ, किया हुआ, कराया हुआ या अनुमोदन दिया हुआ, धर्म सात कुलों को पवित्र करता है। शंका—बार बार तीन वर्ग का ही नाम आता है। मोक्ष, मुक्ति या निर्वाण का तो कहीं नाम भी नहीं लिया जाता इसका कारण क्या है? क्या मोक्ष तुम्हारी दृष्टि में अमान्य है? उत्तर—मोक्ष, या निर्वाण के साधक मुनि होते हैं। और यहाँ गृहस्थों के कर्तव्यों का विवेचन किया जा रहा है। इसी लिए मोक्ष का नाम नहीं लिया गया है। जैन सिद्धान्तों में जितनी क्रियाएँ बताई गई हैं वे सब मोक्ष की साधक हैं। स्वर्गादि तो उनके अवान्तर फल हैं। जैसे अमुक नगर के पहुँचने के उद्देश्य से मुसाफरी करनेवाला मनुष्य मार्ग में आनेवाले नगरों में विश्राम लेने के लिए भी ठहर जाया करता है, वैसे ही मोक्षपुरी में जानेवाला जीव मुसाफिर स्वर्गादि स्थानों में ठहर जाता है। जिनके सिद्धान्तों में मोक्षसाधक अनुष्ठान नहीं हैं वे अवश्यमेव नास्तिक हैं। मोक्ष के कारण सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र हैं। उनको प्राप्त करने के लिए प्रथम योग्यता प्राप्त करनी पड़ती है। उस योग्यता के

प्राप्त करने के साधनभूत धर्म, अर्थ और काम का अविरोध रीतिसे साधन करना, यह अठारहवाँ गुण है । इसमें ' मोक्ष ' शब्द की आवश्यकता नहीं थी, इसी लिए वह नहीं आया है । अब हम यह बतायँगे कि, ये परस्पर वे कैसे विरोधी होते हैं और मनुष्य अविरोध रूपसे कैसे इनकी साधना कर सकता हैं । धर्म और अर्थ का नाश करके जो मनुष्य केवल ' काम ' नामा पुरुषार्थ की साधना करता है वह वनगज के समान आपदा का स्थान होता है । जैसे वनगज, काम के वश में हो कर, अपने जीवन को पराधीन दशा में डाल देता है और रो रो कर प्राण देता है, इसी तरह कामासक्त पुरुष का धन, धर्म और शरीर को नष्ट कर देता है । इसलिए केवल कामसेवा अनुचित है । जो मनुष्य धर्म और काम का अनादर कर, केवल अर्थ की अभिलाषा करता है, वह सिंह की भाँति पाप का अधिकारी होता है । जैसे सिंह हाथी के समान बड़े शरीरवाले पशु को मार कर, आप थोड़ा खाता है और बाकी अन्यान्य पशु, पक्षियों को दे देता है । इसी तरह अर्थसाधक मनुष्य भी स्वयं थोड़ा खाता है और बाकी का अन्यान्य संबंधियों को सौंप देता है और आप अठारह पाप स्थानकों का सेवन कर, दुर्गति में जाता है । इस लिए केवल अर्थ की सेवा करना अनुचित है। इसी तरह अर्थ और काम को छोड़ धर्मही का सेवन करना गृहस्थाभाव का कारण है । धर्म मात्रही की

सेवा के अधिकारी मुमुक्षुजन होते हैं; साधु होते हैं। और यहाँ गृहस्थ धर्म का विवेचन किया जा रहा है। इसलिए केवल धर्म सेवा ही में लगा रहना गृहस्थों के लिए अनुचित है। जो मनुष्य धर्म को छोड़ कर, अर्थ और काम की सेवा करते हैं वे बीज को ही खा जानेवाले किसान की तरह भूखों मरते हैं। एक किसान बड़े परिश्रमसे, कहीं से बीज लाया। मगर उसको वह खा गया। वर्षा के समय खेत में न बो सका। इससे नाज का अभाव हुआ, और नाज के अभाव में सुख का भी अभाव हो गया। इसी तरह अर्थ और काम के बीज धर्म को छोड़ कर, जो लोग अर्थ और कामही का सेवन करते हैं वे बीज खा जानेवाले किसान की भाँति दुःखी होते हैं। **शंका**—अर्थ अनर्थ का उत्पन्न करनेवाला है। इसलिए उसका आदर करना व्यर्थ है। मनुष्य धर्म और काम ही से जब अपना कार्य सिद्ध कर सकता है तब फिर क्या आवश्यकता है कि, अर्थ का सेवन भी किया जाय। धर्म से परलोक और काम से यह लोक सिद्ध हो जाता है। और जीव दोनों भवों को सफल करने ही के लिए पुरुषार्थ करता है। **समाधान**—शंकाकार यदि कुछ विचार करेंगे तो उनकी शंका आप ही मिट जायगी। गृहस्थावास में रह कर अर्थ विना धर्म और काम की सेवा होना कठिन है। जो मनुष्य अर्थ का सेवन नहीं करता है वह दूसरों का कर्जदार हो जाता है। कर्जदार देव, गुरु की सेवा नहीं कर सकता है।

वह निश्चित भाव से सांसारिक कार्य भी नहीं चला सकता है। इसलिए धर्म और काम के साथ ही अर्थ की साधना करना भी अत्यंत आवश्यक है। शंका—धर्म और अर्थ की सेवा करनेवाला, न किसी का कर्जदार ही होता है और न उसके धर्म साधनमे ही कोई विघ्न आ सकता है, इसलिए क्या आवश्यकता है कि पाप मूल 'काम' की सेवा की जाय? यद्यपि विचार सुंदर है तथापि काम सेवन विना गृहस्थाभावरूप आपत्ति आती है। इसलिए तीनों वर्गों की योग्य रीति से साधना करनेवाला गृहस्थ ही धर्म के योग्य होता है। कर्मवश यदि बाधा उपस्थित होगी तो वह, क्रमशः धर्म, अर्थ, और फिर काममें बाधा होगी। मगर गृहस्थी पहिले के पुरुषार्थों में बाधा नहीं पड़ने देनी चाहिए। जैसे किसी की ४० वर्ष की उम्र में स्त्री मर जाय तो उसको फिरसे ब्याह न कर चतुर्थ व्रत—ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करना चाहिए। ऐसे करने से यद्यपि 'काम' में बाधा पड़ेगी तथापि धर्म और अर्थ की रक्षा हो जायगी, व्यवहार विरुद्ध और शास्त्र विरुद्ध चलने का दोष भी उसको नहीं लगेगा। यदि दैवयोग से स्त्री और धन दोनों ही का नाश होजाय तो धर्मसेवा करना चाहिए। यदि धर्म होगा तो सब कुछ मिल जायगा। कहा है कि—'धर्मवित्तास्तु साधवः' सज्जन पुरुषों के पास धर्मरूपी द्रव्य होता है। धर्म से सारी वस्तुएँ मिलती हैं। कहा है कि:—

आधारो यस्त्रिलोक्या जलधिजलधरार्केन्दवो यन्नियोज्या,
भुज्यन्ते यत्प्रसादादसुरसुरनराधीश्वरैः संपदस्ताः ।
आदेश्या यस्य चिन्तामणिसुरसुरभिकामकुम्भादिभावाः
श्रीमज्जैनेन्द्रधर्मः किशलयतु स वः शाश्वतीं सौख्यलक्ष्मीम् ॥

भावार्थ—जो तीन लोक का आधार है; जिससे समुद्र, मेघ, चंद्र और सूर्यादि की मर्यादा है, जिसके कारण से भुवनपति, वैमानिक, इन्द्र, नरेन्द्र, वासुदेव और चक्रवर्ती आदि की संपत्ति प्राप्त होती है और चिन्तामणि रत्न, देव और कामधेनु जिसके दास हैं, ऐसा जिनराज कथित धर्म हे भव्यजीवो ! तुम्हें शाश्वत मोक्षलक्ष्मी को देवे । ऐसे धर्म का काम और अर्थ की बाधा में भी सेवन करना चाहिए ।

उन्नीसवाँ गुण ।

यथावदतिथौ साधौ दीने च प्रतिपत्तिकृत् । अर्थात् अतिथि साधु और दीनकी यथायोग्य भक्ति करना, मार्गानुसारी का उन्नीसवाँ गुण है । अतिथि साधु और दीनका वास्तविक स्वरूप जाने विना उनकी यथोचित भक्ति नहीं हो सकती, इसलिए उनके स्वरूप का वर्णन किया जाता है । जिसने तिथि और दीपोत्सवादि पर्वों का त्याग किया होता है वह अतिथि कहाता है । उनके अलावा दूसरे अभ्यागत कहाते हैं । कहा है कि:—

तिथिपर्वोत्सवा सर्वे त्यक्ता येन महात्मना ।
अतिथिं तं विजानीयाच्छेशमभ्यागतं विदुः ॥

इस श्लोक का अथ ऊपर लिखा जा चुका है ।

साधुः सदाचारतः पाँच महाव्रत रूप सदाचार का पालन करना सदाचार है । जो इस सदाचार में लीन रहता है उसको साधु कहते हैं । और जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के साधन में अशक्त होता है उसको दीन कहते हैं । इन तीनों की उचित रीती से भक्ति करना चाहिए । अन्यथा आचरण से अधर्म के बजाय अधर्म होजाने की संभावना रहती है । यानी पात्र को कुपात्र की पंक्ति में बिठाने से और कुपात्र को पात्र की पंक्ति में बिठाने से, धर्म करते धाड़ा-डाका पड़ने की संभावना है । देखिए नीतिकार क्या कहते हैं ?

औचित्यमेकमेकत्र गुणानां कोटिमेकतः ।
विषायते गुणग्राम औचित्यपरिवर्जितः ॥

भावार्थ—नीतिरूपी तराज के दोनों पलड़ों में से एक में उचितता और दूसरे में करोड़ गुण रक्खो, फिर तराजू को उठा कर देखो । तुम देखोगी कि उचिततावाला पलड़ा भारी है । अर्थात् करोड़ गुणों की अपेक्षा उचितता विशेष है । इसलिए पात्रानुसार पूजा करना ही उचित है । उचितता के विना करोड़ों गुणों का समूह भी विष के समान होता है । इसलिए अतिथि,

साधु और दीनकी यथायोग्य रीतिसे सेवा करना चाहिए अतिथि, साधु और दीनकी सेवा किये विना, गृहस्थी के लिए भोजन करना भी मना है । इनकी सेवा विना जो गृहस्थ भोजन करता है, उसका भोजन नहीं होता । कहा है कि:—

अर्हद्भ्यः प्रथमं निवेद्य सकलं सत्साधुवर्गाय च,
प्राप्ताय प्रविभागतः सुविधिना दत्वा यथाशक्तितः ।
देशायातसधर्मचारिभिरलं सार्द्धं च काले स्वयं,
भुञ्जीतेति सुभोजनं गृहवतां पुण्यं जिनैर्भाषितं ॥

भावार्थ—गृहस्थ पहिले सब चीजें जिनेश्वर भगवान के आगे नैवेद्य रूपसे रखले; तत्पश्चात् विधि-सहित साधु वर्ग को दान दे और देशान्तर से आये हुए अपने सार्धर्मियों के साथ भोजन के समय भोजन करे । ऐसा भोजन ही गृहस्थियों का उत्तम भोजन है, यही जिनेश्वर भगवान की आज्ञा है ।

बीसवाँ गुण ।

सदानभिनिविष्टश्च । अर्थात हमेशा आग्रह रहित रहना, मार्गानुसारी का बीसवाँ गुण है । आग्रही पुरुष धर्म-योग्य नहीं होता । जो आग्रही होता है, वह युक्ति को अपनी मान्यता की ओर खींच लेजाता है, और अनाग्रही मनुष्य युक्ति के पास अपनी मति को और अपनी मान्यता को लेजाता है । संसार में युक्तियों की अपेक्षा कुयुक्तियाँ विशेष व्यवहार में आती हैं ।

जहाँ देखो वहीं कुयुक्ति करनेवाले ही दृष्टिगत होते हैं। सुयुक्ति के अनुसार बातें करनेवाले और सुयुक्ति का आदर करनेवाले बहुत ही कम लोग दिखाई देते हैं। युक्ति का वहीं आदर होता है कि, जहाँ आग्रह का अभाव होता है। अनाग्रही मनुष्य ही धर्म के योग्य होते हैं।

इक्कीसवाँ गुण।

पक्षपातीगुणेषु च–अर्थात् गुणों में पक्षपात करना मार्गानुसारी का इक्कीसवाँ गुण है। सुजनता, उदारता, दाक्षिण्य, प्रियभाषण, स्थिरता और परोपकार आदि यानी स्वपर हितकारक और आत्महित साधन के सहायक जो गुण हैं उनका पक्षपात करना, उन गुणों का बहुमान करना, उनकी रक्षा की मदद करना गुण पक्षपात है। गुणपक्षपाती भवान्तर में सुंदर गुण प्राप्त करता है और गुणद्वेषी निर्गुणी बनता है। व्यक्तिगत द्वेष के कारण कई, स्वात्मवैरी मनुष्य गुणों से ईर्ष्या करते हैं। ऐसा करना महान् अनर्थकारी बात है। गुणद्वेषी तो किसी समय भी नहीं बनना चाहिए। हमें सारे जगत के जीवों के गुणों की अनुमोदना करना चाहिए। जिससे हमें भवान्तर में गुणों की प्राप्ति हो।

तेईसवाँ गुण।

अदेशकालयोश्चर्यां त्यजन्–अर्थात् निषिद्ध देश और निषिद्ध

मर्यादा का त्याग करना मार्गानुसारीका बाईसवां गुण है निषिद्ध देश में जानेसे एक लाभ और हजारों हानियां होती हैं। निषिद्ध देश में जानेसे लाभ एक धन का होता है; परंतु धर्म-हानि, व्यवहार निःशुकता और हृदय निष्ठुरता आदि दुर्गुण-नुकसान होते हैं। जीव का स्वभाव है कि वह विषय की ओर विशेष रूपसे झुकता है। अनार्य देश में जानेसे धार्मिक पुरुषों का सहवास छूटता है व प्रत्यक्ष प्रमाण ही को माननेवाले लोगों का और मांसाहारी व्यक्तियों का समागम होता है, इससे उस का मन भी उसी प्रकार का बनने लगता है। यद्यपि गंगा का जल मिष्ट, स्वादु और पवित्र समझा जाता है; परन्तु वही समु-द्रमें जा कर क्षार हो जाता है, इसी तरह विदेश जाते समय मनुष्य पहिले धार्मिक, सरल स्वभावी और दृढ मनवाला होता है; परन्तु शनैः शनैः वह गंगा के जल के समान खारा हो जाता है। शंका—मान लिया कि यदि कोई स्वार्थसाधन के लिए विदेश जायगा तो समुद्र में मिलनेवाले गंगाजल के समान खारा हो जायगा; मगर यदि कोई दृढ धर्मात्मा जगत् पूज्य पुरुष आर्य धर्म के तत्त्वों का प्रचार करने के लिए विदेश में जाय तो क्या उस की भी वैसी ही दशा हो सकती है? उत्तर—यदि कोई सर्पमणि के समान हो तो वह चाहे जिस जगह जाय। उस के लिए कोई प्रतिबंध नहीं है। जैसे सर्प और मणि का जन्म और मरण एक ही साथ होता है,

परन्तु सर्प का विष मणि पर असर नहीं करता, इसी तरह मणि का अमृत सर्प पर असर नहीं करता। कारण यह है कि, दोनों अपने अपने विषय में सम्पूर्ण हैं। अर्थात् सर्प विषसे भरपूर है और मणि अमृतसे भरपूर है। इसी तरह जो मनुष्य अपने विषय में, और धर्म में पूर्ण हो उस के लिए कोई बाधा नहीं है। वह इच्छानुसार प्रत्येक स्थान में जा सकता हैं। बाधा केवल अपूर्ण मनुष्यके लिए है। अपूर्ण का का उत्साह क्षणिक होता है, विचार विनश्वर होता है, और धर्म-वासना हल्दी के रंग सदृश होती हैं। उस को यदि उपकार करने की इच्छा हो तो पहिले वह अपना उपकार को पश्चात् दूसरे के उपकार का प्रयत्न करे। आर्य भूमि में हजारों मनुष्य जंगली हैं; विदेशियों की भी लगभग ऐसी ही दशा हैं; वे धन और स्त्री की लालच दे कर आर्य को भी अपने धर्म का बना लेते हैं। अतः जो दृढ धर्मात्मा हैं उस को चाहिए कि, वह उन के पास जा कर उन को सुधारे। अपूर्ण भी पूर्णता प्राप्त कर, जा सकता है। अर्हन्नीति में विदेशागमन का जो निषेध है उस का कारण पूर्वोक्त धर्म हानि ही है। पूर्ण चाहे जहां जाय। अपूर्ण को निषिद्ध देश में कभी नहीं जाना चाहिए। निषिद्ध काल की मर्यादा भी त्याग करना चाहिए। कई मनुष्यों को रात्रि में बाहिर फिरने की मनाई होने पर भी वे बाहिर फिरते हैं, इस लिए वे कलङ्कित हो जाते हैं; उन के

लिए चोर होने की शंका की जाती है। चौमासे में प्रवास नहीं करना चाहिए, यात्रा नहीं जाना चाहिए। जो इस मर्यादा का उल्लंघन करता है वह दुःखी होता है; हिंसा होनेसे धर्म करते घाड डालनेवाला कार्य हो जाय।

तेईसवाँ गुण।

जानन् बलाबलं—अर्थात् अपने और दूसरे के बल अबल को जानना, मार्गानुसारी का तेईसवां गुण है। अपने बल को जाने बिना, प्रारंभ किया हुआ कार्य निष्फल जाता है। बलाबल का ज्ञान करके जो कार्य करता है, वही सफल होता है। बलवान् यदि व्यायाम करता है, तो उसका शरीर पुष्ट होता है, और निर्बल व्यायाम करता है तो उसका शरीर क्षीण हो जाता है। कारण यह है कि, अपनी शक्ति की अपेक्षा अधिक परि-श्रम करना; अवयवों को हानि पहुंचाता है। इस लिए बल के प्रमाणानुसार कार्यारंभ करना चाहिए। ऐसा करनेसे चित्त शान्त रहता है। चित्त की शान्ति धर्म साधन में उपयोगी होती है।

चोवीसवाँ गुण।

व्रतस्थज्ञानवृद्धानां पूजकः-अर्थात् व्रति मनुष्यों और ज्ञानवृद्ध पुरुषों की सेवा करना, मार्गानुसारी का चौबीसवां गुण है। अनाचार का त्याग और शुद्धाचार का पालन व्रत है, इस में जो रहता है, वह व्रतस्थ कहलाता है। जिससे हेय और

उपादेय की जानकारी होती हैं, वह ज्ञान कहलाता हैं, उस में जो विशेष होता हैं, यानी जिस में विशेष ज्ञान होता हैं वह ज्ञान वृद्ध कहलाता हैं। इन दोनों की सेवा करनेवाला महाफल प्राप्त करता हैं। व्रती पुरुषों की सेवा करनेसे व्रत का उदय होता हैं और ज्ञान वृद्धों की सेवासे वस्तु धर्म की पहिचान होती है। इन की सेवा कल्पवृक्ष के समान फलदायिनी होती है।

पचीसवाँ गुण ।

पोष्यपोषकः- पोषण करने योग्य माता, पिता, भाई, बहिन, पुत्र, परिवार का पोषण करना, मार्गानुसारीका पचीसवां गुण है। परिवार को अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति कर देना और जो प्राप्त हैं उन की रक्षा करना, ही उन की रक्षा करना है। ऐसा करनेसे लोक व्यवहार अबाधित चलता है। लोक व्यवहार की बाधा धर्म साधन में बाधक होती है। इस लिए पोषण करने योग्य का पोषण करनेवाला गृहस्थ धर्म के योग्य होता है।

छवीसवाँ गुण ।

दीर्घदर्शी—अर्थात् दूर का देखना—भावी का विचार करना मार्गानुसारी का छव्वीसवां गुण है। दूरदर्शी अर्थानर्थ का विचार करता है। वह कभी अनुचित साहस नहीं करता। अनुचित साहस करनेवाले मनुष्य का कभी कल्याण नहीं होता। कहा है किः—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः ॥

भावार्थ—सहसा–विना विचारे कोई काम नहीं करना चाहिए। करनेसे अविवेक होता है। अविवेक परम आपदा का स्थान हैं। विचार करके कार्य करने वाले पर संपदा प्रसन्न होती है और स्वयमेव वह उस की पास चली आती हैं।

दूरदर्शी मनुष्य में भूत और भविष्य का विचार करने की शक्ति होती हैं। जैसे—वह सोचता हैं कि, अमुक कार्य करने से लाभ होगा और अमुक करने से हानि। यह गुण पुण्य के उदय से मिलता है। पुण्यशाली धर्म की प्राप्ति कर सकता है।

सताईसवाँ गुण।

विशेषज्ञः—अर्थात् विशेष जानकार होना मार्गानुसारी का सत्ताईसवाँ गुण है। जो वस्तु, अवस्तु, कृत्य, अकृत्य, और आत्मा, परमात्मा के अन्तर को जो जानता है, वही विशेषज्ञ कहलाता है। अथवा जो आत्मिक गुण दोषों को विशेष रूप से जानता है वह विशेषज्ञ कहलाता है। जिस को इन बातों का ज्ञान नहीं होता है, वह मनुष्य पशु तुल्य समझा जाता है। जिस मनुष्य में अपने आचरणों के ऊपर दृष्टि रखने की शक्ति नहीं होती वह पशु के सिवा और क्या हो सकता है? वह कभी ऊँचा नहीं उठ सकता है। कहा है कि:—

इहोपपत्तिर्ममकेनकर्मणा कुत प्रयातव्यमितो भवादिति ।
विचारणा यस्य न जायते हृदि, कथं स धर्मप्रवणो भविष्यति ॥

भावार्थ—किन कर्मों के कारण मैं यहाँ उत्पन्न हुआ हूँ ? इस भव को छोड़ कर मुझ को कहाँ जाना है ? ऐसे प्रश्न जिस मनुष्य के हृदय में नहीं उठते है, वह किस तरह धर्म में तत्पर हो सकता है ? इसी लिए विशेष पुरुष धर्म के योग्य गिने गये है।

अट्ठाईसवाँ गुण ।

कृतज्ञः—अर्थात् परकृत उपकार को सदा ध्यान में रखना, मार्गानुसारी का अट्ठाइसवाँ गुण है। संसार में ऐसे कृतज्ञ पुरुष ही कम होते हैं। कहा है कि:—

विद्वांसः शतशः स्फुरन्ति भुवने सन्त्येव भूमिभृतो,
वृत्तिं वैनयिकीं च बिभ्रति कति प्रीणन्ति वाग्भिः परे ।
दृश्यन्ते सुकृतक्रियासु कुशला दाताऽपि कोऽपि क्वचित्
कल्पोर्वीरुहवद्भुवने न सुलभः प्रायः कृतज्ञो जनः ॥

भावार्थ—संसार में सैकड़ों विद्वान् हैं; विनयवान् और दूसरों को मधुर भाषण से प्रसन्न करनेवाले राजा भी अनेक है और पुण्यकृति कुशल, कल्पवृक्ष के समान दाता भी कई है; परन्तु कृतज्ञ मनुष्यों का मिलना अतीव कठिन है।

जो कृतज्ञ होते है वेही धर्मकार्य कर निस्तार पा सकते है। कृतघ्नों का कहीं निस्तार नहीं होता है।

उनत्तीसवाँ गुण ।

लोकवल्लभः—अर्थात् लोगों को प्रिय होना मार्गानुसारी का उनत्तीसवाँ गुण है। लोगों से अभिप्राय यहां सामान्य लोगों से नहीं है। क्योंकि सामान्य लोग धर्म करनेवाले की भी निंदा करते है और जो धर्म नहीं करता है उसकी भी निंदा करते है। उनका वल्लभ तो कोई भी नहीं हो सकता है। कार्य करनेवाले के वे दुषण निकालते है और नहीं करनेवाले को हतवीर्य बताते हैं। वे साधु की भी निन्दा करते हैं और गृहस्थ की भी। इसी लिए कीसी ज्ञानीने कहा है कि—'**कहे उसे कहने दो, सिरपे टोपा रहने दो**' इसलिए यहां लोगों से अभिप्राय प्रामाणिक लोगों से है, सामान्य लोगों से नहीं। प्रामाणिक लोगों का विनय, विवेक करके वल्लभ होनेवाला मनुष्य ही धर्मकृति भली प्रकार कर सकता है।

तीसवाँ गुण ।

सलज्जः—अर्थात सलज्ज होना, मार्गानुसारी का तीसवां गुण हैं। मर्यादावर्ती मनुष्य; लज्जावान् मनुष्य कभी अपने स्वीकृत व्रत का परित्याग नहीं करता है; अपने प्राणों के नष्ट होने पर भी व्रतसे च्युत नहीं होता है। इसलिए दशवैकालिक सूत्र में ' लज्जा ' शब्दसे संयम का स्वीकार किया गया है। संयम का कारण लज्जा है। यहां कारण में कार्य का उपचार

हुआ है, इस लिए लज्जा संयम गिना गया है। लज्जावान पुरुष सर्वत्र सुन्दर फल पाता है। निर्लज्ज मनुष्य की गिनती कभी उत्तम मनुष्यों में नहीं होती। लज्जा गुणधारी मनुष्य प्राणत्याग को अच्छा समझता है, मगर अकृत्य को कभी अच्छा नहीं समझता। कहा है कि:—

लज्जां गुणौघजननीं जननीमिवार्या-
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमानाः।
तेजस्विनः सुखमसूनपि सन्त्यजन्ति,
सत्यस्थितिव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥

भावार्थ—गुण समूह को उत्पन्न करनेवाली माता के समान, और अपने अन्तःकरण को शुद्ध बनानेवाली लज्जा को, धारण करनेवाले सत्यस्थिति के तेजस्वी मनुष्य, मौका आ पड़ने पर अपने प्राणों का त्याग कर देंगे मगर अपनी की हुई प्रतिज्ञा को कभी नहीं छोड़ेंगे। अर्थात् लज्जावान मनुष्य मर जायगा मगर स्वीकृत व्रत को कभी नहीं छोड़ेगा। इसीलिए लज्जावान मनुष्य धर्म के योग्य बताया गया है।

इकत्तीसवाँ गुण।

सदयः—अर्थात् दयालु होना मार्गानुसारी का इकत्तीसवाँ गुण है। दुखी जीवों को दुखसे छुड़ाकर सुखी करना दया है। जो दयावान होता है वह सदय कहलाता है। दया बिना कोई

मनुष्य धर्म के योग्य नहीं होता। धर्म के नाम पंचेन्द्री जीव का वध करने वाला कभी दयालु नहीं कहा जा सकता। जो अन्तः-करण दुःखी जीवों को देखकर दया से पिघल नहीं जाता है वह अन्तःकरण नहीं है बल्के अंतकरण—नाश करनेवाला—है। वास्तविक रीति से दान पुण्य वही करसकता है जो दयालु होता है।×

बत्तीसवाँ गुण।

सौम्यः—अर्थात् शान्त स्वभावी, अक्रूर आकृतिवाला होना, मार्गानुसारी का बत्तीसवाँ गुण है। क्रूरमूर्ति लोगों के हृदय में उद्वेग उत्पन्न करनेवाली होती है। क्रूरमूर्ति या अक्रूर मूर्ति का होना पूर्व पुण्य के आधार पर है। पूर्व पुण्य या उस प्रकार के संबंध बिना मनुष्य धर्मध्यान की सामग्री नहीं पासकता है।

तेतीसवाँ गुण।

परोपकृतिकर्मठः। अर्थात् दक्षतापूर्वक परोपकार करना मार्गानुसारी का तेतीसवाँ गुण है। परोपकार करनेवाला मनुष्य सब के नेत्रों को ऐसा सुखदायी होता है जैसा कि अमृत। परोपकार गुण विहीन मनुष्य पृथ्वी का भार मात्र है। मनुष्य का शरीर असार है, क्योंकि इसके अवयव मनुष्यों के किसी काम में

× जो इन बातों का स्वरूप विशेष रूपसे जानना चाहें वे हमारी लिखी हुई 'अहिंसा दिग्दर्शन' नामा पुस्तक पढ़ें।

नहीं आते, जैसे कि दूसरे जीवों के आते हैं। इसलिए इस असार शरीर से परोपकार का सार ले लेना चाहिए। जिसमें परोपकार करनेका गुण नहीं होता, मगर, ज्ञान, ध्यान, तप, जप, शील और संतोष आदि गुण होता है, वह आत्मतारक होसकता है; परन्तु शासनोद्धारादि कार्य नहीं करसकता है। आत्मतारक गुण भी बहुत बड़ा है। उसकी कभी निंदा नहीं करनी चाहिए। शक्ति के अनुसार जो कार्य किया जाता है, वही प्रशस्त गिना जाता है। मूककेवली और अंतकृत केवली आदि आत्मातारक होते हैं। यद्यपि कइयों में दूसरों को तारने की शक्ति होती है; परन्तु वे उसका उपयोग नहीं करते। इसका कारण शास्त्रकार उनके अन्तराय कर्म का उदय बताते हैं। इसीलिए कहा गया है कि जो परोपकार करने में शूरवीर होता है, वही धर्म के योग्य होता है।

चौतीसवाँ गुण।

अन्तरङ्गारिषड्वर्गपरिहारपरायणः। अंतरंग छः शत्रुओं का—काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष का—त्याग करना मार्गानुसारी का चौतीसवाँ गुण है। परस्त्री के, या कुंवारी लड़की के संबंध में विचार करने को काम कहते हैं। अपने आत्मा को या दूसरे के आत्मा को कष्ट देनेका विचार करना क्रोध है। दान देने योग्य स्थान में दान न देने को और दूसरे के धन को

अनीति पूर्वक ग्रहण करने को लोभ कहते हैं। व्यर्थ आग्रहकरने और दूसरे के यथार्थ वचन को ग्रहण न करनेका नाम मान है। कुल, बल, ऐश्वर्य, रूप और विद्यादि का अहंकार करने को मद कहते हैं। निष्प्रयोजन दूसरे को दुःख पहुँचा कर और जुआ आदि खेलकर, आनंद माननेका नाम हर्ष है। उक्त छः प्रकार के शत्रुओं का त्याग करनेवाला ही धर्म के योग्य होता है, उनको पोषण करनेवाला नहीं। इन अन्तरंग शत्रुओंने कइयों का नाश किया है, उनमें से यहाँ एक एकका एक एक उदाहरण दिया जाता है। काम से दांडक्यभोज का; क्रोध से जन्मेजय का; लोभ से अजबिन्दु का; मान से दुर्योधन का; मद से हैहयअर्जुन का और हर्ष से वातापि का नाश हुआ है।

पैंतीसवाँ गुण।

वशीकृतेन्द्रिय ग्रामः। अर्थात् अपनी इन्द्रियों को वश में करना मार्गानुसारी का पैंतीसवाँ गुण है।

शंका—जिसको धर्म की प्राप्ति नहीं हुई वह इन्द्रियों को कैसे वश में कर सकता है? और जो इन्द्रियाँ अपने वश में नहीं कर लेगा वह गृहस्थाश्रम कैसे चला सकेगा? उत्तर—वशीकृतेन्द्रियग्रामः का अर्थ यहाँ है इन्द्रियों की वासना तृप्ति को मर्यादित करना। इन्द्रिय वासना का सर्वथैव त्याग करना नहीं। सर्वथैव त्याग केवल मुनिजन ही कर सकते हैं। इस उत्तर से

दोनों बातों का समाधान हो जाता है। धर्मप्राप्ति के पहिले मनुष्य स्वभावसे ही मर्यादावृत्ति रखनेवाला होता है। धर्म प्राप्ति के बाद भी मर्यादापूर्वक ही विषयादि का सेवन करना बताया गया है। मनुस्मृति के तीसरे अध्याय में भी लिखा है कि:—

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा।
पर्वर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥ ४९ ॥

भावार्थ—ऋतुकाल बीतने पर स्त्रीके पास जानेवाला, सदा अपनी ही स्त्री में संतोष रखनेवाला और अमावस्या, एकादशी छोड़कर विषय की वांछा करनेवाला सद्गृहस्थ कहलाता है। इससे विपरीत चलनेवाला ब्रह्महत्या का पाप करनेवाला और निरंतर सूतकी समझा जाता है। संसार में मनुष्य को शूरवीर बनने की बहुत ज्यादह आवश्यकता है। मनुष्य जब व्यावहारिक कार्य भी शूरवीरता के बिना नहीं कर सकते हैं तब वे धर्म कार्य तो कर ही कैसे सकते हैं? मगर यहाँ शूरवीर का लक्षण बता देना आवश्यकीय है। नीतिकारों का कथन है कि—' शतेषु जायते शूरः ' यानी सौ मनुष्यों में शूरवीर एक ही होता है। मगर शूरवीर होता कौन है? इसका उत्तर वही नीतिकार देते हैं—' इन्द्रियाणां जये शूरः ' अर्थात् जो इन्द्रियों को जीतता है वही सच्चा शुर होता है। शूरवीरता दिखाकर मनुष्य जबतक, इन्द्रियों को वश में नहीं करता है; जबतक वह अपनी इन्द्रियों

को मर्यादित नहीं बनाता है, तबतक वह गृहस्थ धर्म के योग्य नहीं होता है। (जिनको यह विषय विशेष रूप से जानने की इच्छा हो, वे हमारी बनाई हुई 'इन्द्रिय पराजय दिग्दर्शन' नामा पुस्तक मँगवाकर पढ़ें।) इसलिये इन्द्रियों को वश में करने का गुण भी मनुष्य में अवश्यमेव होना चाहिए।

इसतरह धर्म के योग्य बनने की इच्छा रखनेवाले गृहस्थ चौथे प्रकरण में बताये हुए पैंतीस गुणों को प्राप्त करने का अवश्यमेव प्रयत्न करना चाहिए।



वीर सेवा मन्दिर

पुस्तकालय

काल नं० 28 विजय

लेखक जैनाचार्य श्री धर्मभूषण सूरि

शीर्षक धर्म देशना ।

खण्ड ______ क्रम संख्या 6105